

श्रीनन्दसिंहजीसहजगीतं

न्यायदर्शनम्

वाल्मीकिप्रणीत-भाष्य-
विद्वान्प्रणीत-वृत्तिसहितम् ।

१३३

जोत/न्या

श्रीमन्महर्षिगोतमप्रणीतं

न्यायदर्शनम्

(वात्स्यायनभाष्यसहितम्)

विश्वनाथकृत-वृत्तिसहितम्

श्रीमज्जीवानन्द-विद्यासागर-भट्टाचार्यात्मजाभ्यां
पण्डित-श्रीआशुबोध-विद्याभूषण-
पण्डित-श्रीनित्यबोध-विद्यारत्नाभ्यां
सम्पादितम्



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

दिल्ली ११०००७

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(प्राच्यभारती के प्रकाशक एवं वितरक)

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

सर्वाधिकार सुरक्षित

पुनर्मुद्रित संस्करण १९८६

मूल्य २५.००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२६, वाराणसी २२१००१

*

प्रधान-वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

घोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

It is a reproduction of the earlier edition of
"Jivanand Vidya Sagar", Calcutta.

NYĀYADARŚANA

(NYĀYA SŪTRAS OF GOTAMA)

Including

BHĀSYA OF VĀTSYĀYANA

With

The glossary of Vishwanath

Editors

Pt. Ashubodha Vidyabhushana

&

Pt. Nityabodha Vidyaratna



CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road

DELHI 110007

© CHAUKHAMBHA SANSKRIT PRATISHTHAN
(*Oriental Publishers & Distributors*)

38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road

DELHI 110007

Telephone : 236391

Reprint Edition

1986

This Publication has been brought out with the financial assistance from Ministry of Education & Culture, Govt. of India).

If any defect is found in this book, please return the copy by V.P.P. for the cost of postage to the publishers for free exchange.

Printed in India

Published by Navanita Dass Gupta for Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, 38 U.A., Jawahar Nagar, Bungalow Road, Delhi-110 007 and printed at Shriji Mudranalaya, K-37/117, Gopal Mandir Lane, Varanasi.

न्यायदर्शनस्य सूचीपत्रम् ।

१३३

गो १-५१

विषयः ।

पृष्ठाङ्कः । पङ्क्त्यङ्कः ।

| | | | |
|--|-----|----|----|
| मौल्यरूपशास्त्रप्रयोजनकथनं, पदाध्यानामुद्देश्यं, | ... | २ | १३ |
| तत्त्वज्ञानाधीनक्रमसृजितसूच्यम्, | ... | ६ | ६ |
| प्रमाणलक्षणं तद्विभागश्च, | ... | १२ | ५ |
| प्रत्यक्षलक्षणम्, | ... | १३ | ८ |
| अनुमानस्य लक्षणं विभागश्च, | ... | १५ | १७ |
| उपमानलक्षणम्, | ... | १७ | ७ |
| शब्दलक्षणम्, | ... | १८ | २ |
| शब्दविभागसूच्यम्, | ... | १८ | ८ |
| प्रमेयस्य लक्षणं विभागश्च, | ... | १९ | २ |
| आत्मनिरूपणम्, | ... | २० | ४ |
| शरीरनिरूपणम्, | ... | २१ | ११ |
| इन्द्रियविभागेन्द्रियलक्षणम्, | ... | २२ | ५ |
| भूतविभागसूच्यम्, | ... | २२ | २ |
| अर्थविभागांशलक्षणम्, | ... | २३ | ६ |
| बुद्धिलक्षणम्, | ... | २३ | ११ |
| मनोनिरूपणम्, | ... | २४ | ६ |
| प्रवृत्तिलक्षणं तद्विभागश्च, | ... | २४ | १५ |
| दोषलक्षणम्, | ... | २५ | ३ |
| प्रेक्षभावलक्षणम्, | ... | २५ | ११ |
| फललक्षणम्, | ... | २६ | ७ |
| दुःखलक्षणम्, | ... | २६ | १५ |
| अपवर्गलक्षणम्, | ... | २७ | ५ |
| संशयस्य लक्षणं विभागश्च, | ... | २७ | २ |
| प्रयोजनलक्षणम्, | ... | २९ | १७ |
| दृष्टान्तलक्षणम्, | ... | २९ | ३ |
| सिद्धान्तलक्षणम्, | ... | २९ | १२ |
| सिद्धान्तविभागः, | ... | २९ | ६ |
| सर्वतन्त्रसिद्धान्तलक्षणम्, | ... | २९ | १० |
| प्रतितन्त्रसिद्धान्तलक्षणम्, | ... | २९ | १ |
| अधिकरणसिद्धान्तलक्षणम्, | ... | २९ | ८ |
| अभ्युपगमसिद्धान्तलक्षणम्, | ... | २९ | ६ |
| अवयवविभागसूच्यम्, | ... | २९ | २ |
| प्रतिज्ञालक्षणम्, | ... | २७ | २ |
| हेतुलक्षणम्, | ... | २७ | ५ |
| व्यतिरेकिहेतुलक्षणम्, | ... | २७ | ११ |
| उदाहरणलक्षणम्, | ... | २८ | १ |

| | | | |
|-----------------------------|-----|----|----|
| अतिरेकुटाङ्गलक्षणम्, | ... | ३६ | १ |
| उपनयनलक्षणम्, | ... | ४० | १ |
| निगमनलक्षणम्, | ... | ४० | १२ |
| नर्कनि पञ्चम, | ... | ४२ | १५ |
| निचञ्चननिर्द्विपञ्चम्, | ... | ४४ | ७ |
| वाटलक्षणम्, | ... | ४६ | ३ |
| जललक्षणम्, | ... | ४८ | ४ |
| नितम्बलक्षणम्, | ... | ५० | १ |
| हेलाभासविभागः, | ... | ५० | ११ |
| सन्निधिवारलक्षणम्, | ... | ५१ | २ |
| विबुधलक्षणम्, | ... | ५२ | ३ |
| प्रवरचमलक्षणम्, | ... | ५२ | १५ |
| साधुलक्षणम्, | ... | ५३ | १४ |
| चतुर्तलालक्षणम्, | ... | ५४ | ६ |
| कुललक्षणम्, | ... | ५६ | २ |
| कुलविभागसूत्रम्, | ... | ५६ | ६ |
| यत्कुललक्षणम्, | ... | ५६ | ६ |
| सामान्यलक्षणनिर्द्विपञ्चम्, | ... | ५८ | १ |
| उपचारलक्षणम्, | ... | ५९ | १ |
| हृत्पुर्वपञ्चः, | ... | ६० | १ |
| नक्षत्राधानम्, | ... | ६० | ५ |
| समाधानान्तरम्, | ... | ६० | ६ |
| सातिलक्षणम्, | ... | ६१ | २ |
| निश्चयस्थानलक्षणम्, | ... | ६१ | ६ |
| कारिनिश्चयस्थानवृत्तम्, | ... | ६२ | ३ |
| अथ द्वितीयाध्यायः, | ... | ६३ | २ |
| मंग्यपुर्वपञ्चमूत्रम्, | ... | ६३ | ४ |
| संशयमित्रान्तरम्, | ... | ६५ | १२ |
| प्रमाणपुर्वपञ्चमूत्रम्, | ... | ६८ | १२ |
| नक्षत्राधानम्, | ... | ७१ | ११ |
| समाधानान्तरम्, | ... | ७२ | १७ |
| पुर्वपञ्चान्तरम्, | ... | ७५ | ६ |
| नक्षत्राधानम्, | ... | ७६ | २ |
| प्रत्यक्षलक्षणविशेषः, | ... | ७६ | २ |
| नक्षत्राधानम्, | ... | ७९ | ६ |
| साधुपान्तरम्, | ... | ८० | ४ |

| | | | |
|---------------------------|-----|-----|----|
| समाधानान्तरम्, | ... | ८७ | ८ |
| मनःमिहो युक्तिः, | ... | ८० | १२ |
| ग्रन्थसमिद्धीकृतम्, | ... | ८१ | १७ |
| संज्ञिकधीकृतम्, | ... | ८२ | १२ |
| तत्समाधानम्, | ... | ८३ | ६ |
| ग्रन्थसमिद्धीकृतम्, | ... | ८४ | ५ |
| तत्समाधानम्, | ... | ८५ | २ |
| अवयवपूर्वपक्षम्, | ... | ८६ | २१ |
| तत्समाधानम्, | ... | ८७ | ४ |
| अवयवमिहोक्तम्, | ... | ८८ | १४ |
| अनुमानपूर्वपक्षम्, | ... | ८९ | ३ |
| तत्समाधानम्, | ... | ९० | १० |
| वर्तमानाऽऽक्षेपः, | ... | ९१ | ११ |
| तत्समाधानम्, | ... | ९२ | १ |
| उपमानपूर्वपक्षम्, | ... | ९३ | १६ |
| तत्समाधानम्, | ... | ९४ | ३ |
| उपमानानुमानान्तर्भावमतम्, | ... | ९५ | १७ |
| तरङ्गान्तरम्, | ... | ९६ | १४ |
| शब्दपूर्वपक्षम्, | ... | ९७ | १ |
| तत्समाधानम्, | ... | १०० | २ |
| वेदप्रामाण्यऽऽक्षेपः, | ... | १०३ | ३ |
| तत्समाधानम्, | ... | १०४ | ३ |
| वेदवाक्यविभागः, | ... | १०६ | २ |
| विधिलक्षणम्, | ... | १०६ | ६ |
| अर्थवादविभागः, | ... | १०६ | १० |
| अनुवादलक्षणम्, | ... | १०७ | १३ |
| वेदप्रामाण्ये युक्तिः, | ... | १०८ | ७ |
| प्रमाणचतुष्टयऽऽक्षेपः, | ... | १११ | ७ |
| तत्समाधानम्, | ... | ११२ | ११ |
| शब्दानित्यतामाधनम्, | ... | ११७ | ८ |
| शब्दपरिणामसंशयः, | ... | १२१ | ११ |
| शब्दविकारनिराकरणम्, | ... | १२३ | २ |
| शब्दविकारव्यवहारः, | ... | १२४ | ६ |
| प्रदन्तिरूपम्, | ... | १२७ | २ |
| प्रदार्थसंशयः, | ... | १४१ | १० |
| केवलव्यक्तिशक्तिखण्डनम्, | ... | १४२ | १५ |

| | | | |
|--|-----|-----|----|
| कैवल्यऽऽतिशक्तिमत्तखण्डनम्, | ... | १४४ | ७ |
| कैवल्यजातिशक्तिखण्डनम्, | ... | १४५ | ८ |
| पटाशक्तिखण्डनम्, | ... | १४५ | १४ |
| व्यक्तिलक्षणम्, | ... | १४६ | ७ |
| आकृतिलक्षणम्, | ... | १४७ | १ |
| जातिलक्षणम्, | ... | १४७ | ८ |
| अथ तृतीयाध्यायः, | ... | १४८ | ३ |
| प्रमेयपरोक्षऽऽस्थाः, | ... | १४८ | १४ |
| तत्रापि इन्द्रियचैतन्यवाददूषणम्, | ... | १४९ | १० |
| शरीराऽऽत्मवाददूषणम्, | ... | १५१ | ४ |
| आचेपान्नम्, | ... | १५२ | १ |
| तत्त्वमाधानम्, | ... | १५२ | ७ |
| चक्षुरहेतुप्रकरणम्, | ... | १५४ | १ |
| तरलखण्डनम्, | ... | १५४ | ५ |
| मनस आत्मत्वशङ्का, | ... | १५७ | १८ |
| तरलखण्डनम्, | ... | १५८ | ३ |
| आत्मनित्यत्वप्रतिपादनम्, | ... | १५८ | १२ |
| शरीरस्यैकभौतिकत्वकथनम्, | ... | १६४ | १३ |
| धात्रिवत्त्वे युक्त्यन्तरकथनम्, | ... | १६६ | १ |
| इन्द्रियभौतिकत्वपरीक्षणम्, | ... | १६६ | १० |
| इन्द्रियनानात्वपरीक्षणम्, | ... | १७५ | १८ |
| अव्ययपरीक्षणम्, | ... | १८१ | १५ |
| बुद्धानित्यतासंशयः, | ... | १८८ | ४ |
| बुद्धिनित्यतावादिसाङ्ख्यमतम्, | ... | १८८ | १७ |
| तरलखण्डनम्, | ... | १८९ | ५ |
| साङ्ख्यमतान्तरदूषणम्, | ... | १९० | १३ |
| अयुगपद्बुद्धयव्युत्पादनादि, | ... | १९१ | २ |
| चक्षिकवादिसौगतशङ्काकथनम्, | ... | १९३ | ५ |
| सौगतशङ्कासमाधानम्, | ... | १९४ | १ |
| सौगतमतं साङ्ख्यदूषणम्, | ... | १९५ | १२ |
| तन्निराकरणम्, | ... | १९६ | २ |
| बुद्धेरानुगुणत्वप्रकरणम्, | ... | १९७ | १३ |
| बुद्धेरन्यत्रापवर्गित्वकथनम्, | ... | २१३ | १५ |
| बुद्धौ शरीरगुणत्वाभावस्य विशिष्टकथनम्, | ... | २१७ | १४ |
| मनःपरीक्षाप्रकरणम्, | ... | २२० | १० |
| शरीरस्य तत्त्वबुद्धिनिष्ठाव्युत्पादकत्वप्रकरणम्, | ... | २२२ | १६ |

| | | | |
|---------------------------|-----|-----|----|
| संख्योत्तरम्, | ... | ४०८ | ११ |
| प्रकरणसमविष्टपत्रम्, | ... | ४०९ | ६ |
| प्रकरणसमोत्तरम्, | ... | ४१० | ४ |
| अद्वैतसमप्रकरणम्, | ... | ४१० | १३ |
| अध्याप्रतिसमप्रकरणम्, | ... | ४१२ | १ |
| अविशेषसमप्रकरणम्, | ... | ४१३ | ३ |
| उपपत्तिसमप्रकरणम्, | ... | ४१४ | १२ |
| उपलब्धिसमप्रकरणम्, | ... | ४१५ | १० |
| अनूपलब्धिसमप्रकरणम्, | ... | ४१६ | १२ |
| अनित्यसमप्रकरणम्, | ... | ४१८ | १ |
| नित्यसमप्रकरणम्, | ... | ४२० | १३ |
| काव्यसमप्रकरणम्, | ... | ४२२ | ५ |
| कथाभासप्रकरणम्, | ... | ४२३ | १३ |
| नियद्वयानविभागः, | ... | ४२७ | ८ |
| प्रतिज्ञाहानिलक्षणम्, | ... | ४२८ | १ |
| प्रतिज्ञाऽन्तरलक्षणम्, | ... | ४२९ | १ |
| प्रतिज्ञाविरोधलक्षणम्, | ... | ४३० | १ |
| प्रतिज्ञासशामूलक्षणम्, | ... | ४३० | ८ |
| हेत्वन्तरलक्षणम्, | ... | ४३० | १३ |
| अध्यान्तरलक्षणम्, | ... | ४३२ | १ |
| निरर्थकलक्षणम्, | ... | ४३२ | ११ |
| अविज्ञातायलक्षणम्, | ... | ४३३ | १ |
| अपार्थक्यलक्षणम्, | ... | ४३३ | ७ |
| अप्राप्तकाललक्षणम्, | ... | ४३४ | ४ |
| अमूललक्षणम्, | ... | ४३४ | ८ |
| अधिकलक्षणम्, | ... | ४३५ | १ |
| पुनरुक्तलक्षणम्, | ... | ४३५ | ४ |
| अननुभावलक्षणम्, | ... | ४३६ | ४ |
| अज्ञानलक्षणम्, | ... | ४३६ | ९ |
| अप्रतिभालक्षणम्, | ... | ४३७ | ३ |
| विक्षेपलक्षणम्, | ... | ४३७ | ६ |
| अज्ञानुज्ञालक्षणम्, | ... | ४३८ | १ |
| पर्यनुयोज्यानुयोगलक्षणम्, | ... | ४३८ | ७ |
| निरनुयोज्यानुयोगलक्षणम्, | ... | ४३८ | १३ |
| अपसिद्धान्तलक्षणम्, | ... | ४३९ | ३ |
| हेत्वाभासत्वम्, | ... | ४४० | १० |

न्यायदर्शनम् !

न्यायदर्शनम् ।

अथ प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकभाष्यम् ।

प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादथवत् प्रमाणम् ।
प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः । नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्ति-
सामर्थ्यम् । प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति
जिह्वासति वा । तस्येसाजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्ति-
रित्युच्यते, सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः । समीहमान-
स्तमर्थमभीप्सन् जिह्वासन् वा तमर्थमाप्नोति जहाति वा ।
अर्थस्तु सुखं, सुखहेतुः, दुःखं, दुःखहेतुश्च । सोऽयं प्रमाणाधी-
ऽपरिसङ्गेयः प्राणवृद्धेदस्यापरिसङ्गेयत्वाद् । अर्थवति च
प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं प्रमितिरित्यर्थवान्ति भवन्ति । कस्मात् ?
—अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः । तत्र यस्येसाजिहासाप्रयुक्तस्य
प्रवृत्तिः, स प्रमाता । स येनार्थं प्रमिणोति, तत् प्रमाणम् ।

सपुष्पोलालस्त्रीजितमदनकोटिप्रंजवधू-

जगामामन्मन्दं कर्मपि कमनीयं विरचयन् ।

स कोऽपि प्रेमायं प्रथयतु मनोमन्दिरधरः

मिथोकीलोकाणां सजलजलदश्यामलतनुः ॥ १ ॥

संयुक्तां युक्तरूपामभिनवमिहिलाकृताऽऽरक्तभासा

सव्यापीयूषभागीरतिदक्षिरतरां चूषयन्तीमभिख्याम् ।

मानव्यामीकनक्षत्रिपुरहरिरोरस्वभूषाविशेषं

भूषी भव्यं विधातुं चरणनखदक्षं भावयामी भवान्याः ॥ २ ॥

योऽर्थः प्रतीयते, तत् प्रमेयम् । यदर्थविज्ञानं, सा प्रमितिः ।
 चतसृषु चैवंविधास्त्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते । किं पुनस्तत्त्वम् ?
 मतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः । सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूत-
 मविपरीतं तत्त्वं भवति, असत्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतम-
 विपरीतं तत्त्वं भवति । कथमुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिरिति ।
 मत्प्युपलभ्यमाने तदनुपलब्धेः प्रदीपवत्, यथा दर्शकेन
 दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते, तन्नास्ति । यद्य-
 भविष्यदिदमिव व्यञ्जास्यत, विज्ञानाभावान्नास्तीति । एवं
 प्रमाणेन सति गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते, तन्नास्ति । यद्य-
 भविष्यत् इदमिव व्यञ्जास्यत, विज्ञानाभावान्नास्तीति । तदेवं
 सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति । सच्च खलु
 षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते । तासां खल्वासां सद्विधानाम्—

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्ता-
 वयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-

यदीयतर्ककिरणैरान्तरभ्रान्तसन्ततिम् ।

सन्तस्तरन्ति भास्वन्तमचपादं नमामि तम् ॥ ३ ॥

अद्वैतं गुरुधर्मयोगिरिव लसत्स्त्रामण्डलीमण्डनं

रूपं किञ्चन पौरुषं गिर इव प्रागल्भ्यसम्पादकम् ।

दाने कर्णमिवावतीर्णमपरं दीने दयादक्षिणं

तातं विश्वविसारिचक्रयशसं विद्यानिवासं गुप्तः ॥ ४ ॥

अलसमतिरपीदं विस्मृतं न्यायशास्त्रं

विरहितबहुयुक्ती लीलयया वेत्तु विज्ञः ।

इति विनिहितचेताः कौशलं कर्तुंकामी

गुरुचरणरजोऽहं कर्णधारौकरोमि ॥ ५ ॥

विद्यानिवाससूनुः कृतिरिषा विश्वनाथस्य

विदुषामतिमूल्याधियाममन्त्राणां मुदं भविता ॥ ६ ॥

क्षल-जाति-निरुद्धस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेय-
साधिगमः ॥ १ ॥

—निर्देशे यथावचनं विशुद्धः । चार्थं द्वन्द्वः समासः । प्रमा-
णादीनां तत्त्वमिति श्रेषिकी षष्ठी । तत्त्वस्य ज्ञानं निःश्रेयस-
स्याधिगम इति कर्मणि षष्ठ्यौ । गमकतया समासः । एता-
वन्तो विद्यमानार्थाः । एषामविपरीतज्ञानार्थमिहोपदेशः ।
सोऽयमनवयवेन तन्त्रार्थं उद्दिष्टो वेदितव्यः । आत्मादेः खलु
प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । तच्चैतदुत्तरसूत्रेणानूद्यत
इति । हेयं, तस्य निर्वर्तकं, हानमात्यन्तिकं, तस्योपायोऽधि-
गन्तव्यः, इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग्बुद्ध्वा निःश्रेयसमधि-
गच्छति । तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम्; संशयादयो
यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्त इति ।
सत्यमेतत्, इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृता-
मनुग्रहायोपदिश्यन्ते, यासां चतुर्थीयमान्विचिकी न्यायविद्या ।

प्रयोजनमनभिसम्बाध प्रेषावन्तो न प्रवर्तन्ते, अतः प्रथमं प्रयोजनमभिधानीयम्;
तथा चाहुः,—

“सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।

शास्त्रादी तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥”

सिद्धी ज्ञातोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथा, एवं सिद्धसम्बन्धमित्यपि, अतस्तत्प्रति-
पादनाय भगवानक्षपादः प्रथमं सूचयति । अत्र तत्त्वज्ञाननिःश्रेयसयोः शास्त्रतत्त्व-
ज्ञानयोश्च हेतुहेतुमद्भावः, प्रमाणादितत्त्वज्ञानयोर्विषयविषयिभावः, प्रमाणादिशास्त्रयोः
प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः, शास्त्रनिःश्रेयसयोश्च प्रयोज्यप्रयोजकभावः सम्बन्धः । तत्त्वं
ज्ञाद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या तत्त्वज्ञानं शास्त्रम्; तथा च ‘शास्त्रनिःश्रेयसयोरपि तत्त्वज्ञान-
धारकहेतुहेतुमद्भाव एव सम्बन्धः’ इति केचित् सम्प्रदायविदः । अत्र च सर्वपदार्थ-
प्रधानो द्वन्द्वः समासः, यद्यपि भेदे द्वन्द्वविधानादत्र च बहूनां पदार्थानामभेदात्
द्वन्द्वसम्भवः, तथाऽपि पदार्थताऽवच्छेदकभेदादेव द्वन्द्व इति न दीप इत्यन्यत्र विस्तरः ।

तस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः । तेषां पृथग्वचन-
मन्तरिणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात्, यथोपनिषदः । तस्मात्
संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते । तत्र नानुपलब्धे न
निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तिर्हि ? संशयितेऽर्थे । यथोक्तं,—
“विमृश्य पक्षप्रतिपक्षौ न्यायमर्थविधारणं निर्णयः” इति । विमर्शः
संशयः । पक्षप्रतिपक्षौ न्यायप्रवृत्तिः । अर्थविधारणं निर्णयः
तत्त्वज्ञानमिति । स चायं किंस्विदिति वस्तुविमर्शमात्रमनव-
धारणं ज्ञानं संशयः प्रमेयेऽन्तर्भवन्नेवमर्थं पृथगुच्यते । अथ
प्रयोजनम् ।—येन प्रयुक्तः प्रवर्तते, तत् प्रयोजनम् । यमर्थमभौ-
षन् जिहासन् वा कर्माऽऽरभते, तेनानेन सर्व्वं प्राणिनः सर्वाणि
कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः, तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते । कः
पुनरयं न्यायः ?—प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः । प्रत्यक्षाऽऽगमाश्चि-
तमनुमानं, साऽन्वीक्षा, प्रत्यक्षाऽऽगमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणम-
न्वीक्षा, तथा प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ।

तत्र च “निर्देशे यथा वचनं तथा विग्रहः” इति यथाश्रुतभाष्यानुसारिणः प्रमाणाणि
च प्रमेयश्च संशयश्च प्रयोजनश्च दृष्टान्तश्च सिद्धान्तश्च अवयवाश्च तर्कश्च निर्णयश्च
वादश्च जल्पश्च वितर्काश्च हेत्वाभासाश्च कुलश्च जातयश्च नियमस्थानानि चेति
विग्रहं वर्णयन्ति । सम्प्रदायविदस्तु भाष्यस्त्वचनपदेन कश्चित्कीदं कश्चिदार्थं वचनं
गृह्यते, तत्र प्रमाणी प्रमेयी च सौचं वचनं गृह्यते सप्रयोजनत्वात्, तत्र वक्ष्यते । न
तु दृष्टान्तादावेकवचनं सप्रयोजनम् । तथा च दृष्टान्ते द्विवचनम्, अन्यद्व्यतिरेकि
भेदेन दृष्टान्तद्विविध्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । संशये सिद्धान्ते कुले च बहुवचनम्; संशय-
कुले च त्रैविध्यस्य, सिद्धान्ते चार्तु-^{त्रै}विध्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्, अन्यथा जातिनियमस्थान-
योर्वहुवचनं तत्रापि व्याह्रियेत, एकवचनंस्तेव त्रिवचनमूत्रे सत्त्वादिति वदन्ति । नव्यास्तु
सर्व्वत्र प्रथमीपस्थितैकवचनेनैव विग्रहः, न ह्यत्र बहुवचनेनैव प्रमाणादीनां बहु-
परिच्छिद्यते, तथा सति किं नामाग्निसविभागेन ? न ह्येकद्विव धव खदिरादौ धवश्च
खदिरश्च पलाशश्चेति न विगृह्यते, अत एव. प्रयोजनस्यैकवचनान्त्येऽपि तद्विभागा-
कारणेऽपि सुखदुःखाभावतत्त्वाधनभेदेन तस्य बहुत्वं न विरुध्यत इति प्राहुः । अत्र

यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षाऽऽगमविरुद्धं, न्यायाऽऽभासः स इति । तत्र वादजलौ सप्रयोजनौ । वितण्डा तु परोक्ष्यते । वितण्डया प्रवर्त्तमानो वैतण्डिकः । स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते, सोऽस्य पक्षः, सोऽस्य सिद्धान्तः, इति वैतण्डिकत्वं जहाति । अथ न प्रतिपद्यते, नायं लौकिको न परोक्षक इत्यापद्यते । अथापि परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनं ब्रवीति, एतदपि तादृगिव, यो ज्ञापयति यो जानाति यच्च ज्ञाप्यते यच्च प्रतिपद्यते यदि, तदा वैतण्डिकत्वं जहाति । अथ न प्रतिपद्यते परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनमित्येतदस्य वाक्यमनर्थकं भवति । “वाक्य-समूहश्च स्थापनाहीनो वितण्डा” । तस्य यद्यभिधेयं प्रतिपद्यते, सोऽस्य पक्षः स्थापनीयो भवति । अथ न प्रतिपद्यते, प्रज्ञापसात्रमनर्थकं भवति, वितण्डात्वं निवर्त्तत इति । अथ दृष्टान्तः प्रत्यक्षविषयोऽर्थः, यत्र लौकिकपरोक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते । स च प्रमेयं, तस्य पृथग्वचनञ्च, तदाश्रयावनुमानाऽऽगमौ । तस्मिन् सति स्यातामनुमानागमावसति च न स्याताम् । तदाश्रया च न्यायप्रवृत्तिः । दृष्टान्तविरोधेन

च निःशेषे सिद्धे पटादिवत् तत्प्राप्तये न प्रयत्नान्तरमपेक्षितमिति प्रतिपादनायाचि-
गमपदम् । ननु प्रमाणादयः पदार्था इति शब्दात् प्रथमसूत्रादेव वा तत्त्वज्ञानं स्यात् ?
इति चेन्न, तेषां विशिष्य ज्ञानं हि तत्त्वज्ञानम् ; तद्धीदृशलक्षणपरीक्षाप्रकाशका-
च्छान्तादेव, शास्त्रं हि विशिष्टाऽऽमुपल्लिङ्गिका पञ्चाध्यायी, अध्यायस्वाह्निकसमूहः,
आह्निकन्तु तादृशप्रकरणसमूहः, प्रकरणन्तु तादृशसूत्रसमूहः, सूत्रन्तु तादृशवाक्य-
समूहः, वाक्यन्तु तादृशपदसमूह इति वदन्ति । अत्र समूहशब्देनानेकत्वं विवक्षितम् ;
नेनाध्यायादिराह्निकादिद्वयात्मकत्वेऽपि न चतिः । अत्र च यद्यपि मीक्षजनकज्ञान-
विषयत्वेन प्रमेयमेवादौ निरूपयितुमर्हं, तथाऽपि प्रमाणस्य सकलपदार्थव्यवस्थापक-
त्वेन प्राधान्यात् प्रथमसूत्रेण । ततोऽवसरतो बुभुक्षितप्रमेयस्य, ततश्च पदार्थव्यवस्था-
पनस्य न्यायाधीनतया न्याये निरूपणीयेऽभ्यर्हितयोर्न्यायपूर्वाङ्गयोः संशयप्रयोजनयोः,
तवाप्यभ्यर्हिततया संशयस्य प्रथमम् । न च निर्णीतेऽपि सन्ननिवधानाच्च संशयस्य

च परपक्षप्रतिषेधो वचनीयो भवति । दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षः साधनीयो भवति । नास्तिकश्च दृष्टान्तसम्युपगच्छ-
नास्तिकत्वं जहाति । अनभ्युपगच्छन् किंसाधनः परमुपालभे-
तेति निरुक्तेन दृष्टान्तेन शक्यमभिधातुम् । “साध्यसाध्यात्
तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणं,” “तद्विपरीताद्विपरीतम्” इति ।
अस्त्ययमित्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः । स च प्रमेयं, तस्य
पृथग्वचनं, सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते
नातोऽन्यथेति । साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः
परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः । समूहमपेक्ष्या-
वयवा उच्यन्ते । तेषु प्रमाणसमवाय आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनु-
मानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपनयनमुपमानं, सर्व्वेषामेकार्थ-
समवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति । सोऽयं परमो न्याय
इति । एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति, तदा-
श्रया च तत्त्वव्यवस्था । ते चैतेऽवयवाः शब्दविशेषाः सन्तः

न्यायाङ्गत्वम् इति वाच्यम्, आह्वयैरंशयोपगमात् । यदपि प्रयोजनं न न्यायाङ्गम्,
अपि तु तत्त्वज्ञानं, तदाऽपि तदेव निरूपणीयं, न तु ज्ञाननिरूपणार्थेति । ५२. तदा-
द्यने दृष्टान्तस्य मूलत्वादन्तरं दृष्टान्तस्य, दृष्टान्तमूलको न्यायः सिद्धान्तविषय इत्यतो-
ऽन्तरं सिद्धान्तस्य, ततश्चादरुतः सिद्धान्ताधीनस्य पञ्चावयवव्यवस्था १६स्य,
ततश्चैककार्यकारितया न्यायसहकारिणरूपकस्य, ततश्च तत्त्वकल्पतया निरूप्यस्य, ततश्च
निरूप्यानुकूलत्वाद्वाक्यस्य, कल्पस्यापि वादकार्यकारित्वादन्तरं वक्ष्यस्य, ततश्च विषय-
रूपैककार्यानुकूलतया वितण्डायाः, कथानयस्यापि दूषणसापेक्षतयाऽन्तरं दूषणेषु
निरूपणीयेषु वादे देशनीयत्वरूपोत्कर्षवत्त्वात् हेतुवदाभासमानत्वाच्चादौ हेत्वाभासानां,
ततश्च हेत्वाभासोपजीवनेन छलस्य, सूत्र्याघातकत्वेन कल्पनासदुक्तत्वात्ततो जातेः,
कथाऽवसानत्वेन अनन्तरं निग्रहस्थानानामिति । अथ च प्रमेयान्तःपातिबुद्धिरूपस्यापि
रंशशब्दः निरूपणीयानुयोगरूपनिरग्रहस्थानान्तःपातिन्त्येवजातीय इकारवेदनं
प्रतिपादनं शिष्यबुद्धिदेश्याशंसम् । निग्रहस्थानान्तःपातिनां हेत्वाभासानां पृथगभि-
धानिर्गोचरं जानाति भगवानक्षपाद एव । भाषे तु, — “वादे देशनीयतया हेत्वा-

प्रमेयेऽन्तर्भूता एवमर्थं पृथगुच्यन्ते इति । तर्को न प्रमाण-
सङ्गृहीतः, न प्रमाणान्तरं, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय
कल्प्यते । तस्योदाहरणम् । किमिदं जन्म कृतकेन हेतुना
निर्वर्त्यते ? आहोस्विदकृतकेन ? अथाऽऽकस्मिकमिति ।
एवमविज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्त्या ऊहः प्रवर्तते, यदि कृतकेन
हेतुना निर्वर्त्यते, हेतूच्छेदादुपपन्नोऽयं जन्मोच्छेदः । अथा-
कृतकेन हेतुना, ततो हेतूच्छेदस्याशक्यत्वादनुपपन्नोऽयं
जन्मोच्छेदः । अथाऽऽकस्मिकम्, अतोऽकस्मान्निर्यमानं न
पुनर्निर्वर्त्यतीति निवृत्तिकारणं नोपपद्यते, तेन जन्मानुच्छेद
इति । एतस्मिंस्तर्कविषये कर्मनिमित्तं जन्मेति प्रमाणानि
वर्तमानानि तर्केणानुगृह्यन्ते, तत्त्वज्ञानविषयस्य विभागात्
तत्त्वज्ञानाय कल्प्यते तर्क इति । सोऽयमिदं भूतस्तकः
प्रमाणसहितो वादे साधनायोपालम्भाय वाऽर्थस्य भवतीत्येव-
मर्थं पृथगुच्यते प्रमेयान्तर्भूतोऽपीति । निर्णयस्तत्त्वज्ञान
प्रमाणानां फलम् । तदवसानो वादः । तस्य पालनाय

भासानां पृथगुपस्थासः” इत्युक्तम् । अत्र वार्तिकं,—‘यदि वादे देशनीयत्वात् पृथगभि-
धानं, तदा न्यूनाधिकापसिद्धान्तानां वादे देशनीयत्वात् पृथगभिधानं स्यात्, यदि
पृथगभिधानावादे देशनीयत्वं, तदा संशयादीनामपि वादे देशनीयत्वं स्यात् ; तस्मा-
दान्वीचिकीवथीवार्तादृश्यनीतिरूपविद्याप्रस्थानभेदज्ञापनार्थं संशयादेर्हेत्वाभासस्य च
पृथग्वचनम्” इति । तदप्यसत् ; निग्रहस्थानान्तर्गतत्वेनैव तद्विरूपणेन प्रस्थानभेद-
सम्भवात् । वयन्तु हेत्वाभासानां न निग्रहस्थानत्वं, तथा सति सर्वत्र हेत्वाभाससत्त्वात्
सर्वत्रैव निगृहीतत्वाऽऽपत्तेः । तस्मात् हेत्वाभासप्रयोगो निग्रहस्थानं, तद्विभाजक-
सूतस्थहेत्वाभासपदश्च तत्रययोगपरम् । तत्र च प्रयोगस्य न लक्षणमपेक्षणीयम्, अपि
तु हेत्वाभासानाम्, इत्यत्र उक्तं “हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः” इति चरमसूत्रम् । न च
हेत्वाभासस्यावच्छेदकप्रवेशादेव न पृथङ्ङिरूपणापेक्षेति वाच्यम् ; तथा सति प्रमाण-
तर्कसाधनोपालम्भ इति वादाद्यवच्छेदकप्रमाणादरेपि पृथङ्ङिरूपणानापत्तेरिति युक्त-
मुत्पत्त्यन। अत्र केचित् सूत्रादौ मङ्गलाकरणेन “मङ्गलं न प्रामाण्यकम्” इत्यत्र सूत्रज्ञतां

जल्पवितण्डे । तावेतौ तर्कनिर्णयो लोकयात्रां वहत इति ।
 सोऽयं निर्णयः प्रमेयान्तर्भूत एवमर्थं पृथगुद्दिष्ट इति । वादः खलु
 नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनाऽन्यतराधिकरणनिर्णयाव-
 सानो वाक्यसमूहः, पृथगुद्दिष्ट उपलक्षणार्थम् । उपलक्षितेन
 व्यवहारस्तत्त्वज्ञानाय भवतीति । तद्विशेषौ जल्पवितण्डे
 तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थमित्युक्तम् । निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुद्दिष्टा
 हेत्वाभासा वादे चोदनीया भविष्यन्तीति । जल्प-
 वितण्डयोस्तु निग्रहस्थानानीति । कुलजातिनिग्रहस्थानानां
 पृथगुपदेश उपलक्षणार्थ इति । उपलक्षितानां स्ववाक्ये
 परिवर्जनम् । कुलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्यनुयोगः ।
 जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः, स्वयञ्च सुकरः
 प्रयोग इति । सेयमान्वीचिकी प्रमाणादिभिः पदार्थै-
 र्विभज्यमाना—

“प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।

आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता ॥”

तात्पर्यं वर्णयन्ति । तदमृतं ; कृतस्याप्यनिवन्धनसम्भवात्, विघ्नाभावनिर्णयेनाकरण-
 सम्भवाच्च । वयन्तु “प्रमाणं प्राणनित्यः” इति भगवन्नामगणान्तःपातिप्रमाणशब्द-
 स्थोच्चारणमेव सङ्गच्छन्ति ब्रूमः । अतः च लक्ष्यलक्षणपरीक्षायां पूर्वपूर्वसापेक्षतया
 प्रथममुद्देशः, अनन्तरं लक्षणम् ; प्रसङ्गाच्छलपरीक्षेति सोद्देश्यपदार्थलक्षणच्छलपरीक्षा
 प्रथमाध्यायार्थः, ततः च सपरिकरन्यायलक्षणं प्रथमाऽऽङ्गिकार्थः, ततः च प्रयोजनविभ-
 ज्यप्रतिपादकं प्रथमद्वितीयसूत्राभ्यामेकं प्रकरणम् ; ततः प्रमाणलक्षणप्रकरणम् ; ततः
 प्रमेयलक्षणप्रकरणम् ; ततो न्यायपूर्वाङ्गप्रकरणम् ; ततो न्यायसिद्धान्तप्रकरणम् ; ततो
 न्यायस्वरूपप्रकरणम् ; ततो न्यायीत्तराङ्गप्रकरणमिति प्रथमाऽऽङ्गिके सप्त प्रकरणाणि ।
 अत्राद्येन पश्चादौचा अचौचा, उन्नयनन्तनिर्वाहिका, सेयमान्वीचिकी न्यायतर्कादि-
 शब्दैरपि व्यवह्रियते । तथा च “न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि” इति श्रुतिः,
 “पुराणन्यायमीमांसाः” इत्यादि श्रुतिः । “मीमांसा न्यायतर्कश्च उपाङ्गः परिकीर्त्तितः”
 इति पुराणम् । “नैविद्येभ्यस्त्वर्थी विद्यां दृष्ट्वनौतिञ्च शाश्वतीम् । आन्वीचिकीचात्मविद्यां

तदिदं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमार्थं यथाविद्यं वेदितव्यम् ।
इह त्वध्यात्मविद्यायामात्मादितत्त्वज्ञानं, निःश्रेयसाधिगमोऽप-
वर्गप्राप्तिः ॥ १ ॥

तत् खलु निःश्रेयसं किं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति ? नेत्य-
च्यते, किं तर्हि ? तत्त्वज्ञानात्—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरो-
त्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्ते प्रमेये मिथ्याज्ञानम् अनेकप्रकारकं
वर्तते । आत्मनि तावन्नास्तीति । अनात्मन्यात्मेति । दुःखे
सुखमिति । अनित्ये नित्यमिति । अत्राणे त्राणमिति । सभये
निर्भयमिति । जुगुप्सितेऽभिमतमिति । हातव्येऽप्रतिहातव्य-
मिति । प्रवृत्तौ नास्ति कर्म, नास्ति कर्मफलमिति । दोषेषु
नायं दोषनिमित्तः संसार इति । प्रेत्यभावे नास्ति जन्तुर्जीवो
वा सत्त्व आत्मा वा यः प्रेयात् प्रेत्य च भवेदिति । अनिमित्तं
जन्म, अनिमित्तो जन्मोपरम इत्यादिमान् प्रेत्यभावोऽनन्तश्चेति ।
नैमित्तिकः सन् न कर्मनिमित्तः प्रेत्यभाव इति । देहेन्द्रियबुद्धि-
वेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां निरात्मकः प्रेत्यभाव इति

वाचाऽऽरम्भांश्च लोकेतः ॥” इति मनुः । तथा “यस्य केषां नु सन्त्यसे स धर्मो वेद नेतरः”
इत्यादि मोक्षधर्मः । “तत्रोपनिषदं तात ! परिशेषं नु पार्थिव ? । मधुनि मनसा
तात ! दृष्ट्वा चान्नीचिको पराम् ॥” इत्युपनिषदं चान्नीचिकनुसारी एव यः, सः
राक्ष इत्युक्तमिति ॥ १ ॥

ननु तत्त्वज्ञानस्य न साक्षादेव निःश्रेयसहेतुत्वम् ; तत्त्वज्ञानिनामप्यनवस्थितिदर्शनान्
अतः क्रमाकाङ्क्षायामाह, दुःखिति । अत्र वार्तिकं,—“निःश्रेयसं तावद्विविधं, परापर-
भेदान् । तत्रापरं, जीवन्मुक्तिविवर्णं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव, तदप्यवधारिताऽऽत्मतत्त्व-
नैरन्तर्याम्यासापन्नमिथ्याज्ञानस्य प्रारब्धं कर्मापभुञ्जानस्य । परन्तु क्रमेण, तत्र क्रम-
प्रदिपादनायेदं सूत्रम्” इति । दुःखादीनां मध्ये यत्तु उत्तरोत्तरं, तेषामपाये तदनन्तरस्य

अपवर्गो भीष्मः । स खल्वयं सर्वकार्योपरमः । सर्व-
विप्रयोगोऽपवर्गे बहु च भद्रकं लुप्यत इति । कथं बुद्धिमान्
सर्वसुखोच्छेदमचैतन्यममुपवर्गं रोचयेदिति । एतस्मान्मिथ्या-
ज्ञानादनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु द्वेषः । रागद्वेषाधिकाराच्चा-
स्यैर्थाभायालोभादयो दोषा भवन्ति । दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण
प्रवर्त्तमानः हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति । वाचाऽनृ-
ताहितपरुषसूचनासम्बद्धानि । मनसा परद्रोहं परद्रव्या-
भीष्मां नास्तिक्यञ्चेति । सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय ।
अथ शुभैः प्रयुक्तः शरीरेण दानं परित्वाणं परिचरणञ्च । वाचा
सत्यं हितं प्रियं स्याध्यायञ्च । मनसा दयामसृहं श्रद्धाञ्च
आचरति । सेयं धर्माय । अत्र प्रवृत्तिसाधनी धर्माधर्मा
प्रवृत्तिशब्देनोक्ता । यथाऽन्नसाधनाः प्राणाः, “अन्नं वै प्राणिनः
प्राणाः” इति । सेयं कुलितस्याभिपूजितस्य च जन्मनः कार-
णम् । जन्म पुनः शरीरेन्द्रियबुद्धीनां निकायविशिष्टः प्रादु-
र्भावः । तस्मिन् सति दुःखम् । तत्पुनः प्रतिकूलवेदनीयं
बाधना पीडा ताप इति । त इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता
धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्त्तमानाः संसार इति । यदा तु तत्त्व-
ज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति, तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अप-
यन्ति । दोषापाये प्रवृत्तिरपैति । प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति ।

तत्त्वज्ञहितस्य पूर्वपूर्वस्यापायादपवर्गः, प्रयोजकत्वं प्रयोज्यत्वं वा पञ्चमर्थः, दण्डा-
भावाद्दृष्टाभाव इतिवत्, स्वरूपसम्बन्धविशेष एव तत्; तदयमर्थः,—तत्त्वज्ञानेन विरो-
धितस्याऽपहृते मिथ्याज्ञाने, कारणाभावाच्च निवृत्ते रागद्वेषाऽऽत्मके दोषे, तदभावाच्च
प्रवृत्तेर्धर्माधर्माऽऽत्मिकाया अनुत्पत्तौ, तदभावाच्च जन्मनो विशिष्टशरीरसम्बन्धस्याभावे
दुःखाभावादपवर्गः । यद्यपि ज्ञानिनीऽपि रागादयस्तिष्ठन्ति, तथाऽप्युत्कटरागाद्यभावे
तात्पर्यम् । यद्यपि दोषाणां न धर्मादिजनकत्वं, व्यभिचारात्, तथाऽपि तत्तद्दोषाणां
तत्तद्द्वर्मादिहेतुत्वाद्दोषापाये धर्माद्यपायः । वस्तुतो विनाऽपीच्छां गङ्गाजलसंयोगादितो

जन्मापाये दुःखमपैति । दुःखापाये चाऽऽत्यन्तकोऽपवर्गो
निःश्रेयसमिति । तत्त्वज्ञानन्तु खलु मिथ्याज्ञानविपर्ययेण
व्याख्यातम् । आत्मनि तावदस्तीति । अनात्मन्यनात्मेति । एवं
दुःखेऽनित्येऽत्राणे सभये जुगुप्सिते हातव्ये च यथाविषयं वेदि-
तव्यम् । प्रवृत्तौ अस्ति कर्म, अस्ति कर्मफलमिति । दोषेषु दोष-
निमित्तोऽयं संसार इति । प्रेत्यभावे खल्वस्ति जन्तुर्जीवः
सत्त्वं आत्मा वा यः प्रेत्य भवेदिति । निमित्तवज्जन्म, निमित्त-
वान् जन्तोपरमः, इत्यनादिः प्रेत्यभावीऽपवर्गान्त इति । नैमि-
त्तिकः सन् प्रेत्यभावः प्रवृत्तिनिमित्त इति । सात्मकः सन् देहे-
न्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां प्रवर्तत इति ।
अपवर्गः शान्तः । स खल्वयं सर्वविप्रयोगः सर्वोपरमोऽप-
वर्गः । बहु च कृच्छं घोरं पापकं लुप्यत इति । कथं बुद्धि-
मान् सर्वदुःखोच्छेदं सर्वदुःखासंविदमपवर्गं न रोचयेदिति ।
तद्यथा मधुविषसम्पृक्तान्नमनादेयमिति, एवं सुखं दुःखानु-
षक्तमनादेयमिति ॥ २ ॥

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः ; उद्देशो लक्षणं परीक्षा
चेति । तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः । तत्रो-
द्दिष्टस्यातत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथा
लक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा । तत्रो-

धर्मादिसम्भवाद्यभिचारः । तस्मात् मिथ्याज्ञानजवासनैवात्र दीर्घः, तस्याश्च मिथ्या-
ज्ञाननाशात् तत्कालीनतत्त्वज्ञानजवासनातो वा नाश इत्याशय इत्यपि वदन्ति ।
यद्यपि दुःखापायान्नापवर्गः, किन्तु स एव सः, तथाऽप्यभेद एव तत्र पक्षस्त्यर्थः, अप-
वर्गपदं वा तद्व्यवहारपरम्, अनन्तरपदेन जन्मान्तरमेव परामृश्यत इति तु न
व्याख्यानम् ; दुःखपदवैयर्थ्याऽऽपत्तेः । दुःखानुत्पत्तेश्चरमदुःखसंप्रयोजकत्वं कल्प्यत
इत्याशयेनेदमित्यपि कश्चित् ॥ २ ॥

इति सूत्रवृत्तौ सप्रयोजनाभिधेयप्रकरणम्

द्विष्टस्य प्रविभक्तस्य लक्षणमुच्यते, यथा प्रमाणानां प्रमेयस्य च ।
उद्विष्टस्य लक्षितस्य च विभागवचनं, यथा कलस्य । “वचन-
विधातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या कलं तत् त्रिविधम्” इति । अथो-
द्विष्टस्य विभागवचनम्—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

अक्षय्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् । वृत्तिस्तु सन्नि-
कर्षः, ज्ञानं वा । यदा सन्निकर्षः, तदा ज्ञानं प्रमितिः । यदा
ज्ञानं, तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्ध्यः फलम् । अनुमानम् ।—
मितेन लिङ्गेन अर्थस्य पश्चाद्व्याप्त्यनुमानम् । उपमानं—सारूप्य-
ज्ञानम्; यथा गौः, एवं गवय इति । सारूप्यन्तु सामान्ययोगः ।
शब्दः,—शब्दार्थेनेन अर्थः इत्यभिधीयते ज्ञाप्यते । उपलब्धि-
साधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद्धोद्व्यम् ।
प्रमोयतेनेनेति करणार्थाभिधाना हि प्रमाणशब्दः, तद्विशेष-
समाख्याया अपि तथैव व्याख्यानम् । किं पुनः प्रमाणानि
प्रमेयमभिसंप्रवन्ते, अथ प्रमेयं व्यर्थातष्ठन्ते ? इत्युभयथा दर्श-
नम् । अस्मात्स्वात्मोपदेशात् प्रतीयते, तत्रानुमानांमच्छा-
द्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति । प्रत्यक्षं युज्जा-
नस्य योगसमाधजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष
इति । अग्निराप्तोपदेशात् प्रतीयते, अत्राग्निरिति । प्रत्या-
सीदता धूमदर्शनेनानुमोयते । प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उप-
लभ्यते । व्यवस्था पुनः, “अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः” (मै० उ०
६।३६) इति । लौकिकस्य स्वर्गं न लिङ्गदर्शनं न प्रत्यक्षम् ।
स्तनयिन्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरनुमानम् । तत्र न प्रत्यक्षं

अथ वक्ष्ये शं खचक्ष्मापेक्षितत्वात् प्रथमोद्विष्टप्रमाणं लक्षयति विभजते च ।
प्रम तद्वति तत्रकारकत्वरूप (प्रकर्षविशिष्टज्ञानं) प्रशब्दविशिष्टेन साधानुना

नाऽऽगमः । पाणौ प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने नानुमानं, नाऽऽगम इति । सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा । जिज्ञासितमर्थमाप्तोप-
देशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुक्षते । लिङ्गदर्शनानु-
मितञ्च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते । प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा
निवर्तते । पूर्वोक्तमुदाहरणम् अग्निरिति । प्रमातुः प्रमातव्येऽथ
प्रमाणानां सङ्करोऽभिसंभवः । असङ्करो व्यवस्थेति ॥ ३ ॥

अथ विभक्तानां लक्षणवचनमिति—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्य-
भिचारि व्यवसायाऽऽत्मकं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यत् ज्ञानं, तत् प्रत्यक्षम् ।
न तर्हि इदानीमिदं भवति, आत्मा मनसा संयुज्यते, मन
इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति । नेदं कारणावधारणमेतावत् प्रत्यक्षे
कारणमिति, किन्तु विशिष्टकारणवचनमिति । यत्प्रत्यक्ष-
ज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते । यत्तु समानमनुमानादि-
ज्ञानस्य न तन्निवर्तत इति । मनसस्तर्हि इन्द्रियेण संयोगो
वक्तव्यः । भिद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य नायं भिद्यत इति
समानत्वान्नोक्तं इति । यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययः,

प्रत्याप्यते, तत्करणत्वं प्रमाणत्वम् ; ज्ञानं ज्ञातृज्ञानयो विवक्षितः, तेन श्रुतिकरणे नाति-
व्याप्तिः, खचितानां प्रमाणाणां विभागः, प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः इति विभागस्तु
उद्देश एवानुभूतत्वादर्थं विशेषोद्देशः । प्रत्येकलक्षणमु वक्ष्यते ॥ ५ ॥

इति तिस्रोऽह्नयः समाप्ता ।

अथ विभक्तानि यथाक्रमं लक्षयितुमारभते ।—अथ प्रतिगतमर्थं प्रत्यक्षमिति
योगादिन्द्रियवाचकत्वात् प्रत्यक्षशब्दस्य, प्रस्तुतत्वाच्च करणलक्षणस्य, प्रमितिलक्षणं
यद्यप्यनुचितं, तथाऽपि यत इत्यध्याहारेण, प्रत्यक्षप्रमाकारणलक्षणे वाच्ये तदेकदेश-
प्रमास्वरूपे ज्ञाते तत्करणत्वं सुज्ञेयमित्याशयेन वा सङ्कतमीयम् । आत्मनःसंयोग-
जन्यसुखादिवारणाय ज्ञानमिति । यद्यपि तत्त्वव्यत्यात् ज्ञानमात्रेऽतिव्याप्तिः, ईश्वर-

अर्थसम्बन्धयाश्च व्यवहारः । तच्चेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्न-
मर्थज्ञानं रूपमिति वा रस इत्येवं वा भवति । रूपरसशब्दाश्च
विषयनामधेयम् । तेन व्यपदिश्यते ज्ञानं रूपमिति जानीते,
रस इति जानीते, नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शब्दं
प्रसज्यते, अत आह—अव्यपदेश्यमिति । यदिदमनुपयुक्ते
शब्दार्थसम्बन्धेऽर्थज्ञानं, तन्नामधेयशब्देन न व्यपदिश्यते, गृहीते-
ऽपि च शब्दार्थसम्बन्धेऽस्यायं शब्दो नामधेयमिति । यदा तु
सीऽर्थो गृह्यते, तदा तत् पूर्वस्मादर्थज्ञानान्न विशिष्यते, तदर्थ-
विज्ञानं तादृगेव भवति, तस्य त्वर्थज्ञानस्य अन्यः समाख्याशब्दो
नास्ति, येन प्रतीयमानो व्यवहाराय कल्पेत, न चाप्रतीय-
मानेन व्यवहारः । तस्य अज्ञेयस्यार्थस्य संज्ञाशब्देनेतिकरण-
युक्तेन निर्दिश्यते रूपमिति ज्ञानं, रस इति ज्ञानमिति । तदेव-
मर्थज्ञानकाले स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते, व्यवहारकाले तु
व्याप्रियते, तस्मादशब्दमर्थज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति ।
ग्रीष्मे मरौचयो भौमेनोष्णता संस्पृष्टाः स्यन्दमाना दूरस्थस्य
चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते, तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुदकमिति ज्ञान-
मुत्पद्यते । तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आह,—अव्यभिचा-
रीति । यदतस्मिंस्तदिति, तद्व्यभिचारि । यत् तस्मिंस्तदिति,
तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति । दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्ना-
वधारयति धूम इति वा, रेणुरिति वा । तदेतदिन्द्रियार्थ-
सन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आह,
—व्यवसायाऽऽत्मकमिति । न चैतन्नान्तव्यम् आत्ममनःसन्निकर्ष-

प्रत्यक्षं चाव्याप्तिः, तथाऽपि साक्षात्कारीभौत्यनुव्यवसायसिद्धसाक्षात्त्वनाव्यवच्छिन्ने ज्ञान-
मित्यन्तस्य तात्पर्यम् ; यद्वा,—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति सावधारणम् ; इन्द्रियार्थ-
सन्निकर्षातिरिक्तानुत्पन्नम् अतिरिक्तं चात्र ज्ञानम् ; तेन ज्ञानाकरणमित्यर्थः ।
असंवारकसव्यभिचारोति असंभ्रममित्यर्थः, इदं चांशिकसंशयात्कथ्यत्वेन, कथ्यत्वे तु

अनेव अनवधारणज्ञानमिति । चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति, तथा चेन्द्रियेणोपलब्धमर्थं मनसोपलभते, एवमिन्द्रियेण अनवधारयन् मनसा नावधारयति । यच्चैतदिन्द्रियानवधारणपूर्वकं मनसाऽनवधारणं, तद्विशेषापेक्षं विमर्शमात्रं संशयो न पूर्वमिति । सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः, पश्चात् मनसाऽनुव्यवसायः, उपहतेन्द्रियाणामनुव्यवसायाभावादिति । आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम् । अनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि तदिति । इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात् । भौतिकाभौतियाणि नियतविषयाणि । सगुणानाञ्चैवामिन्द्रियभाव इति । मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयञ्च, नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति । सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षं सन्निधिमसन्निधिज्ञास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्याम इति । मनसश्चेन्द्रियभावाच्च वाच्यं लक्षणान्तरमिति । तन्वान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येत्यमिति । परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तत्त्वयुक्तिः । व्याख्यातं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टञ्च ॥ ५ ॥

तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनञ्चाभिसम्बध्यते । लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते । स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन च अप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते ।

तद्वति तत्प्रकारकत्वम् ; निर्विकल्पकस्य सत्यत्वे, तदभाववति तदप्रकारकत्वमयं, तस्य विभागः, अव्यपदेश्यं व्यवसायाऽऽत्मकमिति, निर्विकल्पकं सविकल्पकमेति द्विविधं प्रत्यक्षमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अनुमानं लक्षयति विभजते च ।—आनन्तर्यबोधकावशब्दो हेतुहेतुमद्भावसङ्कति-सूचनाय । तत्पूर्वकं प्रत्यक्षपूर्वकम् ; प्रत्यक्षं प्रत्यक्षविशेषो व्यापारादिविषयकः, तेन

पूर्ववदिति, यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते । यथा मेघोदत्या भविष्यति वृष्टिरिति । शेषवत्तत्, यत्र कार्येण कारणमनुमीयते । पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वञ्च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति । सामान्यतो दृष्टं, व्रज्यापूर्वकम् अन्यत्र दृष्टस्य अन्यत्र दर्शनमिति । तथा चाऽऽदित्यस्य । तस्मादस्य प्रत्यक्षाऽप्यादित्यस्य व्रज्येति । अथवा पूर्ववदिति, यत्र यथा पूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेन अन्यतरस्य अप्रत्यक्षस्यानुमानम् । यथा धूमनाग्निरिति । शेषवन्नाम परिशेषः, स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्र अप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः । यथा सदनित्यामित्येवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामाव-
शेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य तस्मिन् द्रव्यकर्मगुणसंशये न द्रव्यमेकद्रव्यत्वात्, न कर्म शब्दान्तरहेतु-
त्वात्, यस्तु शिष्यते, सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः । सामान्यतो दृष्टं नाम, यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केन-
चिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गो गम्यते । यथेच्छा-
दिभिरात्मा । इच्छादयो गुणाः । गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः । तद्व्यदेष्टां स्थानं, स आत्मेति । विभागवचनादेतत् त्रिविध-
मिति सिद्धे, त्रिविधवचनं—महती महाविषयस्य न्यायस्य लघी-
यसा सूत्रेणोपदेशात् परं वाक्यलाघवं मन्यमानस्य अन्यस्मिन्
वाक्यलाघवेऽनन्तरः । तथा चायमित्यभूतेन वाक्यविकल्पेन

न्यासि विशिष्टपक्षधर्माज्ञानजन्यत्वं लभ्यते । अनुमानम् अनुमितिः, यत् इत्यध्याहारण-
च करणलक्षणम्, अथवा करणलक्षणमेवेदम् ; तत्रानुमानमिति करणलुटा अनुमिति
करणमिति समाख्याबलादेव लभ्यम् ; तच्च न्यासिज्ञानं प्रत्यक्षपूर्वकं सहचारप्रत्यक्ष-
पूर्वकं विभज्यते, विविधमिति । पूर्वं कारणं, तद्वत् तल्लिङ्गकम् ; यथा मेघोन्नतिविशेषे
वृष्ट्यनुमानम् ; शेषः कार्यं, तल्लिङ्गकं शेषवत्, यथा नदीवृद्ध्या हृष्यनुमानम् ; सामान्यतो
दृष्टं कार्येकारणभिरल्लिङ्गकम्, यथा पृथिवीत्वेन द्रव्यत्वानुमानम्, अथवा पूर्वम्

प्रवृत्तः सिद्धान्ते क्लृप्ते शब्दादिषु च बहुलं समाचारः शास्त्रे
इति । सद्विषयश्च प्रत्यक्षम् । सदसद्विषयज्ञानुमानम् । कस्मात् ?—
त्रैकाल्यग्रहणात्, त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते ।
भविष्यतीत्यनुमीयते, भवतीति च, अभूदिति च । असच्च
खल्वतीतमनागतच्चेति ॥ ५ ॥

अधीपमानम्—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥६॥

प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति ।
यथा गौरिव गवय इति । किं पुनरतोपमानेन क्रियते ? यदा
खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते, तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रति-
पद्यते, इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह । यथा
गौरिव गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते, गवा समानधर्ममर्थमिन्द्रियार्थ-
सन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञेति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं
प्रतिपद्यत इति । यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी, यथा माषस्तथा
माषपर्णीत्युपमाने प्रयुक्ते, उपमानात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रति-
पद्यमानस्तामोषधीं भैषज्यायाऽऽह्वरति । एवमन्योऽप्युपमानस्य
लोके विषयो बुभुक्षितव्य इति ॥ ६ ॥

अन्वयः, तद्वत्, केवलान्वयौल्यर्थः, यथा अभिषेधं प्रमेयत्वात् इत्यादि ; श्रेष्ठो व्यतिरेकः,
तद्वत्, केवलव्यतिरेकौल्यर्थः, यथा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादित्यादि ; सामा-
न्यतो दृष्टम्, अन्वयव्यतिरेकि, यथा वज्रिमान् धूमादित्यादि ॥ ५ ॥

उपमानं लक्षयति ।—प्रसिद्धस्य पूर्वप्रमितस्य गवादेः, साधर्म्यात्सादृश्यात्
तत्प्रज्ञानात्, साध्यस्य गवयादिपदवाच्यत्वस्य, साधनं सिद्धिः, उपमानमुपमिति ; यत्
इत्यध्याहारेण च करणलक्षणम् ; अथवा, —साध्यसाधनमिति करणव्युत्पादकरणलक्षण-
मेवेदम् । अत्र च वैधर्म्योपमितिमपि मन्यन्ते टीकाकृतः, यथा च अतिदीर्घगीवत्वादि-
पश्चत्तरवैधर्म्यज्ञानादुद्वेगं करमपदवाच्यतायुक्तः । एवमन्योऽप्युपमानस्य विषय इति
भाष्यम् ; यथा मुद्गपर्णीसदृशी ओषधी विषं इति, इत्यतिदेशवाक्यात् ज्ञाते मुद्गपर्णी-
सादृश्यज्ञाने ज्ञाते, इयमोषधी विषहरणीत्युपमित्या विषयोक्रियत इत्यादि ॥ ६ ॥

अथ शब्दः—

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चित्ख्यापयि-
षया प्रयोक्ता उपदेष्टा । साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिः, तथा प्रवर्तत
इत्याप्तः । ऋष्यार्थेच्छानां समानं लक्षणम् । तथा च सर्वेषां
व्यवहाराः प्रवर्तन्ते इति । एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यातिरसां
व्यवहाराः प्रकल्पन्ते, नातोऽन्यथेति ॥ ७ ॥

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

यस्यह दृश्यतेऽर्थः, स दृष्टार्थः । यस्यामुत्र प्रतीयते, सोऽदृ-
ष्टार्थः । एवमपि लौकिकवाक्यानां विभाग इति । किमर्थं
पुनरिदम् ? उच्यते,—स न मन्येत, दृष्टार्थ एवाऽऽप्तोपदेशः प्रमा-
णम्, अर्थस्यावधारणादिति । अदृष्टार्थोऽपि प्रमाणम्, अर्थस्यानु-
मानादिति ॥ ८ ॥

शब्दं लक्षयति ।—शब्द इति लक्ष्यकथनम् ; तदर्थः प्रमाणशब्द इति, आप्तोपदेश
इति लक्षणम् ; आप्तः प्रकृतवाक्यार्थयथार्थज्ञानवान्, तस्योपदेश इत्यर्थः, प्रकृतवाक्यार्थ
वथार्थज्ञानप्रयुक्तः शब्द इति फलितार्थः ; अथवा,—आप्तो यथार्थः, उपदेशः शाब्दविधौ
यस्यात् इति बहुव्रीहिः । शाब्दत्वञ्च जातिविशेषः, तथा च यथार्थशाब्दज्ञानकरणत्व-
मर्थः । अत्र च विशिष्टावृत्त्यप्रकारकत्व-तद्वति तत्प्रकारकत्वादिप्रमाणलक्षणानामेकं
लक्षणे, परञ्च लक्ष्यतावच्छेदके निवेशनीयम्, अतो नामेदः ॥ ७ ॥

विभजते ।—स प्रमाणशब्दः, शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणगम्यार्थको
दृष्टार्थकः, शब्दतदुपजीविप्रमाणमादगम्यार्थकोऽदृष्टार्थकः, तथा च दृष्टार्थकत्वा-
ददृष्टार्थकत्वभेदात् प्रमाणशब्दस्य द्विविध्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

समाप्तं प्रमाणलक्षणप्रकरणम् ।

किं पुनरनेन प्रमाणेनार्थजातं प्रमातव्यमिति ? तदुच्यते—
आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्य-
भावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ८ ॥

तत्राऽऽत्मा सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः, सर्वानु-
भवकः । तस्य भोगाऽऽयतनं शरीरम् । भोगसाधनानीन्द्रियाणि ।
भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः । भोगो बुद्धिः । सर्वार्थोपलब्धौ नान्द्र-
याणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः । शरीरेन्द्रियार्थ-
बुद्धिसुखवेदनानां निवृत्तिकारणं प्रवृत्तिदोषाश्च । नास्य इदं
शरीरमपूर्वमनुत्तरञ्च, पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति, उत्तरेषामप-
वर्गोऽन्तः, इति प्रेत्यभावः । ससाधनसुखदुःखोपभोगः फलम् ।
दुःखमिति, नेदमनुकूलवेदनोयस्य सुखस्य प्रतीतिः प्रत्याख्यानम् ।
किन्तिर्हि ? जन्मन एवेदम् । सुखसाधनस्य दुःखानुषङ्गाद्दुःखेन
अविप्रयोगाद्विविध-बाधनायोगाद्दुःखमिति समाधि-भावनमुप-
दिश्यते । समाहितो भावयति । भावयन्निर्विद्यते । निर्विषयस्य
वैराग्यम् । विरक्तस्यापवर्ग इति । जन्ममरणप्रवन्धोच्छेदः
सर्वदुःखप्रहाणमपवर्ग इति । अस्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्म-
सामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम् । तज्ज्ञेदेन च अपरिसङ्ख्येयम् ।
अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गः, मिथ्याज्ञानात् संसारः, इत्यत एत-
दुपदिष्टं विशेषेणेति ॥ ८ ॥

प्रमेयं विभजते खल्वयति च ।—अत्र “तु”शब्दः पुनरर्थे, तथा चैतवानेव
प्रमेयत्वं, न तु प्रमाविषयत्वेन संयोगादीनामपि, प्रमेयशब्दो हि वादादिशब्दवत्
परिभाषाविशेषेण षादंशसु प्रवर्तते, तत्र च प्रकृतं मेयं प्रमेयमिति योगार्थः । प्रकृतं च
संसारहेतुमिथ्याज्ञानविषयत्वं, मोक्षहेतुधीविषयत्वं वा, इत्या च तावदन्यान्यत्वमर्थः,
खल्वयमपि तदेव, प्रमेयं किम् १ इत्याकाङ्क्षायामात्मादयो दर्शिताः, इत्यतो वचन-
भेदेऽपि नानन्वयः, “वेदाः प्रमाथम्” इत्यादावप्येवम्; अन्यथा आत्मसूत्रे विगतः स्यात्,

तत्राऽऽत्मा तावत् प्रत्यक्षतो न गृह्यते, स किमासोपदेश-
मात्रादेव प्रतिपद्यत इति ? नेत्युच्यते । अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्य
इति । कथम् ?—

दुःखाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्ग-
मिति ॥ १० ॥

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात् सुखमात्मोपलब्धवान्,
तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति । सेयमादातुमिच्छा
एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद् भवति लिङ्ग-
मात्मनः । * नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहा-
न्तरवदिति । * एवमेकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धा-
नाद्दुःखहेतौ द्वेषः । यज्जातीयो यस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धः,
तज्जातीयमर्थमप्यन्नादातुं प्रयतते । सोऽयं प्रयत्न एक-
मनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात् । * नियत-
विषये बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति । * एतेन
दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः । सुखदुःखस्मृत्या चायं तत्साधन-
माददानः सुखमुपलभते, दुःखमुपलभते, सुखदुःखे वेदयते,
पूर्वोक्त एव हेतुः । बुभुक्षमानः खल्वयं विमृशति किंस्मिदिति ।

तच्च वक्ष्यते ।—प्रमेयत्वेनैक्यमिति प्रतिपादनाय, अन्यतमाज्ञानेऽपि सापवर्ग इति
प्रतिपादनाय वा प्रमेयमित्येकवचनमित्यन्ये, तच्चिन्त्यम् । अत्रापि आत्मा च शरीरञ्च
इन्द्रियाणि च अर्थाश्च बुद्धिश्च मनश्च प्रवृत्तिश्च दोषाश्च प्रेत्यभावश्च फलञ्च दुःखञ्च
अपवर्गश्चेति यथावचनं विग्रहं वर्णयन्ति । अतः प्राधान्यात् कारणरूपप्रमेयघटक-
जभिषाद्य काव्यरूपप्रमेयघटकमभिहितम् ; तत्र पूर्वपूर्वस्य प्राधान्यात् प्रथममुद्देश
इति वदन्ति ॥ ८ ॥

तत्र प्रथमोद्दिष्टमात्मानं लक्षयति ।—अत्र च आत्मनः प्रत्यक्षत्वात्लिङ्गकथनमस-
ङ्गतम् । न च शरीरातिरिक्ताऽऽत्मव्युत्पादनार्थं तत् इति वाच्यम्, अयिमपरीचावैयर्थ्या-
ऽऽपत्तेः । लक्षणाकथनेन न्यूनत्वञ्च इति चेन्न, लिङ्गपदस्य लक्षणाश्रयत्वात् । न च

विमृशन् जानीते इदमिति । तदिदं ज्ञानं बुभुक्षाविमर्शा-
भ्यामभिन्नकर्तृकं गृह्यमाणमात्मलिङ्गम् । पूर्वोक्त एव हेतुरिति ।
तत्र देहान्तरवदिति विभज्यते । यथाऽनात्मवादिनो देहान्त-
रेषु नियतविषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते, तथैकदेहविषया
अपि न प्रतिसन्धीयेरन्, अविशेषात् । सोऽयमेकसत्त्वस्य समा-
चारः, स्वयं दृष्टस्य स्मरणं, नान्यदृष्टस्येति । एवं खलु नाना-
सत्त्वानां समाचारः, अन्यदृष्टमन्ये न स्मरन्तीति । तदेतदुभय-
मशक्यमनात्मवादिना व्यवस्थापयितुमिति । एवमुपपन्न-
मस्यात्मेति ॥ १० ॥

तस्य भोगाधिष्ठानम्—

चेष्टेन्द्रियार्थाऽऽश्रयः शरीरम् ॥ ११ ॥

कथं चेष्टाऽऽश्रयः ? ईप्सितं जिहासितं वाऽर्थमधिकृत्येषा-
जिहासाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समीहा चेष्टा, सा
यत्र वर्तते, तच्छरीरम् । कथमिन्द्रियाऽऽश्रयः ? यस्यानु-
ग्रहेणानुगृहीतानि, उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध-

लिङ्गमित्येकवचनेन मिलितानां लक्षणत्वं प्रतीयते, तन्नायुक्तं वैयर्थ्यात् इति वाच्यम्,
किं लक्षणम् ? इत्याकाङ्क्षायाभिष्ठादीनामभिधानात् मिलितं लक्षणमिति प्रत्यायका-
भावात्, तथा च प्रत्येकमेव लक्षणम् ; अत्र ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामात्मनामस्य लक्षणत्वं,
सुखदुःखहेषाणां संसारिणो लक्षणत्वमिति ॥ १० ॥

क्रमप्राप्तं शरीरं लक्षयति । —अत्र चेष्टादीनां मिलितानाम् आश्रयत्वं न लक्षणं,
वैयर्थ्यात्, अपि त्वाश्रयपदस्य प्रत्येकमन्यथाचेष्टाऽऽश्रयत्वादिलक्षणपथे तात्पर्यं,
चेष्टालक्ष प्रयत्नमन्यथावच्छेदको जातिविशेषः । न च शरीरावयवेऽतिव्याप्तिः,
अन्यावयवविलेन विशेषणात् । न च निष्क्रियशरीरेऽव्याप्तिः, तादृशे मानाभावात्,
अत एवाऽऽह, इन्द्रियाऽऽश्रय इति । —इन्द्रियाऽऽश्रयत्वञ्च अवच्छेदकताऽऽख्यरूप-
लक्ष्यविशेषणं, अक्षुण्णान् देवदत्तोऽयमित्यादिप्रतीतिः ; अर्थाऽऽश्रयत्वमित्यन्वयशब्दो
न रूपादिपरः, तदाश्रयत्वञ्च घटादावतिव्याप्तेः, किन्तु सुखदुःखान्यतरपरः, अत एव

माधुषु वर्तन्ते, स एषामाश्रयः, तच्छरीरम् । कथमर्थोऽश्रयः ?
यस्मिन्नायतने इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् उत्पन्नयोः सुखदुःखयोः
प्रतिसंवेदनं प्रवर्तते, स एषामाश्रयः, तच्छरीरमिति ॥११॥

भोगसाधनानि पुनः—

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥१२॥

जिघ्रत्यनेनेति घ्राणं, गन्धं गृह्णातीति । रमयत्यनेनेति
रसनं, रसं गृह्णातीति । चष्टेऽनेनेति चक्षुः, रूपं पश्यतीति ।
स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं, त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक्, तदुपचारः
स्थानादिति । शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं, शब्दं गृह्णातीति । एवं
समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोध्यं स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रिया-
णीति । भूतेभ्य इति नानाप्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमः,
नैकप्रकृतीनां, सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्व
भवतीति ॥१२॥

भाष्यं, “यस्मिन्नायतने सुखदुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्तते, स एषामाश्रयः, तच्छरीरम्”
इति । वस्तुतस्तन्वतराऽऽश्रयत्वमपि न तल्लक्षणं, किन्तु सुखाऽऽश्रयत्वं, दुःखाऽऽश्रयत्वञ्चेति
लक्षणद्वये तात्पर्यम् ; शरीरस्य तदाश्रयत्वमवच्छेदकतासम्बन्धेन, ह्लादीदरलक्ष्यत्वे
तन्वावयवित्वेन विशेषणीयम् ; स्वर्गिशरीरे नारकिशरीरे वृक्षादौ च सुखदुःख-
स्वीकारान्नाश्यामिः । न च तच्छून्यसुखदुःखशरीरेऽव्यामिः, सुखाद्याश्रयवृत्तिद्रव्य-
त्वव्याप्यव्याप्यजातिमत्वस्य विवक्षितत्वात्, तादृशजातिश्च मनुष्यत्वचैतत्वादिः, कल्पभेदेन
नरसिंहशरीराणां भेदान्नरसिंहत्वजातिमादाय नरसिंहशरीरे लक्षणसमन्वय
इति ॥ ११ ॥

इन्द्रियं विभजते लक्षयति च ।—यद्यपि मनसोऽपीन्द्रियत्वमस्त्येव, तथाऽपि
प्राणैवादेष्टव्यलक्षणपरत्वात् दीर्घः, वस्तुतस्विन्द्रियाणीत्यस्य बहिरिन्द्रियाणीत्यर्थः ।
तेन भूतेभ्य इत्यस्य नासङ्गतिः । अथ चैतानीन्द्रियाणीति वदता प्राणायान्यान्तत्वं
लक्षणमिति सूचितम् ; प्रत्यक्षजनकताऽवच्छेदकतया इन्द्रियत्वमखण्डोपाधिरूपमित्यन्ये,
प्राणत्वादिकं जातिविशेषरूपम् ; कर्णशक्तुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम् ; प्राणादीनि किं
प्रकृतिकानि ? इत्याकाङ्क्षायासाह, —भूतेभ्य इति । तेनेन्द्रियाणामहङ्कारप्रकृतिकत्वं

कानि पुनरिन्द्रियकारणानि—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥

संज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशो भूतानां विभक्तानां सुवचं कार्यं
भविष्यतीति ॥ १३ ॥

इमे तु खलु—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थः ॥ १४ ॥

पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणाः, इन्द्रियाणां यथाक्रम-
मर्था विषया इति ॥ १४ ॥

अचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं वृत्तिः, चेतनस्य कर्तृरूप-
लब्धिरिति युक्तिविरुद्धमर्थं प्रत्याचक्षाण इवेदमाह—

बुद्धिरुपलब्धज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

नाचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं भवितुमर्हति, तद्धि चेतनं

नेति मन्तव्यम्; व्युत्पादयिष्यते चेदं तृतीयाध्याये । अथ प्राणादीनां चतुर्णां
पृथिव्यादिजन्यत्वं सम्भवति, श्रोत्रस्य कर्णशक्कुल्यवच्छिन्नाऽऽकाशस्य कर्णशक्कुल्याः
जम्बवादेव जम्बवज्यरदेगः, अथवा अभिज्ञानीति पूरयित्वा भूताभिज्ञानीति
व्याख्येयम् । प्राणानीत्यस्योपलक्षणपरत्वे तु भूतेभ्य इति वहिरिन्द्रियपरम् ॥ १२ ॥

भूतान्येव कानि ? इत्याकाङ्क्षायामाह ।—कार्याऽऽरम्भे परस्परानपेक्षत्वसूचना-
यासमासकरणं, भूतत्वत्तु वहिरिन्द्रियग्रहणयोग्यविशेषगुणवत्त्वं, पृथिवीत्वादयस्तु
जातिविशेषा इति ॥ १३ ॥

क्रमप्राप्तमर्थं विभजते स्वस्ययति च ।—वैशेषिकाणां द्रव्यगुणकर्मस्वर्गशब्दाभि-
धेयत्वम्, अतः पञ्चानां गन्धादीनामेव कुतं तत्त्वम् इत्याशङ्कानिरासाय तदर्थं इत्युक्तम् ;
तेषामिन्द्रियाणामर्था विषया सद्दिष्टा अपि त एवेत्याशयः, इत्यत्र तदर्थत्वं स्वस्वमिति
मन्तव्यम् ; तच्छब्देन वहिरिन्द्रियाणि परामृश्यन्ते, तथा चैकवहिरिन्द्रियमात्रशास्त्र-
गुणत्वम् अर्थत्वं, वहिरिन्द्रियद्वयायास्तवहिरिन्द्रियशास्त्रगुणत्वं तदर्थः । पृथिव्यादि-
गुणा इति लक्ष्यनिर्देशः । ते के गुणाः ? इत्याकाङ्क्षायां गन्धेत्यादि । पृथिव्यादीनां गुणा
इति षष्ठीममासी भाष्यादिसम्मतः, तेन गुणगुणिनोरभेदो नेति सूचितम् ॥ १४ ॥

बुद्धं स्वयितुमाह ।—अनर्थान्तरं समानार्थकं, न तु साङ्गानामिव बुद्धितत्त्वस्य

स्यात् । एकस्यायं चेतनो देहेन्द्रियसङ्घातव्यतिरिक्त इति ।
प्रमेयलक्षणार्थस्यापि वाक्यस्यान्यार्थप्रकाशनमुपपत्तिसामर्थ्या-
दिति ॥ १५ ॥

अतनुमानाऽऽगमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखाऽऽदि-
प्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि तेषु सत्सु इयमपि—
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ १६ ॥

अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ताः
भवितुमर्हन्तीति । युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनाञ्च
सन्निकर्षेषु सत्सु, युगपद्भानानि नोत्पद्यन्ते । तेनानुमीयते,
अस्ति तत्तदिन्द्रियसंयोगिसहकारिनिमित्तान्तरमव्यापि ।
यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानं, सन्निधेस्तोत्पद्यत इति । मनः-
संयोगानपेक्षस्य होन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्ये-
रन् ज्ञानानीति ॥ १६ ॥

क्रमप्राप्ता तु—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीराऽऽरम्भः ॥ १७ ॥

मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतं, बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः ।

महत्तत्त्वापरपर्यायस्य परिणामविशेषो ज्ञानम् ; यथा चेतस्तथा वक्ष्यते, तथा च
बुद्ध्यादिपदवाच्यत्वमनुभवसिद्धज्ञानत्वजातिरेव वा लक्षणमिति भावः ॥ १५ ॥

मनो लक्षयति ।—युगपत् एककाले, एकाऽऽत्मनीति पुरश्चीयम् ; ज्ञानानामनुत्पत्ति-
कालः, स एव चर्को ज्ञानकरणाण्युत्तं मनसो लिङ्गं लक्षणमित्यर्थः । तथा हि, चक्षु-
श्रादिषु विषयसम्बन्धेष्वपि यस्याऽऽसम्बन्धभावादेकं न ज्ञानं जनयति, यत्सम्बन्धादपरञ्च
ज्ञानं जनयति, तदेव चाणु निखिलज्ञानजनकं सुखादिसाक्षात्कारासाधारणकारणं,
तदेकमेव साधवाक्षिप्तं, मन इत्यर्थः । एवमव्याख्याने च लक्षणप्रकरणे प्रमाणीप-
न्नासोऽङ्गतः स्यादिति । अन्ये तु, सति यत्किञ्चि लक्षणविन्ता, इत्यतो मनःसाधनाय
ब्रुमपदिति सूत्रम्, इत्यत्र मनःसिद्धौ निःस्पृशाण्यत्वादिकं लक्षणं सुकरमित्याशय इति
वदन्ति ॥ १६ ॥

असति लक्षयति विमज्जते च ।—अत्र च, प्रवृत्तित्वं रागजन्मताऽवच्छेदको जाति-

सोऽयमारम्भः शरीरेण वाचा मनसा च, पुण्यं पापञ्च दशविधम् ;
तदेतत् कृतभाष्यं द्वितीयसूत्र इति ॥ १७ ॥

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः ॥ १८ ॥

प्रवर्त्तना प्रवृत्तिहेतुत्वम् । ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्त्त-
यन्ति पुण्ये पापे वा । यत्र मिथ्याज्ञानं, तत्र रागद्वेषाविति ।
प्रत्यात्मवेदनीया ह्रीमे दोषाः । कस्मात् लक्षणतो निर्दिश्यन्त
इति ? कर्मलक्षणाः खलु रक्तद्विष्टमूढाः । रक्तो हि तत्कर्म
कुरुते, येन कर्मणा सुखं दुःखं वा भजते । तथा द्विष्टस्तथा
मूढ इति । दोषा रागद्वेषमोहा इत्युच्यमाने बहुनोक्तं
भवतीति ॥ १८ ॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १९ ॥

उत्पन्नस्य क्वचित् सत्त्वनिकाये सृत्वा या पुनरुत्पत्तिः, स
प्रेत्यभावः । उत्पन्नस्य सम्बन्धस्य । सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियमनो-

विशेषः, स एव लक्षणम्, ईश्वरकृतेरपि लक्ष्यत्वे यत्नमेव तथा । जीवनयोगियजे
निष्ठतो च मानाभावात्, तत्सद्भावेऽपि प्रवृत्तित्वं नित्ययत्नसाधारणं, सद्भावात् वा तथा,
इत्यानन्तरस्य ताऽऽरम्भपदस्य प्रत्येकमन्वयाद्व्यापारभावादिभेदेन त्रिविधा प्रवृत्तिः । बुद्धि-
ब्रह्मेनात्र मनोऽभिप्रेतमिति भाष्यम् । शरीरशब्दश्च चेष्टावत्त्वेन, इत्यादिसाधारणः ;
तथा च वचनानुक्लो यत्रो वागारम्भः, शरीरगोचरी यत्र चेष्टाऽनुकूलयत्रो वा शरीरा-
ऽऽरम्भः, एतद्वयमित्री यत्रो बुद्ध्यारम्भः ; स च ध्यानीदयादेव आत्मदर्शनाद्यनुकूलः
इत्येवमस्ति । प्राक्सत्, सामान्यविशेषलक्षणे चादृष्टजनकत्वं निर्विशयनि । इयञ्च
कारणरूपा प्रवृत्तिः, कार्यरूपा तु धर्माधर्माऽऽत्मकेति ॥ १७ ॥

दोत्रं लक्षयति ।—दोषा इति बहुवचनं रागद्वेषमोहाऽऽत्मकलक्ष्यत्रयज्ञापनाय,
प्रवर्त्तना प्रवृत्तिजनकत्वं तदेव लक्षणं येषाम् ; यद्यपीदं शरीरादृष्टेश्वरेष्वादावतिव्याप्तं,
तथाऽपि लौकिकमानसप्रत्यक्षविषयले सतीति विशेषणीयं, यागादिशरीरप्रमावादादप्यत्र
प्रमाऽन्यत्वे सतीति विशेषयन्ति ॥ १८ ॥

प्रेत्यभावं लक्षयति ।—प्रेत्य सृत्वा, भावी जननं, प्रेत्यभावः । अत्र पुनरित्यने-
वाभासलक्षणात्, प्रागुत्पत्तिः, ततो मरणं, तत उत्पत्तिरिति प्रेत्यभावीऽयमनादिरप-

बुद्धिबेदनाभिः । पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः । पुनरित्यभ्यासाभिधानम् । यत्र क्वचित् प्राणभृन्निकाये वर्त्तमानः पूर्वोपात्तान् देहादीन् जहाति, तत् प्रैति । यत् तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते, तद्वति प्रेत्यभावो मृत्वा पुनर्जन्म । सोऽयं जन्ममरणप्रवन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति ॥ १८ ॥

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

सुखदुःखसंवेदनं फलम् । सुखविपाकं कर्म दुःखविपाकञ्च । तत्पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतम् । तथा हि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत् सर्वभवति । तदेतत् फलमुपात्तमुपात्तं हेयं, त्यक्तं त्यक्तमुपादेयमिति नास्य हानोपादानयोर्निष्ठा पर्यवसानं वाऽस्ति । स खल्वयं फलस्य हानोपादानस्रोतसोद्धते लोक इति ॥ २० ॥

अथेतदेव—

बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २१ ॥

बाधना पीडा ताप इति । तयाऽनुविद्धमनुषक्तमवि-

बर्त्तनः । एतेन ज्ञानञ्च वैराग्यं च प्रयुज्यते इति प्रेत्येति न व्यर्थम् ; तदीयमरणञ्च तदीयजीवनादृष्टनाशः, तदीयचरमप्राणसंयोगध्वंसः, तदीयप्राणध्वंसो वा ; तदीयोत्पत्तिस्तु तदीयविजातीयशरीराद्यप्राणसंयोग इति ॥ १९ ॥

फलं लक्षयति ।—यत्र च मुख्यं फलं सुखदुःखोपभोगः, तथा च भाष्यम् ;—“सुखदुःखसंवेदनं फलम्” । तत्र च धर्माधर्माऽऽत्मकप्रवृत्तेः प्रयोजकत्वात्, तत्र च दोषजनितत्वात्, प्रवृत्तिदोषजनित इत्युक्तम् ; लक्षयन्तु सुखदुःखान्वतरसाचात्कार इति । बीजं फलन्तु शरीरादिकं सर्वमेव । तथा च भाष्यम् ;—“तत्पुनर्देहेन्द्रियबुद्धिषु सतीषु भवति इति सह देहेन्द्रियादिभिः फलमभिप्रेतम् ; तथा हि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत्सर्वं भवति” इति । इत्यस्य जन्मत्वमेव फलत्वम् ; प्रवृत्तिदोषजनित इति तु निर्वेदोपयोगादुक्तम् ॥ २० ॥

दुःखं लक्षयति ।—बाधना पीडा, तदेव लक्षयं लक्ष्यं वस्तु तत् । तथा चाव-

निर्भागेण वर्त्तमानं दुःखयोगाद्दुःखमिति । सोऽयं सर्वं दुःखे-
नानुबिद्धं ब्रह्मन्तमिति पश्यन् दुःखं निहासुर्जन्मनि दुःखदर्शी
निर्विद्यते । निर्विषो विरज्यते । विरक्तो विमुच्यते ॥ २१ ॥

यत्र तु निष्ठा सोऽयं, यत्र तु पर्यवसानम् ।—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

तेन दुःखेन जन्मनाऽत्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः । अन्यथा
कथमुपात्तस्य जन्मनो हानमन्यस्य चानुपादानम् । एताम-
वस्थामपर्यन्तामपवर्गं वेदयन्तेऽपवर्गविदः । अभयदमजरम-
मृत्युपदं ब्रह्मवेमप्राप्तिरिति नित्यं सुखमात्मनो महत्त्वबन्धोक्षे
व्यज्यते, तेनाभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचित्
मन्यन्ते । तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः । न प्रत्यक्षं नानुमानं
नागमो वा विद्यते, नित्यं सुखमात्मनो महत्त्वबन्धोक्षेऽभि-
व्यज्यत इति । नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनं ज्ञानमिति । तस्य
हेतुर्वाच्यः ; यतः तदुपपद्यत इति । * सुखवन्नित्यमिति चेत्
संसारस्थस्य मुक्तेनाऽविशेषः । * यथा मुक्तः सुखेन तत् संवेदनेन
च सन्नित्येनोपपन्नः, तथा संसारस्थोऽपि प्रसज्यत इति ।
उभयस्य नित्यत्वात् । * अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन
साहचर्यं यौगपद्यं गृह्येत । * यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं
सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण, तस्य च नित्यं स्वसंवेदनस्य
च सह भावो यौगपद्यं गृह्येत । न सुखाभावो नानभि-
व्यक्तिरस्ति । उभयस्य नित्यत्वात् । * अनित्यत्वे हेतुवचनम् । *
अथ मोक्षे नित्यस्य सुखस्य संवेदनमनित्यम् ; यत उत्पद्यते,

भवसिद्धदुःखत्वजातिरेव लक्षणम् । शरीरेन्द्रियाङ्गेषु दुःखसाधनत्वात् सुखे च
दुःखानुषङ्गात् दुःखव्यवहारो गौण इति ; अत एवाग्निमसूत्रे तत्पदेन मुख्यदुःख-
परामर्शः ॥ २१ ॥

अपवर्गं लक्षयति ।—तस्य दुःखस्य, अत्यन्तविमोक्षः स्वसुखानाधिकरणदुःखा-

स हेतुर्वाच्यः । *आत्मनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य
 हेतुत्वम् । * आत्मनःसंयोगो हेतुरिति चेत्, एवमपि तस्य
 सहकारिनिमित्तान्तरं वचनौयमिति । *धर्मस्य कारणवचनम् । *
 यदि धर्मो निमित्तान्तरं, तस्य हेतुर्वाच्यः, यत उत्पद्यत
 इति । *योगसमाधिजस्य कार्यावसायनिरोधात् प्रलये
 संवेदननिवृत्तिः । * यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतुः, तस्य
 कार्यावसायनिरोधात् प्रलये संवेदनमत्यन्तं निवर्त्तत ।
 *असंवेदने चाविद्यमानाविशेषः । * यदि धर्मक्षयात् संवेदनो-
 परमः, नित्यं सुखं न संवेद्यत इति । किं विद्यमानं न
 संवेद्यते, अथाविद्यमानम् ? इति । नानुमानं विशिष्टेऽस्तीति ।
 *अप्रक्षयश्च धर्मस्य निरनुमानमुत्पत्तिधर्मकत्वात् । * योग-
 समाधिजो धर्मो न क्षीयते इति नास्त्यनुमानम् । उत्पत्ति-
 धर्मकमनित्यमिति विपर्ययस्य तु अनुमानम् । यस्य तु
 संवेदनोपरमो नास्ति, तेन संवेदनेन हेतुर्नित्य इत्यनुमेयम् ।
 नित्ये च मुक्तसंसारस्थयोरविशेष इत्युक्तम् । यथा मुक्तस्य
 नित्यं सुखं तत्संवेदनहेतुश्च । संवेदनस्य तूपरमो नास्ति,
 कारणस्य नित्यत्वात् ; तथा संसारस्थस्यापीति । एवञ्च सति
 धर्माधर्मफलेन सुखदुःखसंवेदनेन साहचर्यं गृह्येतेति ।
 *शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेत् न, शरीरादौनामुप-
 भोगार्थत्वात्, विपर्ययस्य चाननुमानात् । * स्यान्नतं संसारा-
 बन्धशरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकस्तेना-
 विशेषो नास्तीति । एतच्चायुक्तम् । शरीरादय उपभोगार्थाः, ते
 भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम् । न चास्त्यनुमानमशरी-
 रस्याऽऽत्मनो भोगः कश्चिदस्तीति । *इष्टाभिगमार्था प्रवृत्तिरिति
 चेत् न, अनिष्टोपरमार्थत्वात् । * इष्टाभिगमार्थो मोक्षोपदेगः
 प्रवृत्तिश्च सुमुक्तूणां, नोभयमनर्थकमिति । एतच्चायुक्तम् ।

अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च सुमुचूणामिति ।
 नेष्टमनिष्टेनाननुबिद्धं सम्भवतीति इष्टमप्यनिष्टं सम्पद्यते ।
 अनिष्टहानाय घटमान इष्टमपि जहाति । विवेकहानस्या-
 शक्यत्वादिति । * दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः । * यथा
 दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यं सुखं कामयते, एवं
 देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रिय-
 बुद्ध्यः कल्पयितव्याः । साधीयश्चैवं मुक्तस्य चैकात्म्यं कल्पितं
 भवतीति । * उपपत्तिविरुद्धमिति चेत्, समानम् । * देहादीनां
 नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं, कल्पयितुमशक्यमिति ; समानम् ।
 सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति ।
 * आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमेऽपि सत्त्व-
 विरोधः । * यद्यपि कश्चिदगमः स्यात्मुक्तस्याऽऽत्यन्तिकं सुख-
 मिति । सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते ।
 दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुलं लोक इति । * नित्य-
 सुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभावो रागस्य बन्धनसमा-
 ख्यानात् । * यद्ययं मोक्षे नित्यं सुखमभिव्यज्यत इति नित्य-
 सुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधिगच्छेन्नाधिगन्तु-
 मर्हतीति । बन्धनसमाख्यातो हि रागः । न च बन्धने
 सत्त्वपि कश्चिन्मूढ इत्युपपद्यत इति । * प्रहीणनित्यसुखराग-
 स्याप्रतिकूलत्वम् । * अथास्य नित्यसुखरागः प्रहीयते, तस्मिन्
 प्रहीणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिकूलो भवति । यद्येवं मुक्तस्य
 नित्यं सुखं भवति, अथापि न भवति, नास्योभयोः पक्षयो-
 र्मोक्षाधिगमो विकल्पत इति ॥ २२ ॥

जमानकालोनलध्वंसः, तस्य च जन्मापायादंश सन्धव इत्याशयेन "दुःखेन जन्मना-
 इत्यर्थं विमुक्तिः अपवर्गः" इति भाष्यम् । दुःखेन दुःखानुपाङ्गेष्वर्थः ॥ २२ ॥

समाप्तं प्रमदसचचप्रसारणम् ।

स्थानवत् एव तर्हि संशयस्य लक्षणं वाच्यमिति तदुच्यते—

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्धानुप-
लब्धव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥२३॥

समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति । स्थाणु-
पुरुषयोः समानं धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टञ्च तयो-
र्विशेषं बुभुक्षमानः किंस्विदित्यन्यतरन्नावधारयति । तदनव-
धारणं ज्ञानं संशयः । समानमनयोर्धर्ममुपलभे, विशेषमन्यतरस्य
नोपलभ इत्येषा बुद्धिरपेक्षा संशयस्य प्रवर्तिका वर्तते । तन्
विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः । अनेकधर्मोपपत्तेरिति । समान-
जातीयमसमानजातीयज्ञानेकम् । तस्यानेकस्य धर्मोपपत्तेः ।
विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् । समानजातीयेभ्योऽसमानजाती-
येभ्यश्चार्था विशिष्यन्ते । गन्धवत्त्वात् पृथिवी अवादिभ्यो
विशिष्यते, गुणकर्मभ्यश्च । अस्ति च शब्दे विभागजन्यत्वं
विशेषः । तस्मिन् द्रव्यं गुणः कर्म वेति सन्देहः । विशेषस्यो-
भयथा दृष्टत्वात् । किं द्रव्यस्य सतो गुणकर्मभ्यो विशेषः,
आहोस्विद्गुणस्य सतः ? इति ; अथ कर्मणः सतः ? इति, विशेषा-

ज्ञानप्राप्तं संशयं लक्षयति ।—संशय इति लक्ष्यनिर्देशः, विमर्श इत्यत्र “वि-शब्दो
विरोधार्थः, सञ्ज्ञिज्ञानार्थः” एकस्मिन् धर्मिणीति पूरणीयम् ; तेन “एकधर्मिणि
विरोधेन भावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः” । तत्र कारणमुखिनः विशेषलक्षणान्वाहः,—
समानेत्यादि । उपपत्तिज्ञानं, तथा च समानस्य विरुद्धकीटिद्वयसाधारणधर्मस्य,
ज्ञानादित्यर्थः, अनेकधर्मः असाधारणधर्मः, तज्ज्ञानादित्यर्थः, तथा च साधारण-
धर्मवद्वर्मिज्ञानजन्यः, असाधारणधर्मवद्वर्मिज्ञानजन्यस्येत्यर्थः, विप्रतिपत्तिर्विरुद्धकीटि-
द्वयोपस्थापकः शब्दः, तस्मादित्यर्थः । यद्यपि शब्दस्य न संशयकत्वं, तथाऽपि
शब्दात्कीटिद्वयोपस्थितो मानसः संशय इति वदन्ति । उपलब्धेज्ञानस्य, अनुपलब्धे-
र्व्यतिरेकज्ञानस्य याऽव्यवस्था सद्विषयकत्वानिर्धारणं, प्रामाण्यसंशय इति फलितोऽर्थः ।
अर्थः तु, उपलब्धव्यवस्था प्रामाण्यसंशयः, अनुपलब्धरूपलब्धिविरोधसमत्वं, तद-

विशेषा अन्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्मनोपलभे इति बुद्धिरिति । विप्रतिपत्तेरिति । व्याहृतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्तिः । व्याघातो विरोधोऽसहभाव इति । अस्यात्मेत्येकं दर्शनमाह । नास्यात्मेत्यपरम् । न च सद्भावासद्भावौ सहैकत्र सम्भवतः । न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते । तत्र तत्त्वानवधारणं संशय इति । उपलब्धव्यवस्थातः । खल्वपि सञ्चोदकमुपलभ्यते तडागादिषु । मरीचिषु वाऽविद्यमानमुदकमिति । ततः क्वचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः किं सदुपलभ्यते, अथासत् ? इति संशयो भवति । अनुपलब्धव्यवस्थातः । सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि । असच्चानुत्पन्नं विरुद्धं वा । ततः क्वचिदनुपलभ्यमाने संशयः । किं संज्ञोपलभ्यते, उतासत् ? इति संशयो भवति । विशेषापेक्षा पूर्ववत् । पूर्वः समानोऽनेकस्य धर्मो ज्ञेयस्थः । उपलब्धानुपलब्धौ पुनर्ज्ञातस्थे । एतावता विशेषेण पुनर्वचनम् । समानधर्माधिगमात् समानधर्मोपपत्तेर्विशेषस्मृत्यपेक्षो विमर्श इति ॥ २३ ॥

ज्ञानवतां लक्षणवचनमिति समानम्—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते, तत् प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वाऽध्यवसाय तदाप्तिहानीपायमनुतिष्ठति, प्रयोजनं तद्देदितव्यं प्रवृत्तितुहेत्वात् । इममर्थ-

व्यवस्था तत्संशय इत्याहुः । वस्तुतस्तु, प्रामाण्यसंशयस्य ° न संशयहेतुत्वं, किन्तु गृहीताप्रामाण्यज्ञानस्य विरोधितया, सति प्रामाण्यसंशये तज्ज्ञानस्याविरोधितया, साधारणधर्मदर्शनादित एव संशयोत्पत्तेरिति, उपलब्धौत्यादिकं तादृशस्थले संशयो भवतीत्येतावन्मात्रपरं, चकारो व्याप्यसंशयस्य व्यापकसंशयहेतुत्वं समुच्चिनोतीति वदन्ति । विशेषापेक्षः कीटिस्तरणसापेक्षः । वस्तुतस्तु, संशये धारावाहिकत्वं स्यादत आह—विशेषेति । “विशेषं विशेषदर्शनम्, अपेक्षते निवर्तकत्वेन”, तथा च, विशेषदर्शननिवर्त्यत्वं कथनमुखेन विशेषादर्शनजन्यसंशय इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

कस्यप्राप्तं प्रयोजनं लक्षयति ।—अधिकृत्य उद्दिश्य, तथा च प्रवृत्तितुहेच्छा-

माप्स्यामि हास्यामि वेति व्यवसायोऽर्थस्याधिकारः । एवं व्यवसायमानोऽर्थोऽधिक्रियत इति ॥ २४ ॥

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं,
स दृष्टान्तः ॥ २५ ॥

लोकसाम्यमनतीता लौकिकाः, नैसर्गिकं वैयर्थिकं बुद्ध्यति-
शयमप्राप्ताः, तद्विपरीताः परीक्षकाः, तर्केण प्रमाणैरर्थं परी-
क्षितुमर्हन्तीति । यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते, तथा परीक्षका
अपि, सोऽर्थो दृष्टान्तः । दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रति-
षेद्धव्या भवन्तीति । दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया
भवन्तीति । अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति ॥ २५ ॥

अथ सिद्धान्तः—

तन्वाधिकरणकाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥ २६ ॥

इदमित्यन्तश्चेत्यभ्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धं, सिद्धस्य
संस्थितिः सिद्धान्तः । संस्थितिरित्यन्भावव्यवस्था । धर्मनियमः ।

विषयत्वं प्रयोजनत्वम् ; विषयत्वं साध्यताऽऽख्यविषयताविशेषः, न तेन सुखाऽऽदि-
वारणम् ; प्रतिहेतुति स्वरूपकथनम् ; तच्चकंचूडामणिमुमेवादिप्राप्तिवारकं तदिति
केचित् । अत्र च निरूपधीच्छाविषयत्वात् सुखदुःखाभावयोर्मुख्यप्रयोजनत्वम् ;
तदुपायस्य तु तदिच्छाऽधीनेच्छाविषयत्वाद्गौणप्रयोजनत्वमिति ॥ २४ ॥

क्रमप्राप्तं दृष्टान्तं लक्षयति ।—लौकिकोऽप्राप्तशास्त्रपरिशौलनजन्यबुद्धिप्रकर्षः
प्रतिपाद्य इति फलितोऽर्थः, परीक्षकः शास्त्रपरिशौलनप्राप्तबुद्धिप्रकर्षः प्रतिपाद्यक
इति फलितार्थः, तथा च प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरिति पर्यवसन्नम् ; बहुवचनं कदा-
चिद्वृत्तमभिप्रेत्य, बुद्धेः साध्यसाधनोभयविषयिण्याः, तदभावविषयिण्या वा, साम्यं
अविरोधः, यच्चित्रार्थं सोऽर्थः, दृष्टान्तः ; वादिप्रतिवादिनोः साध्यसाधनोभयप्रकारक-
तदभावद्वयप्रकारकान्तरनिश्चयविषयो दृष्टान्त इति पर्यवसितोऽर्थः ॥ २५ ॥

समाप्तं न्यायपूर्वाङ्गप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तं सिद्धान्तं लक्षयति ।—तन्वां ज्ञात्वा, तदेवाधिकरणं ज्ञापकतया वक्ष्ये,

स खल्वयम् ;—तन्त्रार्थसंस्थितिस्तन्त्रसंस्थितिः । तन्त्रमितरे-
तराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रम् । अधिकरणानु-
प्रक्तार्था संस्थितिरधिकरणसंस्थितिः । अभ्युपगमसंस्थितिरनव-
धारितार्थपरिग्रहः तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ २६ ॥

तन्त्रभेदान्तु खलु स चतुर्विधः—

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्था-
न्तरभावात् ॥ २७ ॥

तत्रैताश्चतस्रः संस्थितयोऽर्थान्तरभूताः ॥ २७ ॥

तासाम्—

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृततोऽर्थः सर्वतन्त्र-
सिद्धान्तः ॥ २८ ॥

यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादय इन्द्रियार्थाः, पृथिव्या-
दीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति ॥ २८ ॥

सादृशीऽस्य योऽभ्युपगमः, तस्य समीचीनतयाऽसंशयरूपतया स्थितिः, तथा च “शास्त्रि-
तार्थनिश्चयः सिद्धान्तः” । अत्र च “अभ्युपगमस्यमानोऽर्थः सिद्धान्तः” इति भाष्यम्,
“अभ्युपगमः सिद्धान्तः” इति वार्त्तिकटीके ; न चात्र विरोधः शङ्कनीयः, आचार्यैः
परिहृतत्वात् । तथा च तिसृष्वीनिबन्धः,—“अर्थोभ्युपगमयोगेणप्रधानभावस्य विवक्षा”
तन्त्रत्वादर्थोभ्युपगमोऽभ्युपगम्यमानो वाऽर्थः सिद्धान्तः, तेन सूत्रमाध्यवार्त्तिकटीकासु न
विरोधः । अत्र च भाष्यानुसारात्सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसिद्धान्तान्यतमः
सिद्धान्त इति सूत्राद्ये इति तु न युक्तम्, अयिमसूत्रानुत्थानाऽऽपत्तेः, तन्त्रसिद्धान्तत्वेन
इयमनुगमस्य तन्त्राधिकरणाभ्युपगमान्यतमः सिद्धान्त इति कश्चित् ॥ २९ ॥

विभजति ।—स चतुर्विध इति शेषः, सर्वतन्त्राऽऽदिसंस्थितोनामर्थाधिकारभावात्
भेदादित्यर्थः ॥ २७ ॥

सर्वतन्त्रसिद्धान्तं खल्वयति ।—सर्वतन्त्राविरुद्धः सर्वशास्त्राभ्युपगम इति बहवः ।
वस्तुतो यथानुत एवाद्यैः, अन्यथा, तन्त्रेऽधिकृत इत्यस्य वैयर्थ्याऽऽपत्तेः ; अत एव, ज्ञात्वा-
देरसदुत्तरत्वंमपि सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । न च “तन्त्रेऽधिकृत इति स्पष्टार्थे, खल्वये तु न

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्र-
सिद्धान्तः ॥ २६ ॥

यथा नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानं, निरतिशया-
चेतनाः, देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेषः, इति
साङ्गानाम् । पुरुषकर्मनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः
प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाचेतनाः, असदुत्पद्यते, उत्पन्नं निरुध्यते,
इति योगानाम् ॥ २६ ॥

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरण-
सिद्धान्तः ॥ ३० ॥

यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुषज्यन्ते, न तैर्विना सोऽर्थः
सिध्यति, तेऽर्था यदधिष्ठानाः, सोऽधिकरणसिद्धान्तः । यथा
देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता, दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति ।

‘देयमेव’ इति वार्त्तं, ‘मनस इन्द्रियत्वस्यापि सर्वतन्त्रसिद्धान्तताऽपत्तेः ।
नव्यास्तु, नृवस्योपलक्षणमात्रत्वाद्वादिप्रतिवाद्युभयाभ्युपगतः कथाऽनुकूलोऽर्थः स इति
वदन्ति ॥ २८ ॥

प्रतितन्त्रसिद्धान्तं लक्षयति ।—समानशब्द एकार्थः, तेनैकतन्त्रसिद्ध इत्यर्थः,
स्वतन्त्रसिद्ध इति पर्यवसितोऽर्थः, तथा च वादिप्रतिवाद्येकतरमात्राभ्युपगत-
सादेकतरस्य प्रतितन्त्रसिद्धान्त इति फलितार्थः, यथा मीमांसकानां शब्दे
नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

अधिकरणसिद्धान्तं लक्षयति ।—यस्यार्थस्य सिद्धौ जायमानायामेव, अन्यस्य
प्रकरणस्य प्रस्तुतस्य, सिद्धिर्भवति, सोऽधिकरणसिद्धान्त इत्यर्थः । यथा अनन्तदाणु-
कादिकं पक्षीकृत्योपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वे साध्यमाने, सर्व-
ज्ञत्वमीशस्य । एवं हेतुत्वादपि, यथा दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिन्द्रियादि-
व्यतिरिक्त आत्मानि साधिते, इन्द्रियनानात्वम् ; तथा च यदर्थसिद्धिं विना योऽर्थः
शब्दादनुमानाद्वा न सिध्यति, सोऽधिकरणसिद्धान्त इति । वस्तुतस्तु, शब्दत्वमनु-
मानत्वञ्चाविवक्षितं, प्रमाणमात्रमपेक्षितम्, अत एव प्रत्यक्षेण स्थूलत्वसाधनानन्तर-

अत्रानुषङ्गिणोऽर्थाः, इन्द्रियनानात्वम् । नियतविषयाणोन्द्रियाणि
स्वविषयग्रहणलिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि, गन्धादिगुण-
व्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणम् ; नियतविषयास्वेतना इति ।
पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिध्यन्ति, न तैर्विना सोऽर्थः सम्भव-
तीति ॥ ३० ॥

**अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्यु-
पगमसिद्धान्तः ॥ ३१ ॥**

यत्र किञ्चिदर्थजातमभ्युपगम्यते, अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु
नित्योऽथानित्य इति । द्रव्यस्य सतो नित्यताऽनित्यता वा
तद्विशेषः परीक्ष्यते । सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः । स्वबुद्धरतिशय-
चिह्न्यापयिषया परबुद्धरवज्ञानाच्च प्रवर्तत इति ॥ ३१ ॥

मुक्तमात्मतत्त्वविवेके,—“सोऽयमधिकरणसिद्धान्तन्यायेन स्थूलत्वसिद्धौ लघुमङ्गलः”
इति, तत्र च “वाक्यार्थसिद्धौ तदनुषङ्गो यो यः, सोऽधिकरणसिद्धान्तः” इति
वाचिंश फलिता लिखित्वा “येन केनापि प्रमाणेन वाक्यार्थसिद्धौ जन्यमानाथो
सोऽन्योऽर्थः सिध्यति, स तथेत्यर्थः,” इति व्याख्यातं दीक्षितकृता । “एवं
हेतुरीदृशः पञ्च वाक्यार्थः” इति टीकावचने च उपलक्षणेन तदित्युक्तं, तत्र तत्र
विशिष्टैव लक्षणं कार्यम् । यत्तु जनकोभूतव्यापकताज्ञाने व्यापककोटावविषयः
प्रकृतानुमित्या व्यापककोटौ विषयीकृतः, शब्दजनकपदार्थज्ञानाविषयत्वे सति
शब्दविषयश्चेति वक्ष्यमधिकरणसिद्धान्त इति, तत्र, इन्द्रियनानात्वाऽऽदौ भाष्याद्युदा-
हृतैऽन्यातेरिति ॥ ३० ॥

अभ्युपगमसिद्धान्तं लक्षयति ।—अपरीक्षितस्य साक्षादसूत्रितस्य, विशेषपरीक्ष-
विशेषधर्मकचनम्, अभ्युपगमादिति ज्ञापकत्वे पञ्चमी, अभ्युपगमज्ञापकमित्यर्थः,
विशेषपरीक्षणाज्ञायने स्वकृतोऽभ्युपगतमिदमिति, तथा च साक्षादसूत्रिताभ्युपगमो-
ऽभ्युपगमसिद्धान्तः, यथा मनस इन्द्रियत्वमिति ॥ ३१ ॥

समाप्तं न्यायसिद्धान्तलक्षणप्रकरणम् ।

अथावयवाः ।—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्च्यते । जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनं, संशयव्युदास इति । ते कस्मान्नोच्यन्त इति ? तत्राप्रतीयमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा ; अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते ? तं तत्त्वतो ज्ञातं ह्यास्यामि वोपादास्ये वा, उपेक्षित्ये वेति । ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्ध्यस्तत्त्वज्ञानस्यार्थः, तदर्थमयं जिज्ञासते, सा स्वस्वियमसाधनमर्थस्येति । जिज्ञासाऽधिष्ठानं संशयश्च व्याहतधर्मोपसङ्घातात् तत्त्वज्ञाने प्रत्यासन्नः । व्याहतयोर्हि धर्मयोरन्यतरत्तत्त्वं भवितुमर्हतीति, स पृथगुपदिष्टोऽप्यसाधनमर्थस्येति । प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानि, सा शक्यप्राप्तिर्न साधकस्य वाक्यस्य भागेन युज्यते, प्रतिज्ञाऽऽदिवदिति । प्रयोजनं तत्त्वावधारणमर्थसाधकस्य वाक्यस्य फलं, नैकदेश इति । संशयव्युदासः प्रतिपक्षापवर्जनं, तत्प्रतिषेधेन तत्त्वज्ञानाभ्यनुज्ञानार्थं, न त्वयं साधकवाक्यैकदेश इति । प्रकरणे तु जिज्ञासाऽऽदयः समर्थाः अवधारणीयार्थोपकाराः । अर्थसाधकाभावात् प्रतिज्ञाऽऽदयः साधकवाक्यस्य भागाः एकदेशा अवयवा इति ॥ ३२ ॥

क्रमप्राप्तानवयवान् खल्वयतुं विभजते ।—अनेन विभागेन प्रतिज्ञाऽऽद्यन्तमन्वयवयवत्वमिति खल्वयं सूचितम् । अत्र च प्रतिज्ञाऽऽदोनां पञ्चानामवयवत्वकथनाद्दशावयववादो व्युदस इति मन्वयम् ; ते च यथा दर्शिता भाष्ये,—“जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदासश्च” इति, एते प्रतिज्ञाऽऽदिसङ्ख्या दश । व्याख्याताश्च ये ताम्पठ्यंटीकायाम् ;—प्रयोजनं ज्ञानाऽऽदिव्युदसः, तत्प्रवर्तिका जिज्ञासा, तज्जनकः संशयः, शक्यप्राप्तिः प्रमाणाणां ज्ञानजननसामर्थ्यं, संशयव्युदाससकः” । अत्रमेवार्थो निबन्धे निरुद्धः । जिज्ञासा विप्रतिपत्तिरिति कश्चित् । एतेषाञ्च न न्यायावयवत्वं, न्यायाघटकत्वात् । न च न्यायमन्वयोपाधतुल्यत्वेनैवावयवत्वम्, एवमेवस्यापि तत्त्वप्रसङ्गात्, प्रयोजनेऽव्याप्तिश्च ॥ ३२ ॥

तेषान्तु यथाविभक्तानाम्—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं
प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः । अनित्यः शब्द इति ॥ ३३ ॥

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३४ ॥

उदाहरणेन सामान्यात् साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं
हेतुः । साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य
साधनतावचनं हेतुः । उत्पत्तिधर्मकत्वादिति । उत्पत्तिधर्म-
कमनित्यं दृष्टमिति ॥ ३४ ॥

किमेतावद्धेतुलक्षणमिति ? नेत्युच्यते, किं तर्हि ?—

तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः । कथम् ? अनित्यः
शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् । अनुव्यत्तिधर्मकं नित्यम् । यथा-
ऽऽत्मादि द्रव्यमिति ॥ ३५ ॥

प्रतिज्ञां लक्षयति ।—साधनीयस्यार्थस्य यी निर्देशः, स प्रतिज्ञा; साधनीयश्च वङ्गि-
मत्त्वाऽऽदिना पर्वताऽऽदिः, तथा च पक्षताऽवच्छेदकविशिष्टपक्षे साध्यताऽवच्छेदक-
विशिष्टवैशिष्ट्यबोधकशब्द इत्यर्थः, निगमनवारणाय च साध्यांशे साध्यताऽवच्छेदकाति-
रिक्ताप्रकारकत्वं वाच्यं, तदर्थश्च साध्यताऽवच्छेदकप्रकारताविलक्षणप्रकारताशून्यत्वम्;
तेन प्रमेयवतः साध्यत्वे नासिद्धिः । उदासीनवाक्यवारणाय च न्यायान्तर्गतत्वे
सतीति विशेषणीयम्; न्यायान्तर्गतत्वे सति प्रकृतपक्षताऽवच्छेदकावच्छिन्नपक्षक-
प्रकृतसाध्यताऽवच्छेदकावच्छिन्नसाध्यविषयताविलक्षणविषयताकबोधजनकत्वे सति
प्रकृतपक्षे प्रकृतसाध्यबोधजनकत्वं तत् प्रतिज्ञाऽवयवत्वादिकं, परिभाषाविशेष-
विषयत्वरूपं तत्तद्वाक्यविरूपेणैव वदन्ति ॥ ३६ ॥

क्रमप्राप्तं हेतुं लक्षयति विभजते च सूत्राभ्याम् ।—अत्र साध्यसाधनं हेतुरिति
सामान्यलक्षणम्; साध्यसाधनं साध्यसिद्धानुसूत्रज्ञापकत्वबोधकः इत्यर्थः, तथा च
साध्यताऽवच्छेदकावच्छिन्नसाध्यान्वितज्ञापकत्वबोधकः साध्यान्वितसाध्यबोधकोऽवयवो
वा इति फलितार्थः । तस्य वैविध्यमाह,—उदाहरणसाधर्म्यात् तथा वैधर्म्यादिति,

साध्यसाधर्म्यात् तद्वर्मभावी दृष्टान्त उदा-

हरणम् ॥ ३६ ॥

साध्येन साधर्म्यं समानधर्मता । साध्यसाधर्म्यात् कारणात्
तद्वर्मभावी दृष्टान्त इति । तस्य धर्मस्तद्वर्मः । तस्य साध्यस्य ।
साध्यञ्च द्विविधम् । धर्मविशिष्टो वा धर्मः, शब्दस्यानित्यत्वम् ।
धर्मविशिष्टो वा धर्मी, अनित्यः शब्द इति । इहोत्तरं तद्व्यहणेन
गृह्यत इति । कस्मात् ? पृथग्धर्मवचनात् । तस्य धर्म-
स्तद्वर्मः, तस्य भावस्तद्वर्मभावः, स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्तते, स
दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यात् तद्वर्मभावी भवति । स चोदाहरण-
मिष्यते । तत्र यदुत्पद्यते, तदुत्पत्तिधर्मकं, तच्च भूत्वा न
भवति, आत्मानं जहाति, निरुध्यत इत्यनित्यम् । एवमुत्पत्ति-
धर्मकत्वं साधनम्, अनित्यत्वं साध्यम् ; सोऽयमेकस्मिन् द्वयो-
र्धर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद् व्यवस्थित उपलभ्यते । तं
दृष्टान्ते उपलभमानः शब्देऽप्यनुमिनोति । शब्देऽप्युत्पत्ति-
धर्मकत्वादनित्यः । स्याद्यादिवदित्युदाह्रियते । तेन धर्मयोः
साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम् ॥ ३६ ॥

साधर्म्यमन्वयः, वैधर्म्यं व्यतिरेकः, तादृशव्याप्तिरिति फलितार्थः । उदाहरणसाधर्म्यं
उदाहरणबोधान्वयव्याप्तिः, ततोऽन्वयी हेतुर्ज्ञातव्यः, उदाहरणेति स्पष्टार्थः ; तथा
च ज्ञातान्वयव्याप्तिकहेतुबोधको हेत्ववयवः, अज्ञातव्यतिरेकव्याप्तिकहेतुबोधको
हेत्ववयव इति फलितार्थः । एवमप्रतीतान्वयव्याप्तिकहेतुबोधको हेत्ववयवो व्यतिरेकी
हेतुः, इत्यमेव प्रतीतान्वयव्यतिरेकव्याप्तिकहेतुबोधको हेत्ववयवोऽन्वयव्यतिरेकीत्यपि
सूचितमिति वदन्ति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

क्रमप्राप्तमुदाहरणं लक्षयति ।—दृष्टान्त उदाहरणमिति लक्ष्यम् ; दृष्टान्तो
दृष्टान्तवचनं, दृष्टान्तकथनयोग्यावयव इत्यर्थः, तेन दृष्टान्तस्य सामयिकत्वेनासार्व-
त्रिकत्वेऽपि न क्षतिः, योग्यताऽवच्छेदकत्वं अवयवान्तरार्थान्विताथंकावयवत्वम् ;
तच्च द्विविधम्, अवयवव्यतिरेकिभेदात् ; तत्रान्वयमुदाहरणं लक्षयति, साध्यसाधर्म्यात्तद्वर्मः

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

दृष्टान्त उदाहरणमिति प्रकृतम् । साध्यवैधर्म्यात् अतद्धर्मभावी
 दृष्टान्त उदाहरणमिति । अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्,
 अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्माऽऽदि । सोऽयमात्माऽऽदिर्दृष्टान्तः
 साध्यवैधर्म्यादनुत्पत्तिधर्मकत्वादतद्धर्मभावी । योऽसौ साध्यस्य
 धर्मोऽनित्यत्वं, स तस्मिन् न भवतीति । अत्राऽऽत्माऽऽदौ दृष्टान्ते
 उत्पत्तिधर्मकत्वस्याभावादनित्यत्वं न भवतीति उपलभमानः
 शब्दं विपर्ययमनुमिनोति । उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यः
 शब्द इति । साधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त
 उदाहरणम् । वैधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त
 उदाहरणम् । पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ
 पश्यति, साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति । उत्तरस्मिन्
 दृष्टान्ते ययोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति, तयोरेक-
 स्याभावादितरस्याभावं साध्ये अनुमिनोतीति । तदेतद्देत्वा-
 भासेषु न सम्भवतीत्यहेतवो हेत्वाभासाः । तदिदं हेतूदा-
 हरणयोः सामर्थ्यम्परमसूक्ष्मं दुःखबोधं पण्डितैरुपवेद-
 नीयमिति ॥ ३७ ॥

भावीति, अन्यव्युदाहरणमिति शेषः । परे तु सेव्यं त्वमन्यव्युदाहरणलक्षणमेव,
 सामान्यलक्षणलक्षितमित्याहुः । साध्यसाधर्म्यात् साध्यसदृशरितपक्षात्, प्रकृतसाधना-
 दित्यर्थः, तं साध्यरूपं धर्मं भावयति, तथा च साधनवत्ताप्रयुक्तसाध्यवत्ताऽनुभावको-
 ऽवयवः साध्यसाधनव्याप्त्युपदर्शकोदाहरणमिति यावत् ॥ ३६ ॥

व्यतिरेक्युदाहरणं लक्षयति ।—तद्विपर्ययात् साध्यसाधनव्यतिरेकव्याप्ति-
 प्रदर्शनात्, तथा च साध्यसाधनव्यतिरेकव्याप्त्युपदर्शकोदाहरणं व्यतिरेक्युदाहरणम् ;
 यथा जीवच्छरीरं साऽऽत्मकं, प्राणादिमत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घट इति,
 वाऽऽकारः प्रयोगमपेक्ष्य, न तु लक्षणावयवो, तथा चान्यव्युदाहरणं व्यतिरेक्युदाहरणं
 वा प्रतीक्यमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा
साध्यस्योपनयः ॥ ३८ ॥

उदाहरणापेक्ष उदाहरणतन्त्रः उदाहरणवशः । वशः
सामर्थ्यम् । साध्यसाधर्म्ययुक्ते उदाहरणे स्थाव्यादिद्रव्यमुत्पत्ति-
धर्मकमनित्यं दृष्टं, तथा शब्द उत्पत्तिधर्मक इति, साध्यस्य
शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंक्रियते । साध्यवैधर्म्ययुक्ते पुनरुदा-
हरणे आत्माऽऽदिद्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टं, न च तथा शब्द
इति, अनुत्पत्तिधर्मकत्वस्योपसंहारप्रतिषेधेनोत्पत्तिधर्मकत्वमुप-
संक्रियते । तदिदमुपसंहारहेतुमुदाहरणहेताङ्गवति । उपसंक्रि-
यतेऽनेनेति चोपसंहारो वेदितव्य इति । द्विविधस्य पुनर्हेतो-
र्विविधस्य चोदाहरणस्योपसंहारहेतुश्च समानम् ॥ ३८ ॥

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निग-
मनम् ॥ ३९ ॥

साधर्म्योक्ते वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंक्रियते ।

क्रमप्राप्तमुपनयं लक्षयति ।—साध्यस्य पक्षस्य, उदाहरणापेक्ष उदाहरणानुसारी,
य उपसंहार उपन्यासः, प्रकृतोदाहरणोपदर्शितव्याप्तिविशिष्टहेतुविशिष्टपक्षविषयक-
बोधजनको न्यायावयव इत्यर्थः, निगमनं हेतुविशिष्टत्वेन न पक्षबोधकं, किन्तु
पक्षवृत्तिहेतुबोधकमिति तदुदासः । अत्र चान्वयव्यतिरेकव्याप्तीरन्तरत्वादिना-
ऽनुगतः कार्यः, उदाहरणोपदर्शितेति तु परिचायकमात्रमिति तु न वाच्यम्,
उदाहरणविपरीतव्याप्तापदर्शकोपनयवारकत्वात् । यस्तुतोऽवयवपदेनैव तदुदासः ।
स चोपनयो द्विविधोऽन्वयव्यतिरेकिभेदान्, तथेति साध्यस्योपसंहारोऽन्वयुपनयः,
न तथेति साध्यस्योपसंहारी व्यतिरेक्युपनयः, अत्र च तथाशब्दप्रयोगाऽऽवश्यकत्वे न
तात्पर्यं, किन्तु व्याप्तिविशिष्टहेतुसत्त्वबोधे ; तथा च वक्ष्यव्याप्यधूमवांशायमिति वा,
तथा चायमिति बोधन्यासः । एवं व्यतिरेकिण्यपि, वज्रभावव्यापकौभूताभावप्रतिधोनि-
धूमवांशायमिति वा, न तथेति बोधन्यासः ॥ ३९ ॥

निगमनं लक्षयति ।—हेतोर्व्याप्तिविशिष्टपक्षार्थस्य, अपदेशः कथनं, प्रतिज्ञायाः

तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादित्यः शब्दः इति निगमनम् । निग-
म्यन्तेऽनेनेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम् ।
निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते सम्बध्यन्ते । तत्र साधर्म्योक्ते तावहेतौ
वाक्यमनित्यः शब्दः इति प्रतिज्ञा । उत्पत्तिधर्मकत्वादिति
हेतुः । उत्पत्तिधर्मकं स्थाव्यादिद्रव्यमनित्यमित्युदाहरणम् ।
तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्द इत्युपनयः । तस्मादुत्पत्तिधर्मक-
त्वादित्यः शब्द इति निगमनम् । वैधर्म्योक्तेऽपि अनित्यः शब्दः,
उत्पत्तिधर्मकत्वात् ; अनुत्पत्तिधर्मकमाऽऽत्मादिद्रव्यं नित्यं
दृष्टं, न च तथाऽनुत्पत्तिधर्मकः शब्दः, तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वाद-
नित्यः शब्द इति । अवयवसमुदाये च वाक्ये सम्भूय इतरे-
तराभिसम्बन्धात् प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति । सम्भवः ताव-
च्छब्दविषया प्रतिज्ञा, आप्तोपदेशस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रति-
सम्भानादनृषेश्च स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः अनुमानं हेतुः । उदाहरणे
सादृश्यप्रतिपत्तेः । तत्रोदाहरणं भाष्ये व्याख्यातम् ; प्रत्यक्ष-
विषयमुदाहरणं, दृष्टेनादृष्टसिद्धेः । उपमानमुपनयः, तथेत्युप-
संहारात्, न च तथेत्युपमानधर्मप्रतिषेधे विपरीतधर्मोपसंहार-
सिद्धेः । सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति ।
इतरेतराभिसम्बन्धेऽप्यसत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न
प्रवर्तन् । असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्यते ? उदाहरणे
साध्ये च कस्योपसंहारः स्यात् ? कस्य चापदेशात् प्रतिज्ञायाः
पुनर्वचनं निगमनं स्यादिति ? असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं
वैधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत ? कस्य वा साधर्म्यवशादुप-
संहारः प्रवर्तते ? उपनयनञ्चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको
धर्मो नार्थं साधयेत् । निगमनाभावे वाऽनभिव्यक्तसम्बन्धानां

प्रतिज्ञार्थस्य साध्यविशिष्टपक्षस्य, वचनं निगमनम् ; तथा च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म-
हेतुकथनपूर्वकसाध्यविशिष्टपक्षप्रदर्शकः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्महेतुसाध्यसाध्यविशिष्टपक्ष-

प्रतिज्ञादीनामेकार्थं न प्रवर्त्तनम् । तथेति प्रतिपादनं कस्येति ?
 * अथावयवार्थः * साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा सम्बन्धोपादानं
 प्रतिज्ञार्थः । उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा धर्मस्य
 साधकभाववचनं हेत्वर्थः । धर्मयोः साध्यसाधनभावप्रदर्शन-
 मेकत्रोदाहरणार्थः । साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण
 सामानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः । उदाहरणस्योर्ध्वधर्मयोः
 साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं
 निगमनम् । न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्य-
 वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं
 प्रक्रमते । अव्यवस्थाय खलु साध्यसाधनभावमुदाहरणे
 जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते । व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्य-
 साधनभावे दृष्टान्तस्ये गृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्मस्य हेतुत्वे-
 नोपादानं, न साधर्म्यमात्रस्य न वैधर्म्यमात्रस्य वेति ॥ ३८ ॥

अत ऊर्ध्वं तर्को लक्षणीय इति । अथेदमुच्यते—

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणीपपत्तितत्त्वज्ञानार्थ-
 मूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा तावज्जायते, जानीयेम-
 मर्थमिति । अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहृतौ धर्मौ विभागेन
 विवृण्वति, किंखिदित्यम् ? आहोस्विन्नैत्यम् ? इति । विवृण्व-
 मानयोर्धर्मयोरेकं कारणीपपत्त्याऽनुजानाति, सम्भवत्यस्मिन्

बोधकसादृशसाध्यबोधको वा न्यायावधौ निगमनमिति । अस्य त्वन्वयिव्यतिरेकि-
 भेदान्न भेद इत्याशयः । व्यतिरेकिणि तु तस्मान्न तथैवेवाऽऽकार इत्यपरे ॥ ३९ ॥

समाप्तं न्यायस्वरूपप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तं तर्कं लक्षयति ।—तर्कं इति लक्ष्यनिर्देशः, कारणीपपत्तिं ऊह इति
 लक्ष्यम्, अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे तत्त्वज्ञानार्थमिति प्रयोजनकथनम् । कारणं व्याप्यं,
 लक्षणीपपत्तिरारोपः तस्मान्, ऊह आरोपः, अथाप्रापकस्य ; तथा च व्यापकाभावे-

कारणं प्रमाणं हेतुरिति । कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतच्चेतरदिति । तत्र निदर्शनम् । योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते, तच्च भोः ! जानीयेति जिज्ञासा । स किमुत्पत्तिधर्मकोऽनुत्पत्तिधर्मक इति विमर्शः । विमृश्यमानेऽविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञा-कारणमुपपद्यते, तमनुजानाति । यद्ययमनुत्पत्तिधर्मकः, ततः स्वकृतस्य कर्मणः फलमनुभवति ज्ञाता । दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरमुत्तरं पूर्वस्य पूर्वस्य कारणमुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः, इति स्यातां संसारापवर्गो, उत्पत्तिधर्मके ज्ञातरि पुनर्न स्याताम् । उत्पन्नः खलु ज्ञाता देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः सम्बध्यत इति । नास्येदं स्वकृतस्य कर्मणः फलम् । उत्पन्नञ्च भूत्वा न भवतीति । तस्याविद्यमानस्य निरुद्धस्य वा स्वकृतकर्मणः फलोपभोगो नास्ति । तदेवमेकस्यानेकशरीरयोगः शरीरादिवियोगश्चात्यन्तं न स्यादिति । यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति, तस्मानुजानाति । सोऽयमेवंलक्षण ऊहस्तर्क इत्युच्यते । कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थः ? न तत्त्वज्ञानमेवेति, अनवधारणात् । अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं, कारणोपपत्त्या न त्ववधारयति, न व्यवस्यति, न निश्चिनोति एवमेवेदमिति । कथं तत्त्वज्ञानार्थ इति ?

वत्त्वेन निर्णीते व्याप्यस्याऽऽहाव्याऽऽरीपादयः व्यापकस्याऽऽहाव्याऽऽरीपः, स तर्कः; यथा निर्वहिलाऽऽरीपान्निर्धूमत्वाऽऽरीपः, निर्वह्निः स्यान्निर्धूमः स्यादित्यादि । ऋदो निर्वह्निः स्यान्निर्धूमः स्यादित्यादिवारणाय, व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णीत इति । निर्वह्निः स्यात् अद्रव्यं स्यादित्यादिवारणाय, व्याप्यस्येति । तद्व्याप्याऽऽरीपाधीनसदारीप इत्यर्थलाभाय, व्यापकेति । न चानुमानादितोऽर्थसिद्धेस्तर्को व्यर्थ इति ताव्यम्, अप्रयोजकत्वादिशब्दाकल्पादितेन हेतुनाऽर्थस्य साधयितुमशक्यत्वात्, तदेतदुक्तम् “अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे, तत्त्व-ज्ञानार्थम्” इति ।—तत्त्वनिर्णयार्थमित्यर्थः । यत्र नाप्रयोजकत्वाद्याशब्दा, तत्र नापेक्षा एवेति भावः । परे तु, ऊह इत्येव लक्षणम्, ऊहत्वञ्च, मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषः; तर्क्यामीत्यनुभवसिद्धः । तर्कः किं स्वत एव निर्णायकः, परम्परया वा ? इत्यत आह,—कारणेति ।—कारणस्य व्याप्तिज्ञानादेरुपपादनद्वारेत्यर्थः, तथा च धर्मो यदि वङ्गि-

तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञानक्षयानुग्रहोद्भावितात्, प्रसङ्गादनन्तर-
प्रमाणतामर्थ्यात् तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थ इति ।
सोऽयं तर्कः प्रमाणानि प्रतिसन्धानः प्रमाणाभ्यनुज्ञानात् प्रमाण-
सहितो वादे उपदिष्ट इत्यविज्ञाततत्त्वमनुजानातीति । यथा
सोऽर्थो भवति । तस्य यथाभावस्तत्त्वमविपर्ययो याथातथ्यम् ॥ ४० ॥

एतस्मिंश्च तर्कविषये—

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थ्यावधारणं निर्णयः ॥ ४१ ॥

स्थापना साधनं, प्रतिषेध उपालम्भः, तौ साधनोपालम्भौ
पक्षप्रतिपक्षाऽऽश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्तमानौ पक्षप्रति-
पक्षावित्युच्येते । तयोरन्यतरस्य निवृत्तिरेकतरस्यावस्थानम्
अवश्यम्भावि । यस्यावस्थानं तस्यावधारणं निर्णयः । नेदं पक्ष-
प्रतिपक्षाभ्यामर्थ्यावधारणं सम्भवतीति । एको हि प्रतिज्ञातमर्थं
अभिचारो ज्ञातुः, वृज्जिज्ज्यो न ज्ञातुः, इत्यनेन व्यभिचारग्रहानिरासे, निरङ्कुशेन
न्यायिज्ञानेनानुमितिरिति परम्परयैवास्मिपयोग इत्याहुः । स चायं पक्षविधः,
आत्माऽऽश्रयान्बोऽन्वाऽऽश्रयचक्रकानवस्थातदन्यवाधितार्थप्रसङ्गभेदात् । स्वस्य स्वापेक्षिते-
ऽनिष्टप्रसङ्ग आत्माऽऽश्रयः । स च उत्पत्तिस्थितिज्ञप्तिद्वारा वेधाः ; यथा, यद्ययं घट
एतद्वटजन्मः स्यात्, तस्मैतद्वटानधिकारबन्धनोत्तरवर्ती न स्यात् । यद्ययं घट एतद्वटवृत्तिः
स्यात्, एतद्वटव्याप्यो न स्यात् । यद्ययं घट एतद्वटज्ञानाभिन्नः स्यात्, ज्ञानसासयोजन्मः
स्यात्, एतद्वटभिन्नः स्यादिति वा सर्वत्राऽऽपाद्यम् । तदपेक्ष्यपेक्षितनिबन्धनी-
ऽनिष्टप्रसङ्गोऽन्वोऽन्याश्रयः । सोऽपि पूर्ववत् वेधा । तदपेक्ष्यपेक्ष्यपेक्षितनिबन्धनी-
ऽनिष्टप्रसङ्गः चक्रबन्धः ; चतुःकक्षादावपि स्वस्य स्वापेक्ष्यपेक्ष्यपेक्षितनिबन्धनी-
ऽनिष्टप्रसङ्गः पूर्ववत् वैविध्यम् । अव्यवस्थितपरम्पराऽऽरोपाधीनानिष्टप्रसङ्गोऽनवस्था,
वशा, यदि घटत्वं घटजन्मत्वव्याप्यं स्यात्, कृपाक्षसमवेतत्वव्याप्यं न स्यात् । तदन्व-
वाधितार्थप्रसङ्गस्तु, धूमो यदि वृज्जिव्यभिचारो स्यात्, वृज्जिज्ज्यो न स्यादित्यादि ।
प्रवर्तनीयस्थितत्वोत्थर्गविनिवर्तमानाविरुद्धसाधनगौरवादिकन्तु प्रसङ्गानात्मकत्वात् न
तर्कः, किन्तु प्रमाणसङ्कारित्वरूपसाधन्यात् तथा व्यवहार इति सङ्केपः ॥ ४० ॥

ज्ञानप्राप्तं निर्वचं चक्षयति ।—विशेष्य सन्दिग्धः, पक्षप्रतिपक्षाभ्यां साधनी-
यावस्थाभ्याम्, उपालम्भः परपक्षदूषणम्, अर्थसावधारणं तदभावाप्रकारकं

हेतुतः स्थापयति, प्रतिषिद्धञ्चोद्धरतीति, द्वितीयस्य द्वितीयेन स्थापनाहेतुः प्रतिषिध्यते, तस्यैव प्रतिषेधहेतुञ्चोद्ध्रियते, स निवर्त्तते, तस्य निवृत्तौ योऽवतिष्ठते, तेनार्थावधारणं निर्णय इति । उभाभ्यामेवार्थावधारणमित्याह । कया युक्त्वा । एकस्य सम्भवो द्वितीयस्यासम्भवः ? तावेतौ सम्भवासम्भवी विमर्शं सह निवर्त्तयतः । उभयसम्भवे उभयासम्भवे त्वनिवृत्तौ विमर्श इति । विमृश्येति विमर्शं कृत्वा । सोऽयं विमर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य न्यायं प्रवर्त्तयतीत्युपादीयत इति । एतच्च विरुद्धयोरैकधर्मिस्थयोर्बोद्धव्यम् । यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ धर्मौ हेतुतः सम्भवतः, तत्र समुच्चयहेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्तिः । यथाक्रियावद्द्रव्यमिति लक्षणवचने यस्य द्रव्यस्य क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति, तत् क्रियावत्, यस्य न सम्भवति, तदक्रियमिति । एकधर्मिस्थयोश्च विरुद्धयोरयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः । यथा तदेव द्रव्यं क्रियायुक्तं क्रियावत्, अनुत्पन्नोपरतक्रियं पुनरक्रियमिति । न चायं निर्णये नियमः, विमृश्यैव पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति । किन्त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षेऽर्थावधारणं निर्णय इति । परीक्षाविषये तु, विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः, शास्त्रे वादे च विमर्शवर्जम् ॥ ४१ ॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य

प्रथममाह्निकम् ।

तत्प्रकारकं ज्ञानम् । यद्यप्येतावदेव निर्णयसामान्यलक्षणं, तथाऽपि विमृश्येत्यादिकं जल्पवितर्कास्त्रसौम्यनिर्णयमधिकृत्य, तदुक्तं भाष्ये,—“शास्त्रे वादे च विमर्शवर्जम्” इति । एवं प्रत्यक्षतः शब्दाच्च निर्णये न विमर्शपक्षप्रतिपक्षापेक्षेति ॥ ४१ ॥

समाप्तं न्यायीचराङ्गप्रकरणम् ।

इति श्रीविश्वनाथभट्टाचार्यकृतायां न्यायसूत्रवृत्तौ

प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयाऽऽह्निकम् ।

तिस्रः कथा भवन्ति, वादो जल्पो वितण्डा चेति । तासाम्—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः

पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥४२॥

एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीक-
भावात् । अस्यात्मा, नास्यात्मेति । नानाऽधिकरणी विरुद्धौ न
पक्षप्रतिपक्षौ । यथानित्य आत्मा, अनित्या बुद्धिरिति । परिग्रहो-
ऽभ्युपगमव्यवस्था । सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः । तस्य
विशेषणं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः, प्रमाणैस्तर्केण च साधन-
मुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति । साधनं स्थापना । उपालम्भः
प्रतिषेधः । एतौ साधनोपालम्भौ उभयोरपि पक्षयोर्व्यतिषक्ता-
वनुबद्धौ च, यावदेको निवृत्त एकतरो व्यवस्थित इति । निवृत्तस्थो-
पालम्भो व्यवस्थितस्य साधनमिति । जल्पे निग्रहस्थानविनियोगा-

प्रथमाऽऽह्निकेन सपरिकरे न्याये खचिते वादादिलक्षणाया द्वितीयाऽऽह्निकाऽऽरम्भः,
कल्पपरोक्षा च प्रसङ्गाद्विवक्ष्यति, तथा च कल्पपरोक्षासङ्कितवादादिलक्षणं द्वितीया-
ऽऽह्निकार्थः । तत्र चत्वारि प्रकरणानि ; वादो कथाप्रकरणं, ततो हत्वा-
भासप्रकरणं, कल्पप्रकरणं, दीपलक्ष्यप्रकरणेचेति । अत्र कथासामान्यस्यार्थं
विशेषो वादादिः, तथा च विभिः सूत्रैरेकं कथाप्रकरणम्, अन्यैकसूत्रस्य प्रकरण-
भावाभावादसङ्कतिः स्यात्, इत्याशयेनोक्तं भाष्यकृता,—“तिस्रः खलु कथा भवन्ति,
वादो जलो वितण्डा च” इति । तत्र तत्त्वनिर्णयविजयान्यतररूपयोग्यो न्यायानुगत-
वचनसन्दर्भः कथा । लौकिकविवादवारणाय न्यायेत्यादि ; यत्रैकेन न्यायः प्रयुक्तः,
अपरेण तु मतपरिग्रहोऽपि न कृतः, तद्वारणाय भाग्यं विशेषणमिति । कथा-
ऽधिकारिणस्तु तत्त्वनिर्णयविजयान्यतराभिलाषिणः सर्वजनसिद्धानुभवानपेक्षापिनः
श्रवणादिपटवः अक्षरवाच्यारिणः कथोपधिकव्यापारसमर्था इति ।

तत्र वादं लक्षयति ।—अत्र च वाद इति खल्यनिर्देशः, पक्षप्रतिपक्षौ विप्रति-
पक्षौ, तयोः परिग्रहः, तत्साधनोद्देश्यकोक्तिप्रत्युक्तिरूपवचनसन्दर्भः, तावन्मात्रं

दादे एतद्यतिषेधः । प्रतिषेधे कस्यचिदभ्यनुज्ञानार्थं सिद्धान्ताविरुद्ध इति वचनम् । “सिद्धान्तः स्यात् तद्विरोधी विरुद्धः” इति हेत्वाभासस्य नियहस्थानस्याभ्यनुज्ञावादे । पञ्चावयवोपपन्न इति हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनं हेतूदाहरणाधिकमधिकमिति चैतयोरभ्यनुज्ञानार्थमिति । अवयवेषु प्रमाणतर्कान्तिर्भावे पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणं साधनोपालम्भव्यतिषङ्गज्ञापनार्थम् । अन्यथोभावपि पक्षौ स्थापनाहेतुना प्रवृत्तौ वाद इति स्यात् । अन्तरेणाप्यवयवसम्बन्धं प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति दृष्टम् ; तेनापि कल्पेन साधनोपालम्भौ वादे भवत इति ज्ञापयति । कुलजातिनियहस्थानसाधनोपालम्भौ जल्प इति वचनाद्विनि-

कथाऽन्तरसाधारणम्, अत आह, — प्रमाणेत्यादि । प्रमाणतर्काभ्यां तद्रूपेषु ज्ञाताभ्यां, साधनोपालम्भौ यत्र सः । तथा च उभयमापि प्रमाणादिसहावे सति कोटिद्वयस्यापि सिद्धिः स्यात् अतस्तद्रूपेषु ज्ञाताभ्यामिति । ज्ञानमनादायै विवक्षितम्, उपा-
लम्भौ दूषणम् ; जल्पादौ तु प्रमाणाऽऽभासत्वादिना ज्ञाताभ्यामपि साधनोपालम्भौ भवत इति तद्वारणम् । इत्यत्र प्रमाणाऽऽभासत्त्वप्रकारकज्ञानविषयकरकसप्तवी-
पासम्बन्धयोग्यान्त्ये सतीत्यर्थः, तेन तादृशजन्यविशेषे नातिव्याप्तिः । तत्र च नियहस्थानविशेषनियमार्थं सिद्धान्तेत्यादिनिर्देशवचनम् । अन्ये तु तदपि अक्ष-
ण्टकमेव, तदर्थं तावन्मात्रनियहस्थानयोग्यत्वं तावदतिरिक्तनियहस्थानो-
पासायोग्यत्वं वा, नियहस्थानं प्रतिज्ञाहान्यादीनामैकैकं हत्वा तदुपन्यासायोग्यत्वमिति निष्कर्षः । तेनोक्तजन्यविशेषवारणमित्याहुः । सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यनेनापसिद्धान्तो-
द्भावनम् । पञ्चावयवोपपन्न इत्यनेन न्यूनाधिकीद्भावे, अवयवाऽऽभासस्य दृष्टान्तासिद्धा-
देरुद्भावनम् । प्रमाणेत्यनेन च प्रमाणाऽऽभासत्वेन हेत्वाभासानां तर्काऽऽभासस्य न्यो-
पासी नियम्यते । तथा चात्र हेत्वाभासन्यूनाधिक्यापसिद्धान्तरूपनियहस्थानवस्तुव्यो-
द्भावनमिति वदन्ति । वस्तुतस्तु वादस्य वीतरागकथालेन तत्त्वनिर्णयस्योद्देशतया पुन-
र्योषस्याविज्ञातार्थादेरिव न्यूनाधिकयोरपि उद्भावनमुचितम् । अत एव यथावयवा-
ऽऽवयवकत्वमपि भाष्यकारी नाशुभेन, हेत्वाभासाद्युद्भावेनापि च तदेव कल्पविषेदः,
यदि हेतुन्तरेणापि साधयितुं न शक्यते, इतरथा तु तद्वेत्तोरिव दृष्टत्वम् । इत्यत्र
पञ्चावयवोपपन्न इति प्रायिकलाभिप्रायेणेति तत्त्वम् । वादाधिकारिणस्तु तत्त्वमुक्तवः

ग्रहो जल्प इति मा विज्ञायि । कुलजातिनिग्रहस्थानसाधनो-
पालम्भो एव जल्पः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भो वाद एवेति मा
विज्ञायीत्येवमर्थं पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणमिति ॥ ४२ ॥

यथोक्तोपपन्नश्च कुलजातिनिग्रहस्थानसाधनो-
पालम्भो जल्पः ॥ ४३ ॥

यथोक्तोपपन्न इति, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ता-
विरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः । कुलजाति-
निग्रहस्थानसाधनोपालम्भः इति । कुलजातिनिग्रहस्थानैः
साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति । एवंविशेषणो जल्पः । न
स्तु वै कुलजातिनिग्रहस्थानैः साधनं कस्यचिदर्थस्य सम्भवति ।
प्रतिषेधार्थं चैषां सामान्यलक्षणञ्च श्रूयते । वचनविघातो-

प्रकृतोक्तिकाः अविप्रलम्भिकाः यथाकालस्फूर्तिका अनाक्षेपका युक्तिसिद्धप्रत्येतारः ।
अनुविधेयस्थेयः सभ्यपुरुषवती जनता सभा, अनुविधेयो राजादिः, स्त्रियान् मध्यस्थः,
सा च वादे नावश्यकी वीतरागकथात्वादिति ॥ ४२ ॥

जल्पं लक्षयति ।—यथोक्तेषु यदुपपन्नं, तेनोपपन्न इत्यर्थः, मध्यपदलोपी समासः,
तथा च प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह इत्यस्य योग्यतया परामर्शः ।
अन्वयाजल्पस्य वादविशेषत्वाऽऽपत्तिः, प्रमाणतर्काभ्यां तद्रूपेण ज्ञाताभ्यां, न तु ज्ञाने-
ऽनाह्वयत्वं विवक्षितम्, आरोपितप्रमाणाऽऽभासोऽपि जल्पनिर्वाहात् । यद्यपि कृत्वादिभि-
रुपालम्भो एव, न तु साधनं, तथाऽपि साधनस्य परकीयानुमानस्य, उपालम्भो
यमेत्येतां दोषः । परपक्षद्रव्ये सति स्वपक्षसिद्धिरित्यतः साधने तदुपयोग इति ।
अन्ते उभयपक्षस्थापनासत्त्वेन च विशेषणीयम्, अतो वितर्काशान्नातिव्याप्तिः, स
प्रतिपक्षस्थापनाहीन इत्युत्तरमूलात् प्रकृते उभयपक्षस्थापनावच्छलाभः, स्थापनावच्छा-
देव च पञ्चावयवनियमोऽपि लभ्यत इति वदन्ति । अत्र च कृत्वादिभिः सर्वैरुपालम्भो
न विशेषणम् अन्वयः, अपि तु तदयोग्यतेव, योग्यताऽवच्छेदकानु वादभिन्नकथालमेव ।
तत्र चोक्तवादत्वावच्छिन्नभेदस्तत्त्वादभेदो वा विशेषणमिति, कृत्वादिना विजि-
गीषुकथालं बोध्यते, विजिगीषुर्हि कृत्वादिकं करोति, तथा चोभयपक्षस्थापनावतो
विजिगीषुकथा नस्य इत्यर्थः, इत्यपि वदन्ति । अत्र चायं क्रमः, वादिना स्वपक्षसाधनं

ऽर्थविकल्पोपपत्त्या क्लृप्तमिति । साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः । विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानमिति । विशेष-लक्षणेऽपि यथास्वमिति । न चैतद्विजानीयात् प्रतिषेधार्थ-तथैवार्थं साधयन्तीति । क्लृप्तजातिनिग्रहस्थानोपालम्भ इत्येव-मप्युच्यमाने विज्ञायत एतदिति । प्रमाणैः साधनोपालम्भयो-ऽऽकलजातीनामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात्, न तु स्वतन्त्राणां साधन-भावः । यत्र प्रमाणैरर्थस्य साधनं, तत्र क्लृप्तजातिनिग्रह-स्थानानामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् । तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षयन्ति । तथा चोक्तम्;—“तत्त्वाध्यव-सायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहरक्षणार्थं कण्टकशाखा-ऽऽवरणवत्” इति । यस्यासौ प्रमाणैः प्रतिपक्षस्योपालम्भः, तस्य चैतानि प्रयुज्यमानानि प्रतिषेधविघातात् सहकारीणि भवन्ति । तदेवमङ्गीभूतानां क्लृप्तादीनामुपादानं जल्पे, न स्वतन्त्राणां साधनभावः । उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्तीति ॥ ४३ ॥

प्रयुज्य नात्र हेत्वाभासः, तल्लक्षणयोगात् इति सामान्यतो मायमसिद्ध इत्यादि विशेषतो वा दूषणाणि निरसनीयानि । ततः स्वपक्षदूषणे चकृते प्रतिवादिनाः स्वसाक्षात्तानादिनिरासाय परीक्षमनूय अनुक्तयाद्यापामप्राप्तकाक्षाणां निरर्थकानामल्लाभे प्रतिभानामसम्भवादेवालाभे च्यमानयाद्यापामप्राप्तकाक्षाणां निरर्थकानामल्लाभे चकृताद्याणां प्रतिज्ञादानि-प्रतिज्ञाविरोध-प्रतिज्ञाऽन्तर-प्रतिज्ञासम्प्राप्त-हेत्वन्तराविज्ञा-तार्थ-विधिप-मतानुज्ञा-न्यूनाधिक-पुनरुक्त-निरनुयोज्यानुयोग्यापसिद्धान्तानामल्लाभे पर्थ-नुयोज्योपेक्षस्य मध्यस्थोद्भाव्यत्वादेवानुपन्यासादंतया यथासम्भवं हेत्वाभासेन परीक्षं दूषयित्वा स्वपक्ष उपन्यसनीयः, ततो वादिना तृतीयकक्षाऽऽश्रितेन परीक्षमनूय स्वपक्षदूषणमुत्तृप्यनुक्तयाद्योच्यमानयस्य हेत्वाभासातिरिक्तोक्तयाद्यापामल्लाभे हेत्वा-भासेन यथासम्भवं प्रतिपक्षवादिनः स्थापना दूषणीया । अन्यथा क्रमविपर्यय-ऽप्राप्तकाखमनवसरे दूषणीद्वावने च निरनुयोज्यानुयोगः, यथा व्यत्यसि चेत् प्रतिज्ञादानिर्विशेषसि चेहेत्वन्तरमित्यादि, प्रतिज्ञादानाद्विवहेत्वाभासानामुक्त-यस्य लाविशेषेऽपि अर्धदीपलेन प्रक्षालनाश्रममनुसन्धानमिति ॥ ४३ ॥

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ४४ ॥

स जल्पो वितण्डा भवति । किंविशेषणः ?—प्रतिपक्ष-
स्थापनया हीनः । यौ तौ समानाधिकरणी विरुद्धौ धर्मौ
पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तौ, तयोरकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति ।
परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्तत इति । अस्तु तर्हि स प्रतिपक्ष-
हीना वितण्डा । यद्वा खलु तत्परप्रतिषेधलक्षणं वाक्यं, स
वैतण्डिकस्य पक्षः । न त्वसौ साध्यं काञ्चिदर्थं प्रतिज्ञाय
स्थापयतीति । तस्माद् यथान्यासमेवास्त्विति ॥ ४४ ॥

हेतुलक्षणाभावादहतवो हेतुसामान्याद्देतुवदाभासमानाः ।
त इमे,—

सद्व्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीत- काला हेत्वाभासाः ॥ ४५ ॥

वितण्डां क्रमप्राप्तां लक्षयति ।—यद्यपि तच्छब्देन जल्पो न परामर्ष्टुं शक्यते,
जल्पस्य स्थापनादयवतः प्रतिपक्षस्थापनाहीनत्वस्य विरुद्धत्वात्, तथाऽपि स्थापना-
दयवत्त्वं विहाय जल्पैकदेशः परामृश्यते । प्रतिपक्षो द्वितीयपक्षः, तथा च प्रतिपक्ष-
स्थापनाहीना विजिगौषुकथा वितण्डेति । न च “स्वस्य स्थापनीयाभावात् कथमियं
कथा प्रवर्तताम् ?” इति वाच्यम् ; परपक्षखण्डनेन जयस्यैवोद्देश्यत्वात् । परे तु,—
परपक्षखण्डनेनैव स्वपक्षसिद्धेरथादेव सिद्धेः तत्साधनाभावेऽपि न ग्रहच्यनुपपत्तिरिति
वदन्ति ॥ ४४ ॥

समाप्तं कथाप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तान् हेत्वाभासान् लक्षयति विभजते च ।—न च “अत्र लक्षणं न प्रतीयते”
इति वाच्यम् ; हेत्वाभासशब्दस्य हेतुवदाभासमानार्थकत्वेनैव तत्सूचनात् । तथा
हि पक्षसत्त्व संपक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्वाबाधितत्वात्प्रतिपक्षितत्वोपपन्नो हेतुगर्भकः,
तद्वदाभासत इत्यत्र बल्यर्थः, तद्भिन्नत्वे सति तद्वर्गवत्त्वम् ; तथा च पक्षरूपोपपन्नत्वा-
भावे सति तद्रूपेण भासमान इति फलितार्थः । तत्र च लक्षणं सत्यन्तं, तस्यैव
दृषकतायामुपयोगात् । न च “असाधकतायां पक्षसत्त्वाद्यैकैकाभावस्यैवागमः”
तत्त्वसम्भवेऽधिकवैयर्थ्यम्, एतेन पक्षवदन्यत्वं लक्षणमित्यपि प्रयुक्तम्” इति वाच्यम्,

तेषाम्—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ ४६ ॥

व्यभिचार एकत्र व्यवस्थाऽभावः । सह व्यभिचारेण वर्तत इति सव्यभिचारः । निदर्शनम्,—नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टः । न च तथा स्पर्शवान् शब्दः, तस्मादस्पर्शत्वान्नित्यः शब्द इति । दृष्टान्ते स्पर्शवत्त्वमनित्यञ्च धर्मौ द्वौ न साध्यसाधनभूतौ दृश्येते, स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यश्चेति । आत्माऽऽदौ च दृष्टान्ते उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरिति । अस्पर्शत्वादिति हेतुर्नित्यत्वं व्यभिचरति । अस्पर्शा बुद्धिरनित्या चेति । एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात् साध्यसाधनभावो नास्तीति । लक्षणाभावादहेतुरिति । नित्यत्वमध्येकोऽन्तः । अनित्यत्वमध्येकोऽन्तः । एकस्मिन्नन्ते

पञ्चत्वावच्छिन्नाभावस्य पञ्चसत्त्वाभावाद्यघटितत्वेन वैयर्थ्याभावात् । वस्तुतस्तु पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते स्पर्शवत्त्वात्, प्रमेयमाकाशादित्यादौ सपचाद्यप्रसिद्धेर्नैतस्य लक्षणत्वे तात्पर्यम् । परन्तु विपचासत्त्वसपञ्चसत्त्वाभ्यामव्यभिचरितसामानाधिकरण्यं, पञ्चसत्त्वसङ्घितस्य चैतस्य विरोधित्वं त्रिभिर्लब्धम् ; तेन व्याप्तिविशिष्टपञ्चधर्मता-विरोधित्वं, चरमयोस्त्वनुमितिविरोधिरूपानवच्छिन्नत्वायकयोर्भावादनुमितिविरोधित्वं, तेनानुमितितत्कारणज्ञानान्यतरविरोधित्वं पर्यवस्यति ॥ ४५ ॥

सव्यभिचारं लक्षयति ।—एकस्य साध्यस्य तदभावस्य च योऽन्तः सहचारः, अव्यभिचरितसहचारः इत्याशयः । स चात्र व्याप्तिग्राहकः, तथा चैकमात्रव्याप्ति-ग्राहकसहचारवानैकान्तिकः, तदन्वोऽनैकान्तिकः । स च साधारणोऽसाधारणोऽनुपसंहारी चेति द्विविधः, साधारणः साध्यवत् तदन्वदृष्टिः, यथा शब्दो नित्यः निःस्पर्शत्वात् । न च विरुद्धसङ्कीर्णदोषः, उपधेयसङ्करेऽप्युपाधेरसङ्करात् । असाधारणः सपञ्चविपक्षव्यावृत्तः, सपञ्चः साध्यवत्त्वनिश्चयविषयः, यथा शब्दोऽनित्यः शब्दत्वा-दित्यादि, अनुपसंहारी च केवलान्वयिधर्मावच्छिन्नपक्षकः, यथा सर्वं नित्यं नियतादित्यादि ; अत्र च साध्यसन्देहाद्व्याप्तिगृही न भवतीत्याशयः । नव्यास्तु असाधारणः साध्यवदृष्टिः, एतस्य साध्यसहचारयद्वप्रतिबन्धेन व्याप्तिगृहप्रतिबन्धो

विद्यत इति ऐकान्तिकः । विपर्ययादनैकान्तिकः । उभयान्त-
व्यापकत्वादिति ॥ ४६ ॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ४७ ॥

तं विरुण्णीति तद्विरोधी, अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति ।
यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति, नित्यत्वप्रतिषेधात् । अपेतो-
ऽप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधात् । न नित्यो विकार उपपद्यते, इत्येव
हेतुर्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्त्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते ।
कथम्? व्यक्तिरात्मलाभः, अपायः प्रच्युतिः, यद्यात्मलाभात् प्रच्युतो
विकारोऽस्ति; नित्यत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते । यदाक्तेरपेतस्यापि
विकारस्यास्तित्वं, तत् खलु नित्यत्वमिति । नित्यत्वप्रतिषेधो नाम
विकारस्याऽऽत्मलाभात् प्रच्युतेरुपपत्तिः । यदात्मलाभात् प्रच्यवते,
तदनित्यं दृष्टम् । यदस्ति, न तदात्मलाभात् प्रच्यवते । अस्तित्वच्चा-
ऽऽत्मलाभात् प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ न सह सम्भवत इति ।
सोऽयं हेतुर्यत्सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते, तमेव व्याहन्तीति ॥ ४७ ॥

• यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः
प्रकरणसमः ॥ ४८ ॥

विमर्शाधिष्ठानी पक्षप्रतिपक्षावनवसितौ प्रकरणम् । तस्य
दूषकताबीजम्, अनुपसंहारी च केवलान्वयिसाध्यकः, तस्य चात्यन्ताभावाप्रतियोगि-
साध्यकत्वरूपस्य ज्ञानाद्यतिरेकव्याप्तिरप्यप्रतिबन्धो दूषकताबीजम् इत्याहुः ॥ ४६ ॥

क्रमप्राप्तं विरुद्धं लक्ष्यमिति । अत्र च सिद्धान्तः साध्यम् । प्रतिज्ञायां हि पक्षस्य
सिद्धस्थाने साध्यमभिधीयते, तथा च साध्यमभ्युपेत्य उद्दिश्य प्रयुक्ततद्विरोधी
साध्याभावव्याप्त इति फलितायेः, यथा वज्रिमान् ऋदत्वादिति, एतस्य साध्याभावानु-
मितिसामग्रीत्वेन साध्यानुमितिप्रतिबन्धो दूषकताबीजम् ; न च सत्युत्तिपक्षाविशेषः,
तत्र हेतुन्तरं साध्याभावसाधकम्, इह तु हेतुरेव साध्याभावसाधकः, साध्यसाधकत्वेन
त्यथोपपन्न इत्यशक्तिविशेषोन्नायकत्वेन विशेषात् ॥ ४७ ॥

क्रमप्राप्तं प्रकरणसमं लक्षयति ।—स हेतुः स्वसाध्यस्य परसाध्याभावस्य वा
निर्णयार्थमपदिष्टः प्रयुक्तः प्रकरणसम उच्यते, स च क इत्याकाङ्क्षयामाह,—यस्मान्

चिन्ता विमर्शात् प्रभृति प्राङ्निर्णयाद् यत् समीक्षणं, सा जिज्ञासा यत्कृता, स निर्णयार्थं प्रयुक्त उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनतिवर्त्तमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते । प्रज्ञापनन्तु,—अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः इति, अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्यात्त्यादि । नित्यः शब्दः अनित्यधर्मानुपलब्धेः इति, अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टम्, आकाशादि । यत्र समानोधर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते, स संशयसमः सव्यभिचार एव । या तु विमर्शस्य विशेषापेक्षिता उभयपक्षविशेषानुपलब्धिस्य, सा प्रकरणं प्रवर्त्तयति । कथम् ?—विपर्यये हि प्रकरणनिवृत्तेः । यदि नित्यधर्मः शब्दे गृह्यते, न स्यात् प्रकरणम् । यदि वा अनित्यधर्मो गृह्येत, एवमपि निवर्त्तत प्रकरणम् । सोऽयं हेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्त्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय न प्रकल्पते ॥ ४८ ॥

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः ॥ ४९ ॥

द्रव्यं क्वायेति साध्यम् ; गतिमत्त्वादिति हेतुः । साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात्साध्यसमः । अयमप्यसिद्धत्वात् साध्यः

प्रकरणचिन्तेति, प्रकरणं पक्षप्रतिपक्षाविति साध्यम् ; साध्यतदभाववन्ताविति तदर्थः, तथा च निर्णयार्थं प्रयुक्तो हेतुर्न निर्णयं जनयितुमशक्तस्तुल्यबलिन परेण प्रतिबन्धात्, किन्तु धर्मिणः साध्यबलं तदभाववत्त्वं वेति चिन्तां जिज्ञासां प्रवर्त्तयति, स प्रकरणसमः । यदा,—प्रकृतं करणं खिन्नं परामर्शो वा, को हेतुरनयोः साधकः ? एतयोः कः परामर्शः प्रमेति वा ? यत्र जिज्ञासा भवतीत्यर्थः, यस्यादित्यादि तु वस्तुस्थितिमात्रं, लक्षणानु तुल्यबलविरोधिपरामर्शकालीनतुल्यबलपरामर्शविषयत्वं स्वसाध्यपरामर्शकालीनतुल्यबलविरोधिपरामर्शो वा । विरोधिपरामर्शस्य स्वहेतुनिष्ठत्वमेकज्ञानविषयत्वसम्बन्धेन, अन्यथा हेतीर्दुष्टत्वं न स्यात् । अयच्च दशाविशेषे दोषः, इत्यतः सहेतोरपि विरोधिपरामर्शकाली दुष्टत्वमिष्टमेवेत्यवधेयम् ॥ ४८ ॥

क्रमप्राप्तं साध्यसमं लक्षयति ।—साध्येन बह्यादिनाऽविशिष्टः । कुतः ? इत्यत आह,—साध्यत्वादिति, साधनीयत्वादित्यर्थः । यथा हि साध्यं साधनीयं, तथा

वप्राज्ञापयितव्यः । साध्यं तावदेतत्,—किं पुरुषवच्छायाऽपि गच्छति ? आहोस्त्रिदावरकद्रव्ये संसर्पति ? आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यत इति । सर्पता खलु द्रव्येण ज्ञानाद् यो यस्तेजोभाग अव्रियते, तस्य तस्यासन्निधिरेव अविच्छिन्नो गृह्यत इति । आवरणन्तु प्राप्तिप्रतिषेधः ॥ ४६ ॥

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥ ५० ॥

कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थस्यैकदेशोऽपदिश्यमानस्य, स कालात्ययापदिष्टः कालातीत इत्युच्यते । निदर्शनम् ;—नित्यः

हेतुरपि चेत् साध्यसम इत्युच्यते, अत एव चासिद्ध इति व्यवह्रियते । अयच्छाऽऽश्रयासिद्धिस्वरूपासिद्धिव्याप्यत्वासिद्धिभेदात् त्रिविधः । आश्रयाऽसिद्धिश्च पक्षे पक्षताऽवच्छेदकाभावः, यथा काचनमयः पर्वतो वज्रमानित्यादौ । स्वरूपासिद्धिः पक्षे हेतुताऽवच्छेदकावच्छिन्नसाभावः, यथा ऋदी द्रव्यं धूमादित्यादौ । व्याप्यत्वासिद्धिश्चाव्यभिचरितसानानाधिकरण्यसाभावः, न च स्वरूपासिद्धेरेव सूत्रास्तत्त्वप्रतीतेर्नेतरत्वं लक्ष्यलक्षितं वाच्यं, हेतुरिति पदं ह्यव पूरणीयं, हेतुपदञ्च गमकहेतोर्व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मस्य वाचकं, व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म इत्येव वा पृथ्यताम् । तथा च तस्य किञ्चिदंशसाध्यत्वेनैव साध्यसमत्वम्, अत एव साध्ये साध्यताऽवच्छेदकभावः, साधने साधनताऽवच्छेदकभावश्च व्याप्यत्वासिद्धिः । यथा पक्षताऽवच्छेदकाभाव-पक्षताऽवच्छेदकवहेदादेरन्यतमत्वेनाऽऽश्रयासिद्धित्वं, यथा च पक्षे हेतुभाव-हेतुसङ्गहादेरन्यतमत्वेन स्वरूपासिद्धित्वं, तथा साध्यताऽवच्छेदकाभावादेरन्यतमत्वेन व्याप्यत्वासिद्धित्वम् ; नित्यान्यतमत्वं चासिद्धिसानान्यलक्षणम् ; नीलधूमत्वादेरपि व्याप्यत्वासिद्धावन्तर्भावं वदन्ति, तेषामयमाशयः,—व्याप्तिर्हि साध्यसम्बन्धिताऽवच्छेदकरूपा, गुरुधर्मस्य साध्यसम्बन्धिताऽनवच्छेदकः, अतो नीलधूमत्वादेः साध्यसम्बन्धिताऽनवच्छेदकत्वात् व्याप्तिस्वरूपत्वम् ; तथा च साध्यताऽवच्छेदकाभावादिरिव साधनताऽवच्छेदके व्याप्यताऽनवच्छेदकत्वमपि भवति व्याप्यत्वासिद्धिरिति ॥ ४६ ॥

क्रमप्राप्तनतीतकालं लक्षयति ।—अतीतकालस्य समानार्थकत्वात् कालातीतशब्देनोक्तम् ; कालस्य साधनकालसाध्योऽभावेऽपदिष्टः प्रयुक्तो हेतुः, एतेन साध्याभावप्रज्ञा लक्षणाश्च इति सूचितम् । साध्याभावावर्णयै सति साधनाऽसम्भवादयमेव बाधितसाध्यक इति गीयते, तथा वज्रानुशः कृतकत्वादित्यादौ । न च “बाधे

शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत् । प्रागूर्ध्वञ्च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते । तथा च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरोदण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा । तस्मात् संयोगव्यङ्ग्यत्वान्नित्यः शब्द इत्ययमहेतुः, कालात्ययापदेशात् । व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति । सति प्रदीपघटसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति । न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते । निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते । विभागकाले सेयं शब्दव्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिर्मिता भवति । कस्मात्?—कारणाभावाच्च कार्याभाव इति । एवमुदाहरणसाधर्म्यस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति । अवयवविपर्ययासवचनं न सूत्रार्थः । कस्मात्?—

“यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।

अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥”

इत्येतद्वचनाद् विपर्ययासिनोक्तो हेतुर्द्विदाहरणसाधर्म्यात् तथा वैधर्म्यात् साधनं हेतुलक्षणं न जहाति । अजहहेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवतीति । अवयवविपर्ययासवचनमप्राप्तकालमिति नियमस्थानमुक्तम् । तदेवेदं पुनरुच्यत इति, अतस्तत्र सूत्रार्थः ॥ ५० ॥

आवश्यकस्य व्यभिचारस्वरूपासिद्धान्तस्त्वैव दोषत्वमुचितम्” इति वाच्यम् ; तदप्रतिसम्बन्धेन बाधस्य दोषत्वाऽऽवश्यकत्वात्, उपधेयसङ्घरेऽप्युपाधेरसङ्घरात्, सत्यत्वात्वावच्छिन्नो घटो गन्धवान्, शिखरौवच्छिन्नः पर्वतो वज्रमानित्यादावसङ्घराच्च, साध्याभावव्यवचिताऽवच्छेदकावच्छिन्नकालस्य तत्र सत्त्वात् । परे तु घटः सकर्तृकः कार्यत्वादित्यादौ यत्र बाधवोपनीतमेकमात्रकर्तृकत्वं भासत इत्युच्यते, तत्र तदभासोऽसङ्कीर्णोदाहरणमिति वदन्ति ॥ ५० ॥

समाप्तं हेत्वाभासप्रकरणम् ।

अथ क्लृप्तम्,—

वचनविधातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या क्लृप्तम् ॥ ५१ ॥

न सामान्यलक्षणे क्लृप्तं शक्यमुदाहर्तुम् । विभागे तूदा-
हरणानि ॥ ५१ ॥

विभागश्च—

तत् त्रिविधं, वाक्क्लृप्तं सामान्यक्लृप्तमुप-
चारक्लृप्तञ्च ॥ ५२ ॥

तेषाम्,—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तर-
कल्पना वाक्क्लृप्तम् ॥ ५३ ॥

नवकम्बलकोऽयं माणवक इति प्रयोगः । अत्र नवः कम्बलो-
ऽस्येति वक्तुरभिप्रायः । विग्रहे तु विशेषः, न समासे । तत्रायं
क्लृप्तादौ वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यमर्थं नव कम्बला अस्येति
तावदभिहितं भवतेति कल्पयति, कल्पयित्वा चासम्भवेन

कमप्राप्तं क्लृप्तं लक्षयति ।—अर्थस्य वाद्यभिमतस्य, यो विकल्पो विरुद्धः कल्पः,
अर्थान्तरकल्पनेति यावत्, तदुपपत्त्या युक्तिविशेषण, यो वचनस्य वाद्युक्तस्य, विधातो
दूषणं, तच्छब्दमित्यर्थः । वक्तृतात्पर्याविषयार्थकल्पनेन दूषणाभिधानमिति
कथितम् ; तात्पर्याविषयत्वं विशेषणे विशेष्ये संसर्गे वा । यथा नेपाळादागतोऽयं
नवकम्बलवत्त्वादित्यत्र नवसङ्ख्यापरत्वकल्पनयाऽसिद्धाभिधानम् ; सर्वे प्रमेयं घर्म-
त्वादित्यत्र पुण्यत्वाद्येकल्पनया भागासिद्धाभिधानम् ; वज्रिमान् घूमादित्यत्र घूमावयव-
त्वभिचाराभिधानम् ॥ ५१ ॥

लक्षितं क्लृप्तं विभजते ।—तत्र वाक्क्लृप्तं लक्षयति ।—यत्र शक्यार्थद्वये सम्भ-
वति एकार्थनिर्णायकविशेषाभावानभिप्रेतशक्यार्थकल्पनेन दूषणाभिधानं, तद्वाक्-
क्लृप्तम् ; लक्षणम्,—शक्या एकार्थशब्दबोधतात्पर्यकशब्दस्य शक्याऽर्थान्तरतात्पर्यकत्व-
कल्पनया दूषणाभिधानम् । यथा नेपाळादागतोऽयं नवकम्बलवत्त्वादित्युक्ते, कुतोऽस्य

प्रतिषेधति,—एकोऽस्य कम्बलः, कुतो नव कम्बलाः ? इति ।
 तदिदं सामान्यशब्दे वाचि क्लृप्तं वाक्कलमिति । * अस्य
 प्रत्यवस्थानम् । * * सामान्यशब्दस्यानेकार्थत्वेऽन्यतराभिधान-
 कल्पनायां विशेषवचनम् । * नवकम्बलक इत्यनेकार्थस्याभि-
 धानम् ;—नवः कम्बलोऽस्य, नवकम्बला अस्येति । एतस्मिन्
 प्रयुक्ते येयं कल्पना नव कम्बला अस्येत्येतद्भवताऽभिहितं, तच्च
 न सम्भवतीति । एतस्यामन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषो
 वक्तव्यः । यस्माद्विशेषोऽर्थविशेषेषु विज्ञायते, अयमर्थोऽनेनाभि-
 हित इति । स च विशेषो नास्ति । तस्मान्निष्ठ्याऽभियोग-
 मात्रमेतदिति । * प्रसिद्धश्च लोके शब्दार्थसम्बन्धोऽभिधानाभि-
 धेयनियमनियोगः । * अस्याभिधानस्यायमर्थोऽभिधेय इति
 समानः सामान्यशब्दस्य, विशेषो विशिष्टशब्दस्य । प्रयुक्त-
 पूर्वाश्वमे शब्दा अर्थे प्रयुज्यन्ते, नाप्रयुक्तपूर्वाः । प्रयोगश्चार्थ-
 सम्प्रत्ययार्थः । अर्थप्रत्ययाच्च व्यवहार इति । तत्रैवमर्थवत्त्वर्थ-
 शब्दप्रयोगसामर्थ्यात् सामान्यशब्दस्य प्रयोगनियमः । अजां ग्रामं
 नय, सर्पिराहर, ब्राह्मणं भोजयेति सामान्यशब्दाः सन्तो-
 ऽर्थावयवेषु प्रयुज्यन्ते, सामर्थ्याद् यत्रार्थक्रियादेशना सम्भवति,
 तत्र प्रवर्तन्ते, नार्थसामान्ये, क्रियादेशनाऽसम्भवात् । एवमयं
 सामान्यशब्दो नवकम्बलक इति योऽर्थः सम्भवति, नवः कम्बलो-
 ऽस्येति, तत्र प्रवर्तते । यस्तु न सम्भवति, नव कम्बला अस्येति,
 तत्र न प्रवर्तते । सोऽयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपा-
 लम्भस्तो न कल्पत इति ॥ ५३ ॥

नवसङ्ख्याकाः कम्बलाः ? इति । एवं गौर्विषाणीत्युक्ते, कुतो वारणस्य विषाणम् ?
 अग्री विषाणीत्युक्ते, कुतो गजस्य शङ्खम् ? श्वेती घावतीति श्वेतरूपवदभिप्रायेणीके,
 श्वेती न घावतीत्यभिधानमित्यादिकमूहम् ॥ ५३ ॥

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थ-

कल्पना सामान्यच्छलम् ॥ ५४ ॥

अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याऽऽचरणसम्पन्न इत्युक्ते कश्चिदाह,—सम्भवति हि ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसम्पत्, इत्यस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसम्भूतार्थकल्पनया क्रियते । यदि ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसम्पत् सम्भवति, ब्राह्मणेऽपि सम्भवेत् । ब्राह्मणेऽपि ब्राह्मणः, सोऽप्यस्तु विद्याऽऽचरणसम्पन्न इति । यद्विवक्षितमर्थमाप्नोति चात्येति च तदतिसामान्यम् ;—यथा ब्राह्मणत्वं विद्याऽऽचरणसम्पदं क्वचिदाप्नोति, क्वचिदत्येति । सामान्यलक्षणं छलं सामान्यच्छलमिति । * अस्य च प्रत्यवस्थानम् । * अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः प्रशंसाऽर्थत्वात् वाक्यस्य, तदत्रासम्भूतार्थकल्पनाऽनुपपत्तिः । * यथा, सम्भवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालय इति । अनिराकृतमविवक्षितञ्च बीजजन्म । प्रवृत्तिविषयस्तु क्षेत्रं प्रशस्यते । सोऽयं क्षेत्रानुवादो नास्मिन् शालयो विधीयन्त इति । बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिः सती न विवक्षिता । एवं सम्भवति ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसम्पदिति । सम्पद्विषयो ब्राह्मणत्वं, न सम्पदेतुः । न चात्र हेतुर्विवक्षितः । * विषयानुवादस्त्वयं प्रशंसाऽर्थत्वाद्वाक्यस्य । * सति ब्राह्मणत्वे सम्पदेतुः समर्थ इति विषयञ्च प्रशंसता वाक्येन यथा हेतुतः फलनिर्वृत्तिर्न प्रत्याख्यायते । तदेवं सति वचनविघातोऽसम्भूतार्थकल्पनया नोपपद्यत इति ॥ ५४ ॥

सामान्यच्छलं लक्षयति ।—सामान्यविशिष्टसम्भवदर्शाभिप्रायेचीकृत्य अतिसामान्ययोगादसम्भवदर्शकत्वकल्पनया दूषणाभिधानं सामान्यच्छलम् । यथा ब्राह्मणोऽयं विद्याऽऽचरणसम्पन्न इत्युक्ते, ब्राह्मणत्वेन विद्याऽऽचरणसम्पदं साधयतीति कल्पयित्वा अयं वदति, कुतो ब्राह्मणत्वेन विद्याऽऽचरणसम्पत् ? ब्राह्मण्यभिचारात् ॥ ५४ ॥

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसङ्गावप्रतिषेध उपचार-

कूलम् ॥ ५५ ॥

अभिधानस्य धर्मो यथाऽर्थप्रयोगः । धर्मविकल्पोऽन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः । तस्य निर्देशे धर्मविकल्पनिर्देशे । यथा,— मच्चाः क्रोशन्तीति । अर्थसङ्गावेन प्रतिषेधः । मच्चाः पुष्पाः क्रोशन्ति, न तु मच्चाः क्रोशन्ति । का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिः ? अन्यथा प्रयुक्तस्यान्यथाऽर्थकल्पनम् । भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनम् । उपचारविषयं कूलम् उपचारच्छलम्, उपचारो नीतार्थः । सहचरणादिनिमित्तेनातङ्गावे तद्वदभिधानमुपचार इति । * अत्र समाधिः * प्रसिद्धाप्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाऽभिप्रायं शब्दार्थयोरनुज्ञा, प्रतिषेधो वा, न क्कन्दतः । प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोर्लोकविद्वः । सिद्धे प्रयोगे यथा वक्तुरभिप्रायः, तथा शब्दार्थावनुज्ञेयौ, प्रतिषेधौ वा, न क्कन्दतः । यदि वक्ता प्रधानशब्दं प्रयुङ्क्ते, यथा भूतस्याभ्यनुज्ञा, प्रतिषेधो वा, न क्कन्दतः । अथ गुणभूतं तदा गुणभूतस्य । यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते, प्रधानभूतमभिप्रेत्य परः प्रतिषेधति, स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति, न परोपालम्भ इति ॥ ५५ ॥

उपचारच्छलं लक्षयति ।—शब्दसार्धेन लक्ष्यः, तस्य विकल्पो विविधः कल्पः, शक्तिस्त्वयसाऽन्यतरूपः, तथा च शक्तिलक्षयरीकतरस्यां प्रयुक्ते शब्दे, तदपरत्वात् यः प्रतिषेधः, स उपचारच्छलम् ; यथा मच्चाः क्रोशन्ति, नीलो घटः, इत्यादी मच्चा एव क्रोशन्ति, न तु मच्चाः, एवं घटस्य लक्षं नीलरूपाभेदः । एवम् अहं निम्ब इति शक्त्या प्रयुक्ते, अमुषादुत्पन्नं लक्षं निम्बः ? इति प्रतिषेधोऽप्युपचारच्छलम् ; वाद्यभिप्रेताद्येसादृशेन कूलसासदुत्तरत्वम् । न च “श्लिष्ट-साचक्षिकप्रवीणावादिन एवापराधः स्यात्” इति वाच्यम् ; तत्तदर्थबोधकतया प्रसिद्धस्य शब्दस्य प्रवीणे, वादिनोऽनपराधात् । अन्यथा, पर्वतो वज्रिनामित्युक्ते, पर्वतोऽयं लक्षमवज्रिनाम् ? इत्यादिदूषणेनानुमानाद्युच्छेदः स्यात् ॥ ५५ ॥

वाक्कलमेवोपचारच्छलं तद्विशेषात् ॥ ५६ ॥

न वाक्कलादुपचारच्छलं भिद्यते, तस्याप्यर्थान्तरकल्प-
नाया अविशेषात् । इहापि स्थान्यर्थो गुणशब्दः, प्रधानशब्दः
स्थानार्थ इति कल्पयित्वा प्रतिषिध्यत इति ॥ ५६ ॥

न तदर्थान्तरभावात् ॥ ५७ ॥

न वाक्कलमेवोपचारच्छलम्; तस्यार्थसद्भावप्रतिषेधस्यार्था-
न्तरभावात् । कुतः ?—अर्थान्तरकल्पनातोऽन्यार्थान्तरसद्भाव-
कल्पना अन्यार्थसद्भावप्रतिषेध इति ॥ ५७ ॥

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादिकच्छलप्रसङ्गः ॥ ५८ ॥

छलस्य द्वित्वमभ्यनुज्ञाय त्रित्वं प्रतिषिध्यते, किञ्चित्साध-
र्म्यात् । यथा चायं हेतुस्त्रित्वं प्रतिषेधति, तथा द्वित्वमभ्यनुज्ञातं
प्रतिषेधति । विद्यते हि किञ्चित्साधर्म्यं द्वयोरपीति । अथ द्वित्वं
किञ्चित्साधर्म्यान् निवर्त्तते, त्रित्वमपि न निवर्त्त्यतीति ॥ ५८ ॥

प्रसङ्गाच्छलं प्रतीक्षितं पूर्वपक्षयति । शब्दस्यार्थान्तरकल्पनाऽविशेषाद्वाक्कल-
मेवोपचारच्छलं स्यात्, इति छलस्य द्वित्वमेव, न तु त्रित्वमिति शङ्काऽर्थः ॥ ५६ ॥

समाधत्ते ।—उपचारच्छलस्य वाक्कलाभेदो न, तयोर्थान्तरभावात्, भिन्नत्वात्,
भिन्नतया प्रमाणसिद्धत्वादिति फलितार्थः ; पूर्वोक्तभेदकधर्मेण भेदसम्भवेऽपि
यत्किञ्चिद्वर्त्तमानेदे सामान्यधर्मेणभेदस्य सर्वत्र सत्त्वाद् विभागः कुदापि न
स्यादिति ॥ ५७ ॥

विपक्षे बाधकमभिप्रेत्याऽऽह ।—यत्किञ्चिद्वर्त्तमानेदविशेषे किञ्चित्साधर्म्याच्छलत्वादि-
कक्षाच्छलत्वैक्यं स्यात्, न तु त्वदभिमतं द्वित्वमपीति भावः ॥ ५८ ॥

समाप्तं छलप्रकरणम् ।

अत ऊर्ध्वम्,—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥ ५९ ॥

प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते, सा जातिः । स च प्रसङ्गसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालभ्यः प्रतिषेध इति । उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरित्यस्योदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानम् । उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरित्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम् । प्रत्यनौकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति ॥ ५९ ॥

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ ६० ॥

विपरीता कुक्षिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः । विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति, निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषये न प्रारम्भः । परेण स्थापितं न प्रतिषेधति, प्रतिषेधं वा नोद्धरति । असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति ॥ ६० ॥

क्रमप्राप्तं जातिं लक्षयति ।—साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामिति सावधारणी निर्देशः, तेन व्याप्तिनिरपेक्षाभ्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं दृष्ट्याभिधानं जातिरित्यर्थः । यद्यप्युभयाभ्यां प्रत्यवस्थानस्य प्रत्येकप्रत्यवस्थानेऽव्याप्तिः, एकप्रत्यवस्थानस्य लक्षणात्वेऽपरप्रत्यवस्थानेऽव्याप्तिः, न वाऽन्यतरप्रत्यवस्थानं निवर्त, सर्वत्र जातावभावात्, तथाऽपि व्याप्तिनिरपेक्षतया दृष्ट्याभिधानमित्येव वाच्यं, तेन च सन्दर्भेण दृष्ट्यासमर्थत्वं स्वव्याघातकत्वं वा दर्शितं, तथा च कृत्वादिभिन्नदृष्ट्यासमर्थमुत्तरं स्वव्याघातकमुत्तरं वा जातिरिति सूचितं, साधर्म्यसमादिवचतुर्विधस्यन्यायत्वं तदर्थं इत्यपि वदन्ति ॥ ५९ ॥

क्रमप्राप्तं निग्रहस्थानं लक्षयति ।—निग्रहस्य खलोकारस्य स्थानम् ; तच्च विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च । विप्रतिपत्तिर्विकृष्टा प्रतिपत्तिः, अप्रतिपत्तिः अकृष्टाज्ञानम् ; यद्यप्येतदन्वयतः परनिष्ठं बोद्धव्यमित्युक्तं, प्रतिज्ञाद्याद्यादेर्निग्रहस्थानत्वमुपपत्तिश्च, तथाऽपि विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्यन्यतरोन्नायकधर्मत्वं तदर्थः, सहेत्यानुगुण-कर्मज्ञानाभावलिङ्गत्वं प्रतिज्ञाद्याद्याद्यन्यतमत्वं वा लक्षयमित्यपि वदन्ति ॥ ६० ॥

किं पुनर्दृष्टान्तवज्जातिनियहस्यानयोरभेदः ? अथ सिद्धान्त-
वहेदः ?—इत्यत आह,—

तद्विकल्पाज्जातिनियहस्यानवहुत्वम् ॥ ६१ ॥

तस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यक्षस्यानस्य विकल्पाज्जाति-
बहुत्वम् । तयोश्च विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पाच्चियहस्यान-
बहुत्वम् । नानाकल्पा विकल्पः, विविधो वा कल्पो विकल्पः ।
तन्मानुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विज्ञेयो मतानुज्ञा पर्यनुयोक्त्यो-
पेक्षामित्त्वप्रतिपत्तिर्नियहस्यानम् । शेषस्तु विप्रतिपत्ति-
रिति । इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा ययोद्देशं लक्षिता
यथावत्त्वं परीक्षित्यन्त इति त्रिविधाऽस्य शास्त्रस्य प्रवृत्ति-
र्वदितव्येति ॥ ६१ ॥

इति वाक्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तमायं प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

जातिविवक्षयापयोर्विभावो नास्तीति ज्ञेयो नाश्रित्यत आह ।—तद्विकल्पान्,
साधर्म्यादिना प्रत्यक्षस्यानस्य विप्रतिपत्त्यानुज्ञावत्त्वापारस्य च विकल्पाद्देशानाना-
प्रकारत्वादिति यावत्, इत्यत्र तयोर्गुणोऽपि प्रमाणादिपरीक्षाविषयकमित्यभिप्रायवा
प्रतिपत्त्याज्ञेयानीं लविभातः कियत् इति भावः ॥ ६१ ॥

समाप्तं पुनर्वाक्यमिदं द्वितीयमाह्निकमाह्निकप्रकरणम् ।

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥ १ ॥

इति चौविचनावभट्टाचार्यकृतन्यायदर्शनी प्रथमाध्याय-

वृत्तिः समाप्ता ॥ १ ॥

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाऽऽह्निकम् ।

अत ऊर्ध्वं प्रमाणादिपरीक्षा, सा च विदुषा पञ्चमति-
पञ्चाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इत्यग्रे विमर्श एव परीक्षते ।

**समानानिर्धर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यव-
सायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥**

समानस्य धर्मोपपत्त्याद्यात् संशयः, न धर्माभावात् ।
अथवा समानमनयोर्धर्ममपक्षमे इति धर्मोपपत्त्यग्रे संशयामः च
इति । अथवा समानधर्माध्यवसायादर्शान्तरभूते धर्मिणि

प्रमाणैः प्रसिद्धैर्मिनिर्विवादेषु परीक्षितैः ।

उपरि प्रयोगव्यापारं मोक्षमानवर्गं मते ॥ १ ॥

अथ प्रमाणादिषु अक्षितेषु परीक्षणीयेषु संशयं विना परीक्षायाः पक्षत्ववादादी
संशय एव परीक्षणीयः त्रिजगिज्जाकाऽनुसारात्, सूचीकटाहकावाहः, अतः संशयपरी-
क्षायाः प्रमाणादिपरीक्षीयधीनत्वान् प्रमाणापरीक्षैवाध्यावारं इति वदन्ति । ननु-
अस्य कथं न परीक्षितत्वात् ततोवचनपूर्वकैः प्रमेयस्य, पक्षमे च जातेः परीक्षित-
त्वत्वान् सदतिरिक्तमावश्यकत्वं परीक्षैवाध्यावारं । प्रकीर्णपरीक्षायाः पक्षमे-
वातिरिक्तैव परिणामत्वान्, तत्र विधानवादिचप्रमाणापरीक्षातिरिक्तीकृत्यावश्यकत्वं
परीक्षा प्रथमाऽऽह्निकार्थः, तत्र च नव प्रकराणि ; तस्मादपरी संशयपरीक्षाप्रकरचम्,
अत्राणि वचनार्थं वदन्ते, तत्र संशयपरीक्षयाः पूर्वपक्षसम्बन्धः ।

अथ स्वप्रज्ञा संशयव्यावर्तकान् संशयपरीक्षायां संशयी नास्ति, अथवास्त्वान्,
एवावर्तं स्वप्रज्ञी न चन्दन्ति, तद्वत् । न तत्र संशयव्यवर्तं परीक्षते, विमानवत्त्वा-
त्तान्, यदि तु अत्रचसूचीकं संशयकारचम् । तथा च, संशयः समानवर्तद्वर्तनादिवि-
न इति संशयः अत्रचमेव । परन्तु स्वप्रज्ञी निर्णयवत्त्वान् पूर्वपक्षनिरास-
कावकापेक्षान् संशयी न इतिवः, एवमेव प्रमाणादिपरीक्षायां नपि, अत एवा-
तिरिक्तं जाये, — “आद्ये वादि च विनर्तवर्तम्” इति । तत्र समानादिपक्षवर्तनात्
संशयः, प्रमेयं व्यतिचारान्, अत्रचमेनानुमतीकृतसद्वर्तनादपि न संशयः, न हि
आनुपूर्वसमानवर्तार्थं पुनरवर्तमानवर्तार्थमिति वा ज्ञानम् आनुपूर्वं इति वदन्ते,
समानवर्तक लेखनं तान्, अत्रचमेव जाये अत्रचमेव अत्रचान् । तथा,—

संशयोऽनुपपन्न इति । न जातु रूपस्यार्थान्तरभूतस्याध्यवसायादर्थान्तरभूते स्पर्शे संशय इति । अथवा नाध्यवसायादर्थवधारणादनवधारणज्ञानं संशय उपपद्यते, कार्यकारणयोः सारूप्याभावादिति । एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति व्याख्यातम् । अन्यतरधर्माध्यवसायाच्च संशयो न भवति । ततो ह्यन्यतरावधारणमेवेति ॥ १ ॥

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाऽध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

न विप्रतिपत्तिमात्रादव्यवस्थामात्राद्वा संशयः । किं तर्हि ? विप्रतिपत्तिमुपलभमानस्य संशयः । एवमव्यवस्थायामपौति । अथवाऽस्यात्मेत्येके, नास्यात्मेत्यपरे मन्यन्त इत्युपलब्धेः कथं संशयः स्यादिति । अथोपलब्धिरव्यवस्थिता अनुपलब्धिष्वव्यवस्थितेति विभागेनाध्यवसिते संशयो नोपपद्यत इति ॥ २ ॥

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥

याच्च विप्रतिपत्तिं भवान् संशयहेतुं मन्यते, सा सम्प्रतिपत्तिः । सा हि द्वयोः प्रत्यनीकधर्मविषया । तत्र यदि विप्रतिपत्तेः संशयः, सम्प्रतिपत्तेरेव संशय इति ॥ ३ ॥

समानानेकधर्मोपपत्तेरिति लक्षणेनैव उपपत्तिपदं स्वरूपपरमिति आन्तरेयं शङ्का ; तथा चावनयः न संशयः, समानधर्मादितः स्वरूपमत इति शेषः, यतः समानधर्मादिरध्यवसायादन्तरत्वेनानुगतौक्यतदध्यवसायाद्वा संशयः, अन्यथा संशयस्य सार्वविकल्पाऽपत्तेः ॥ १ ॥

विप्रतिपत्त्यादिजन्यसंशयजन्यं प्रतिक्षिपति ।—न संशय इत्यनुवर्त्तते, विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्याव्यवस्थाया अनुपलब्ध्याव्यवस्थायाश्च न संशयजनकत्वम् ; प्रत्येकं व्यभिचारादित्यर्थः, यथा,—स्वरूपसद्विप्रतिपत्त्यादितो न संशयः, किन्तु तदध्यवसायादित्यर्थः ॥ २ ॥

विप्रतिपत्तिजसंशयभावप्रतिक्षेपाय सूचान्तरम् । विप्रतिपत्तौ न संशयहेतुत्वम् ; सम्प्रतिपत्तेः निश्चयान्, बाहिनीसंध्यस्थस्य च निश्चयसत्त्वात्, सति च निश्चये संशयायीवादिति भावः ॥ ३ ॥

अव्यवस्थाऽऽत्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥

न संशयः । यदि तावदियमव्यवस्था आत्मन्येव व्यवस्थिता, व्यवस्थानादव्यवस्था न भवतीत्यनुपपन्नः संशयः । अथाव्यवस्थाऽऽत्मनि न व्यवस्थिता, एवमतादात्म्यादव्यवस्था न भवतीति संशयाभाव इति ॥ ४ ॥

तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्वर्मासातव्योपपत्तेः ॥ ५ ॥

येन कल्पेन भवान् समानधर्मोपपत्तेः संशय इति मन्यते, तेन खल्वत्यन्तसंशयः प्रसज्यते । समानधर्मोपपत्तेरनुच्छेदात् संशयानुच्छेदः । नायमतद्वर्मा धर्मी विमृश्य(य)मानो(षो) गृह्यते । सततन्तु तद्वर्मा भवतीति ॥ ५ ॥

अस्य प्रतिषेधप्रपञ्चस्य सङ्क्षेपेणोद्धारः,—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥

संशयानुपपत्तिः संशयानुच्छेदश्च न प्रसज्यते । कथम् ?—

उपलब्धानुपलब्ध्याव्यवस्थातः संशयवदनिरासाय सूचम् । उपलब्ध्याव्यवस्थाया अनुपलब्ध्याव्यवस्थायाश्च संशयजनकत्वं तदा स्यात्, यदि स्वस्मिन्नव्यवस्थावस्थितत्वं स्यात्, न त्वेवम्; तथा च स्वाऽऽत्मनि व्यवस्थितायास्तस्याः कथमन्यथाव्यवस्थात्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

ननु अव्यवस्था प्रामाण्यसंशयः, तस्य च न स्वसंशयरूपत्वम्; संशयस्य विषयविशिष्ट-वर्णितत्वात्, तस्य चात्यन्तसंशयजनकत्वं न विरुद्धम् । अतो दूषणान्तरमाह,—तद्येत्यादि । तथा सति अव्यवस्थाया हेतुत्वे सति, तथाशब्दोऽयं न स्वान्तर्गतः, अपि तु भाष्यस्य इत्यन्ये; अत्यन्तसंशयः संशयानुच्छेदः स्यात्, तद्वर्मास्य तज्जनकस्य ज्ञानत्वादि-साधारणधर्मदर्शनस्य, सातव्योपपत्तेः सर्वदा सम्भवात्, अथ ज्ञानत्वादिसाधारण-धर्मदर्शनेऽपि कारणान्तरविलम्बान्न सर्वत्र प्रामाण्यसंशय इति यदि ब्रूयात्, तदा तत्रैव विषयसंशयेऽपि हेतुत्वमस्तु इति किं प्रामाण्यसंशयस्य साधारणधर्मदर्शनादेर्वा संशयहेतुत्वेन ? इति भावः ॥ ५ ॥

सिद्धान्तमाह ।—यथोक्ताध्यवसायात्, साधारणादिधर्मदर्शनात्, तस्य पुनः

यत्तावत्समानधर्माध्ववसायः संशयहेतुर्न समानधर्ममात्रमिति ।
 एवमेतत्, कस्मादेवं नोच्यत इति ?—विशेषापेक्ष इति वचनात्
 सिद्धेः । विशेषस्यापेक्षाऽऽकाङ्क्षा, सा चानुपलभ्यमाने विशेषे
 समर्था, न चोक्तं समानधर्मापेक्ष इति ; समाने च धर्मे कथ-
 माकाङ्क्षा न भवेत्, यद्ययं प्रत्यक्षः स्यात् । एतेन सामर्थ्येन
 विज्ञायते समानधर्माध्ववसायादिति * उपपत्तिवचनाद्वा *
 समानधर्मोपपत्तेरित्युच्यते । न चान्या सङ्गावसंवेदनादृते समान-
 धर्मोपपत्तिरस्ति । अनुपलभ्यमानसङ्गावो हि समानो धर्मो
 विद्यमानवद्भवतीति । * विषयशब्देन वा विषयिणः प्रत्ययस्याभि-
 धानम् । * यथा लोके धूमेनाग्निरनुमीयते इत्युक्ते धूमदर्शने-
 नाग्निरनुमीयत इति ज्ञायते ; कथम् ? इहा हि धूममग्निसमु-
 त्पन्नोति, नादृष्टा । न च वाक्ये दर्शनशब्दः श्रूयते । अनुजानाति
 च वाक्यस्यार्थप्रत्यायकत्वम् । तेन मन्यामहे विषयशब्देन विष-
 यिणः प्रत्ययस्याभिधानं बोद्धाऽनुजानाति । एवमिहापि
 समानधर्मशब्देन समानधर्माध्ववसायमाहेति । यदुक्तं
 समानमनयोधर्ममुपलभत इति धर्मधर्मिण्यहमे संशयाभाव
 इति । * पूर्वदृष्टविषयमेतत् । * यावच्चमर्थो पूर्वमद्वाचं, तयोः
 समानं धर्ममुपलभे, विशेषं नोपलभे, इति कथं नु विशेषं पश्येयं,
 के (ते) नात्यन्तरमवधारयेयम् ? इति । न चैतत्समानधर्मोपलब्धौ
 धर्मधर्मिण्यहमस्मिन्नैव निवर्तत इति । यद्योक्तं नार्थान्तराध्व-
 सायादभ्यन्तरं संशय इति । यो धर्म्यान्तराध्ववसायमात्रं संशय-
 हेतुमुपाददौत, स एवं वाच्य इति । * यत्पुनरेतत्कार्यकारणयोः
 सादृश्याभावादिति । * कारणस्य भावाभावयोः कार्यस्य
 भावाभावौ कार्यकारणयोः सादृश्यम् ; यत्सोत्पादात् यदुत्पद्यते,

जारीः, यो विशेष इतरव्यावर्तकी धर्मः, तस्यापनत ईदं ईदचं, ततः विशेषादर्शन-
 सिद्धिः । यथा च विशेषादर्शनवर्जितप्राकारचयनं दर्शनादितः संशये लीयते न

यस्य चानुत्पादात् यत्नोत्पद्यते, तत्कारणं, कार्यमितरत्, इत्येतत्
साहचर्यम् । अस्ति च संशयकारणे संशये चैतदिति । एतेनानेक-
धर्माध्यवसायादिति प्रतिषेधः परिहृत इति । यत्पुनरेतदुक्तं
विप्रतिपत्त्यवस्थाऽध्यवसायाच्च न संशय इति । इत्युक्तप्रवादयो-
र्याजितमर्थमुपसम्मे, विशेषश्च न जानामि, नोपसम्मे, येनाभ्य-
तरमवधारयेयम् । तत् कोऽत्र विशेषः स्यात्, येनैकतरमव-
धारयेयम् ? इति संशयो विप्रतिपत्तिजनितोऽर्थः(ऽर्थः), न शक्यो
विप्रतिपत्ति-सम्प्रतिपत्तिमात्रेण निवर्त्तयितुमिति । एवमुप-
सम्प्रतिपत्त्यवस्थाकृते संशये वेदितव्यमिति । यत् पुनरेतत्
विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेरिति । * विप्रतिपत्तिशब्दस्य
योऽर्थः, तदध्यवसायो विशेषापेक्षः संशयहेतुः, तस्य च समा-
ख्याऽन्तरेण न निवृत्तिः * समानेऽधिकरणे व्याहृतार्थो प्रवादौ
विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः, तदध्यवसायस्य विशेषापेक्षः संशयहेतुः,
न चास्य सम्प्रतिपत्तिशब्दे समाख्याऽऽन्तरे योज्यमाने संशय-
हेतुत्वं निवर्त्तते । तदिदमल्लतमुचिसम्बोद्धनमिति । यत्पुन-
रध्यवस्थाऽऽत्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाध्यवसाया इति । * संशयहेतो-
रर्थस्याप्रतिषेधादध्यवस्थाऽभ्यनुष्ठानाच्च निमित्तान्तरेण शब्दा-
न्तरकल्पना कर्त्तव्या । * अध्यवस्था कस्य व्यवस्था न भवति,
अध्यवस्थाऽऽत्मनि व्यवस्थितत्वादिति । नानयोदपक्षानुपपत्त्योः
सदसद्विषयत्वं विशेषापेक्षं संशयहेतुर्न भवतीति प्रतिषिध्यते ।
यावता चाध्यवस्थाऽऽत्मनि व्यवस्थिता, न तावताऽऽत्मानं
जहाति । तावता अनुज्ञाता भवत्यध्यवस्था । एवमर्थं
क्रियमाणाऽपि शब्दान्तरकल्पना नार्थान्तरं साधयतीति । यत्

कारणानावावर्तनम्, न वा यत्किंचित्कारणं सत्तादत्मनसंशय इत्यर्थः, साधारणवर्त-
नं नारीच संशयविषये जगत्तत्त्वात् संशयमावर्त्तितं त्रिं व्यभिचारेऽपि न भवति,
विशेषविषयी च सादिवाक्याभावात् संशयविषयमात्रम् । यदीति सत्तादत्मनसंशय-

पुनरेतत् तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्वर्मासातत्योपपत्तेरिति । नायं
समानधर्मादिभ्य एव संशयः, किं तर्हि ?—तत्तद्विषयाध्यव-
सायादिशेषकृतिसहितः दित्यतो नात्यन्तसंशय इति । अन्यतर-
धर्माध्यवसायाद्वा न संशय इति, तच्च युक्तम्; विशेषापेक्षो
विमर्शः संशय इति वचनात् । विशेषश्चान्यतरधर्मः, न च
तस्मिन्नध्यवसायमाने विशेषापेक्षा सम्भवतीति ॥ ६ ॥

यत्र संशयस्तत्रैव मुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥

यत्र यत्र संशयपूर्विका परीक्षा शास्त्रे कथायां वा, तत्र
तत्रैवं संशये परेण प्रतिषिद्धे समाधिर्वाच्य इति । अतः सर्व-
परीक्षाव्यापित्वात् प्रथमं संशयः परीक्षित इति ॥ ७ ॥

अथ प्रमाणपरीक्षा,—

प्रत्यक्षाऽऽदीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षाऽऽदीनां प्रामाण्यं नास्ति, त्रैकाल्यासिद्धेः, पूर्वापरसह-
भावानुपपत्तेरिति ॥ ८ ॥

नात् कथं संशयः ? समानत्वस्य भेदगर्भत्वादिति, तदपि न, न हि समानधर्मत्वेन
तज्ज्ञानं हेतुः, अपि तु उभयसद्वचरितधर्मवत्त्वज्ञानं तथेत्युक्तदोषाभावात् ॥ ६ ॥

सम्पति संशयपरीक्षयैव परीक्षां वदार्थानां परीक्षामतिदिशन्नाह ।—एवमुत्तरीत्या,
उत्तरीचरेषु प्रयोजनादिषु, प्रसङ्गः प्रकटः सङ्गः, परीक्षायाः सम्बन्धी बोद्धव्यः, तस्मिन्
प्रयोजनमपि परीक्षणीयम् ? नेत्याह—यत्र संशय इति । यदि तत्र चचायं संशयः,
तदा तदपि परीक्षणीयम् । अथवा,—उत्तरोत्तरम् उक्तिप्रत्युक्तिरूपं, तत्र प्रसङ्गः, तद्गूपा
परीक्षा संशयितेऽर्थे कर्तव्येत्यर्थः ॥ ७ ॥

समाप्तं संशयपरीक्षाप्रकरणम् ।

इदानीमवसरतः प्रमाणसामान्यपरीक्षणाय पूर्वं पश्यति ।—कालवयेऽपि
प्रमाणात् प्रमायाः सिद्धेर्वक्तुमशक्यत्वात् प्रत्यक्षाऽऽदीनां न प्रामाण्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

अस्य सामान्यवचनस्यार्थविभागः,—

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्
प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥

गन्धाऽऽदिविषयकं ज्ञानं प्रत्यक्षं, तद्यदि पूर्वं, पश्चाद्गन्धा-
ऽऽदीनां सिद्धिः, नेदं गन्धाऽऽदिसन्निकर्षादुत्पद्यत इति ॥ ९ ॥

पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥ १० ॥

असति प्रमाणे केन प्रमेयमाणोऽर्थः प्रमेयः स्यात् ? प्रमाणेन
खलु प्रमेयमाणोऽर्थः प्रमेयमित्येतत् सिध्यति ॥ १० ॥

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वा-
भावो बुद्धीनाम् ॥ ११ ॥

यदि प्रमाणं प्रमेयञ्च युगपद्भवतः ; एवमपि गन्धाऽऽदिष्वि-
न्द्रियार्थेषु ज्ञानानि प्रत्यर्थनियतानि युगपत्सम्भवन्तीति ज्ञानानां
प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावः । या इमा बुद्ध्यः क्रमेणार्थेषु

विमुक्ता वैकाल्यासिद्धत्वं व्युत्पादयति ।—प्रमाणस्य पूर्वं तावन्न सम्भवति,
हि यतः प्रमायाः पूर्वं प्रमाणसिद्धौ प्रमाणसत्ते इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रत्यक्षं सिध्यतीति
न स्यात् ; प्रत्यक्षप्रमाणतः पूर्वमेव प्रमायाः सत्त्वात्, प्रमाणत्वं हि प्रमाकरणत्वम् ;
पूर्वं प्रमाया अभवि प्रमाकरणत्वमपि कथं स्यात् ? पूर्वमेव प्रमायाः सिद्धिरपेक्षेति
कथम् ? इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् इन्द्रियार्थसन्निकर्षादितः, प्रत्यक्षोत्पत्तिः प्रत्यक्षाद्युत्पत्तिः ।
परि तु प्रत्यक्षं प्रति करणत्वे खण्डिते तद्वीत्या करणान्तरमपि खण्डनीयमित्याशयं
सूत्रकृता वर्णयन्ति, प्रमाणस्य प्रमावैशिष्ट्याभावे प्रमाणमिति ज्ञातेऽपि प्रमावैशिष्ट्यसंशयः
स्यादिति भावः ॥ ९ ॥

प्रमाणस्य प्रमातः पश्चात् सिद्धौ विषयस्य प्रमेयत्वं प्रमाणात् पूर्वमेव सिद्धमिति न
प्रमाणतः प्रमाया उत्पत्तिः, प्रमेयस्य च ज्ञातिरिति ॥ १० ॥

इदञ्च सूत्रद्वयम् अनुमानाद्यभिप्रायेण, चतुःश्रीनादेः प्रमाऽनन्तरं प्रमासमकालं
वा सत्त्वस्योत्पत्तिः, उत्पत्तेः शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् ; तदयमर्थः,—प्रमाणप्रमद्योर्युगपत्सत्त्वे
युगपदुत्पत्तौ बुद्धीनामर्थविशेषनियतत्वाद् यत् क्रमवृत्तित्वं, तन्न स्यात्, पदज्ञानं हि

प्रवर्तन्ते, तासां क्रमवृत्तित्वं न सम्भवतीति । व्याघातश्च
 युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो निवृत्तिमिति । एतावांश्च प्रमाण-
 प्रमेययोः सद्भावविषयः, न चानुपपन्न इति, तस्मात् प्रत्यक्षा-
 ऽऽदौनां प्रमाणत्वं न सम्भवतीति । * अस्य समाधिः * * उप-
 लब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद्
 यथादर्शनं विभागवचनम् * क्वचिदुपलब्धिहेतुः पूर्वं, पश्चादुप-
 लब्धिविषयः । यथाऽऽदित्यस्य प्रकाशः । उत्पद्यमानानां क्वचित्
 पूर्वमुपलब्धिविषयः, पश्चादुपलब्धिहेतुः । यथाऽवस्थितानां
 प्रदीपः । क्वचिदुपलब्धिहेतुरुपलब्धिविषयश्च सह सम्भवतः ।
 यथा धूमेनाग्नेर्ग्रहणमिति । उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणं, प्रमेय-
 न्तूपलब्धिविषयः । एवं प्रमाणप्रमेययोः पूर्वापरसहभावे-
 ऽनियते यथाऽर्थो दृश्यते, तथा विभज्य वचनीय इति । तत्रै-
 कान्तेन प्रतिषेधानुपपत्तिः । सामान्येन खलु विभज्य प्रतिषेध
 उक्त इति । समाख्याहेतोस्त्रैकात्म्ययोगात् तथाभूता समाख्या ।
 यत्पुनरिदं, पश्चात् सिद्धे च प्रमाणे, न प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेय-
 मिति विज्ञायत इति । * प्रमाणमित्येतस्याः समाख्याया
 उपलब्धिहेतुत्वं निमित्तम् ; तस्य त्रैकात्म्ययोगः, * उपलब्धिम-
 कार्षीत्, उपलब्धिं करोति, उपलब्धिं करिष्यतीति समाख्या-
 हेतोस्त्रैकात्म्ययोगात् समाख्या तथाभूता । प्रमितोऽनेनार्थः,
 प्रमीयते, प्रमास्यते, इति प्रमाणम् । प्रमितं, प्रमीयते,
 प्रमास्यत, इति च प्रमेयम् । एवं सति भविष्यत्यस्मिन् हेतुत
 उपलब्धिः, प्रमास्यतेऽयमर्थः, प्रमेयमिदमित्येतत् सर्वं भवतीति ।

अव्यविवक्षितं ज्ञानप्रत्यक्षरूपम् ; ज्ञान्वीथयः पदार्थविषयकः परीक्षरूपो (परि + ईच्छ)
 विज्ञातीयः, इत्यनयोर्न योनयश्च सम्भवति, कार्यकारणभावसत्त्वात् क्रमिकत्वेनैव सिद्धेः,
 अत एवैकमेव ज्ञानमुभयविषयकमित्यपि नाशङ्कनीयं, सङ्करप्रसङ्गाच्च, एवं ज्ञानविज्ञानानु-
 मित्यादावपि द्रष्टव्यम् ; परं तु प्रमाणप्रमेययोर्न युगपत् सिद्धिर्न युगपज्ज्ञानम् ;

• त्रैकास्यानभ्यनुज्ञाने च व्यवहारानुपपत्तिः । • यद्यैवं नाभ्यनु-
जानीयात्, तस्य पाचकमानय पश्यति, सावकमानय खविष्य-
तीति व्यवहारो नोपपद्यत इति । प्रत्यक्षाऽऽदीनामप्रामाण्यं
त्रैकास्यासिद्धेरित्येवमादिवाक्यं प्रमाणप्रतिषेधः । तत्रायं प्रष्टव्यः,
—अथानेन प्रतिषेधेन भवता किं क्रियते ? इति । किं सम्भवो
निवर्त्यते ? अथासम्भवो ज्ञाप्यते ? इति । तद्यदि सम्भवो
निवर्त्यते, सति सम्भवे प्रत्यक्षाऽऽदीनां प्रतिषेधानुपपत्तिः ।
अथासम्भवो ज्ञाप्यते, प्रमाणलक्षणं (क) प्राप्तस्त्वर्हि प्रतिषेधः ।
प्रमाणासम्भव(ख)स्वीपलब्धिहेतुत्वादिति ॥ ११ ॥

किञ्चातः,—

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥

अस्य तु विभागः,—पूर्वं हि प्रतिषेधसिद्धावसति प्रतिषेधे
किमनेन प्रतिषिध्यते । पश्चात् सिद्धौ प्रतिषेध्यासिद्धिः, प्रतिषेध-
भावादिति । युगपत्सिद्धौ प्रतिषेध(ध्य)सिद्धयभ्यनुज्ञानादनर्थकः
प्रतिषेधः इति । प्रतिषेधलक्षणे च वाक्येऽनुपपद्यमाने सिद्धं
प्रत्यक्षाऽऽदीनां प्रामाण्यमिति ॥ १२ ॥

बुद्धीनामपेक्षितेष्वनियतत्वात् ज्ञानवृत्तित्वम् ; तथा सति तत्र ज्ञानं, तथा हि चक्षुषो
ज्ञानमनुमितिवादिरूपम् ; घटादिव प्रत्यक्षादिरूपम् ; न चानुमीयमानं सम्भवतीत्यर्थं
इत्याहुः ॥ ११ ॥

सिद्धान्तपूर्वकम् ।—अदि त्रैकास्यासिद्ध्या प्रमाणात् प्रतीयसिद्धिर्नियते, तथा
तद्गोत्या लक्ष्यैः प्रतिषेधोऽप्यनुपपन्न इति आलुचरनेतदिति भावः ॥ १२ ॥

(क) अत्र बुद्धीलमात्रः, प्रमाणास्य लक्षणं, प्राप्तः प्रमाणास्यलक्षणाभावः ।

(ख) प्रमाणासिद्धासम्भवस्येति यावत् ।

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधासिद्धिः ॥ १३ ॥

कथं त्रैकाल्यासिद्धेरित्यस्य हेतोर्यद्युदाहरणमुपादीयते, हेत्वर्थस्य साधकत्वं दृष्टान्ते दर्शयितव्यम् ? इति । न च तर्हि प्रत्यक्षाऽऽदीनामप्रामाण्यम् । अथ प्रत्यक्षाऽऽदीनामप्रामाण्यम् । उपादीयमानमप्युदाहरणं नार्थं साधयिष्यतीति । सोऽयं सर्वप्रमाणैर्व्याहतो हेतुरहेतुः । “सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधो विरुद्धः” इति । वाक्यार्थो ह्यस्य सिद्धान्तः, स च वाक्यार्थः प्रत्यक्षाऽऽदीनि नार्थं साधयन्तीति । इदञ्चावयवानामुपादानमर्थस्य साधनायेति । अथ नोपादीयते, अप्रदर्शितहेत्वर्थस्य (ग) दृष्टान्ते न साधकत्वमिति निषेधो नोपपद्यते, हेतुत्वासिद्धेरिति ॥ १३ ॥

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

प्रतिषेधलक्षणे स्ववाक्ये तेषामवयवाऽऽश्रितानां प्रत्यक्षाऽऽदीनां प्रामाण्येऽभ्यनुज्ञायमाने परवाक्येऽप्यवयवाऽऽश्रितानां प्रामाण्यं प्रसज्यते, अविशेषादिति । एवञ्च न सर्वाणि प्रमाणानि प्रतिषिध्यन्त इति । विप्रतिषेध इति वीत्ययमुपसर्गः सम्प्रतिपत्त्यर्थे, न व्याघाते, अर्थाभावादिति ॥ १४ ॥

त्रैकाल्यप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत् सिद्धेः ॥ १५ ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?—पूर्वोक्तनिबन्धनार्थम् । यत्तावत्

किञ्च,—सर्वप्रमाणप्रतिषेधे प्रतिषेधकं प्रमाणमपि नाभ्युपगन्तव्यम् । तथा च कथं प्रतिषेधसिद्धिरित्याह ॥ १३ ॥

यदि च प्रतिषेधकं प्रमाणमुपेत्यते, तदा कथं सर्वप्रमाणप्रतिषेध इत्याह ॥ १४ ॥

ननु मन्यते वस्तुसिद्धिर्नापेक्षिता, विश्वस्य शून्यत्वात्, प्रमाणप्रमेयभावोऽपि न बाधविकः, लभ्यते च त्रैकाल्यासिद्धिरुक्तौवेत्यतस्तदुद्धरति,—त्रैकाल्ये यः प्रतिषेध उक्तः,

(ग) समर्थो निष्ठलम् ।

पूर्वोक्तमुपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावा-
नियमाद् यथादर्शनं विभागवचनमिति । तदितः समुत्थानं यथा
विज्ञायते । अनियमदर्शी खल्वयमृषिर्नियमेन प्रतिषेधं प्रत्याचष्टे,
त्रैकाल्यस्य चायुक्तः प्रतिषेध इति । तत्रैकां विधामुदाहरति ।
शब्दादातोद्यसिद्धिवदिति । यथा पश्चात्सिद्धेन शब्देन पूर्व-
सिद्धमातोद्यमनुमीयते ; साध्यज्ञातोद्यं साधनञ्च शब्दः । अन्तर्हिते
ज्ञातोद्ये स्वनतोऽनुमानं भवतीति । वीणा वाद्यते, वेणुः पूर्यते,
इति स्वनविशेषेण आतोद्यविशेषं प्रतिपद्यते । तथा पूर्वसिद्धमुप-
लब्धिहेतुना प्रतिपद्यत इति । निदर्शनार्थत्वाच्चास्य श्रेषथोर्विधयो-
र्यथोक्तमुदाहरणं वेदितव्यमिति । कस्मात् पुनरिह तन्नोच्यते,
पूर्वोक्तमुपपाद्यत इति । सर्वथा तावदयमर्थः प्रकाशयितव्यः,
सह इह वा प्रकाशयेत, तत्र वा, न कश्चिद्विशेष इति ॥ १५ ॥

यदा चोपलब्धिविषयः कस्यचिदुपलब्धिसाधनं भवति
तदा * प्रमाणं प्रमेयमिति चैकोऽर्थोऽभिधीयते । * अस्यार्थ-
स्वावद्योतनार्थमिदमुच्यते,—

प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत् ॥ १६ ॥

गुरुत्वपरिमाणज्ञानसाधनं तुला प्रमाणम् । ज्ञानविषयो
गुरुद्रव्यं सुवर्णाऽऽदि प्रमेयम् । यदा तु सुवर्णाऽऽदिना तुलाऽन्तरं

स न सञ्भवति, कुतः ? इत्यत आह, शब्दादिति ।—यथा शब्दात् पश्चाद्भाविनः
पूर्वसिद्धस्याऽऽतोद्यस्य मुरजाऽऽदेः सिद्धिर्ज्ञेति; यथा वा पूर्वसिद्धात् पदार्थादुत्तरकालीन-
वस्तुप्रकाशनं, यथा वा वज्रिसमकालीनात् धूमाद् वज्रिसिद्धिः, तथाऽत्रापि प्रमा-
सर्वत्र प्रमाणादुत्तरभावित्वेव, प्रमाणस्य चक्षुरादेः प्रमातः पूर्वभावित्वमप्येव, पूर्वं
प्रमावैशिष्ट्यन्तु तस्य नोपेयते, यदा कदाचित् प्रमासम्बन्धेनैव प्रमाणत्वसम्भवात्,
यदा कदाचित् पाकसम्बन्धेनैव पाचकमानयेत्यादिवदिति भावः । अत्र चकारात्
न स्वान्तर्गतमिति तत्त्वान्नोके, वस्तुतष्टीकादिस्वरसात् स्वान्तर्गतमेव ॥ १५ ॥

नन्वनियतत्वादेव प्रमाणप्रमेयव्यवहारो न पारमाथिकः, रज्जौ, सर्पादिक-
व्यवहारवदित्याशङ्क्यामाह ।—यथा हि गुहायाः सुवर्णादिगुरुत्वेनैव पारिच्छेदक-

व्यवस्थाप्यते, तदा तुलाऽन्तरप्रतिपत्तौ सुवर्णाऽऽदि प्रमाणम्; तुला-
 ऽन्तरं प्रमेयमिति । एवमनवयवेन तन्वार्थं उद्दिष्टो वेदितव्यः ।
 आत्मा तावदुपलब्धिविषयत्वात् प्रमेये परिपठितः । उपलब्धौ
 स्वातन्त्र्यात् प्रमाता । बुद्धिरुपलब्धिसाधनत्वात् प्रमाणम् ।
 उपलब्धिविषयत्वात् प्रमेयम् । उभयाभावात् प्रामाण्यं । एव-
 मर्थविशिषे समाख्यासमावेशो योज्यः । * तथा च कारकशब्दा
 निमित्तवशात् समावेशेन वर्तन्ते इति । * वृक्षस्तिष्ठतीति
 स्थितिस्वातन्त्र्यात् कर्त्ता । वृक्षं पश्यतीति दर्शनेनाऽऽप्तुमिष्ण-
 माणतमत्वात् कर्म । वृक्षेण चन्द्रमसं ज्ञापयतीति ज्ञापकस्य
 साधकतमत्वात् कारणम् । वृक्षायोदकमासिञ्चतीत्यादिभ्य-
 मानेनोदकेन वृक्षमभिप्रैतीति सम्प्रदानम् । वृक्षात् पर्णं
 पततीति ध्रुवमपायेऽपादानमित्यपादानम् । वृक्षे वयांसि
 सन्तीत्याधारोऽधिकरणमित्यधिकरणम् । एवञ्च सति न द्रव्य-
 मात्रं कारकं, न क्रियामात्रम् । किं तर्हि ?—क्रियासाधनं
 क्रियाविशेषयुक्तं कारकम् । यत् क्रियासाधनं स्वतन्त्रं, स
 कर्त्ता, न द्रव्यमात्रं, न क्रियामात्रम् । क्रियया ज्ञाप्तुमिष्ण-
 माणतमं कर्म, न द्रव्यमात्रं, न क्रियामात्रम् ; एवं साधक-
 तमादिष्वपि । एवञ्च कारकाभ्यान्वाख्यानं यथैवीपपत्तितः, एवं
 लक्षणतः । कारकाभ्यान्वाख्यानमपि न द्रव्यमात्रेण, न क्रियया
 वा । किं तर्हि ?—क्रियासाधने क्रियाविशेषे युक्तं इति । कारक-
 शब्दश्चायं प्रमाणं प्रमेयमिति, स च कारकधर्मं न हातुमर्हति ।
 अस्ति च भोः ! कारकशब्दानां निमित्तवशात् समावेशः ।
 प्रत्यक्षाऽऽदौ च प्रमाणानि उपलब्धिहेतुत्वात्, प्रमेयञ्चोपलब्धि-
 त्वात् प्रमाणव्यवहारः, तुलाऽन्तरेण च तदीयगुरुत्वेनापरिच्छेदं च प्रमेयव्यवहारः,
 तथा निमित्तवशात् समावेशादिन्द्रियादेरपि प्रमाणप्रमेयव्यवहार इति । यद्वा,—प्रमाणात्
 प्रमेयता च प्रमावैशिष्ट्यादिति यन्नागाशङ्कितं, तवाऽऽह प्रमेयता चेति, यथा कदाचिद्

विषयत्वात् । संवेद्यानि च प्रत्यक्षाऽऽदीनि । प्रत्यक्षेणोपलभे, अनुमानेनोपलभे, उपमानेनोपलभे, आगमेनोपलभे, प्रत्यक्षं मे ज्ञानम्, अनुमानिकं मे ज्ञानम्, औपमानिकं मे ज्ञानम्, आगमिकं मे ज्ञानमिति ज्ञानविशेषा गृह्यन्ते । लक्षणतश्च ज्ञाप्यमानानि ज्ञायन्ते, विशेषेण ह्यन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमित्येवमादिना ॥ १६ ॥

सेयमुपलब्धिः प्रत्यक्षाऽऽदिविषया किं प्रमाणान्तरतः ? अथान्तरेण प्रमाणान्तरमसाधना ? इति । कश्चात् विशेषः ?—

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तर-
सिद्धिप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

यदि प्रत्यक्षाऽऽदीनि प्रमाणेन उपलभ्यन्ते । येन प्रमाणे-
नोपलभ्यन्ते, तत्प्रमाणान्तरसङ्गावः प्रसज्यत इति । अनवस्था-
माह । तस्याप्यन्यतरस्याप्यन्येनेति । न चानवस्था शक्या-
ऽनुज्ञातुमनुपपत्तेरिति ॥ १७ ॥

अस्तु तर्हि प्रमाणान्तरमन्तरेण निःसाधनेति ।

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणान्तरसिद्धिवत् प्रमेय-
सिद्धिः ॥ १८ ॥

यदि प्रत्यक्षाऽऽद्युपलब्धौ प्रमाणान्तरं निवर्तते, आत्मैत्युप-
लब्धावपि प्रमाणान्तरं निवर्त्यत्यविशेषात् ॥ १८ ॥

गुरुत्वेयत्तापरिच्छेदकत्वात् । तुलायाः प्रमाणव्यवहारः, तथेन्द्रियघटादिरपि प्रमाण-
प्रमेयव्यवहार इति ॥ १६ ॥

अनवस्थया प्रत्यवस्थानपरं पूर्वपक्षसूत्रम् । प्रमाणानां प्रमाणतः सिद्धेः स्वीकारे
प्रमाणान्तरस्वीकारः स्यात्, तथा हि, प्रमाणस्य दावन्न स्वतः सिद्धिः, आत्माऽऽश्रया-
ऽऽपत्तेः, अतः प्रमाणान्तरं स्वीकार्यम् ; तथोप परस्परसाधकत्वेऽन्योऽन्याऽऽश्रया-
ऽऽपत्तिः, अतस्तत्रापि प्रमाणान्तरमङ्गीकार्यमित्येवमनवस्थेति भावः ॥ १७ ॥

ननु प्रमाणसिद्धिः प्रमाणं विनैव स्यादित्वाऽऽह ।—यदि च प्रमाणविनिवृत्तितः
प्रमाणव्यतिरेकात् प्रमाणसिद्धिः स्वीक्रियते, तदा तददेव तत्सिद्धिः स्वीक्रियताम् ?

एवञ्च सर्वप्रमाणविलोप इत्यत आह,—

न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धेः ॥ १६ ॥

यथा प्रदीपप्रकाशः प्रत्यक्षाङ्गत्वादृश्यदर्शने प्रमाणं, स च प्रत्यक्षान्तरेण चक्षुषः सन्निकर्षणं गृह्यते । प्रदीपभावाभावयोर्दर्शनस्य तथा भावादृशनहेतुरनुमीयते । तमसि प्रदीपमुपाददीथा इत्याप्तोपदेशेनापि प्रतिपद्यते । एवं प्रत्यक्षाऽऽदीनां यथादर्शनं प्रत्यक्षाऽऽदिभिरेवोपलब्धिः । इन्द्रियाणि तावत् स्वविषयग्रहणेऽत्रानुमीयन्ते । अर्थाः प्रत्यक्षतो गृह्यन्ते । इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्तु आवरणेन लिङ्गेनानुमीयते । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मसमवायाच्च सुखादिवद् गृह्यते । * एवं प्रमाणविशेषो विभज्य वचनीयः । * यथा च दृश्यः सन् प्रदीपप्रकाशो दृष्ट्यान्तराणां दर्शनहेतु-

किं प्रमाणाङ्गीकारेण ? तथा च अव्यवस्थितमेव जगत् स्यादिति युक्त्यायां पथ्यवसान-
मिति भावः ॥ १८ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् । यथा हि प्रदीपाऽऽलीकाद्वटादिप्रकाशः, तथा प्रमाणाणां प्रमेय-
प्रकाशकत्वम्, अथवा प्रदीपस्य घटप्रकाशकत्वं, प्रदीपप्रकाशकं चक्षुः, तज्ज्ञापक-
त्वमदित्यनवस्थम्भयत् प्रदीपोऽपि न घटप्रकाशकः स्यात्, यदि च घटप्रत्यक्षे तत्तत्प्रका-
शकानां नापेक्षेति मानवस्थेत्युच्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्; न हि प्रमाणात् प्रमेयसिद्धौ
प्रमाणसिद्धिरपेक्षिता, यदा च प्रमाणसिद्धिरपेक्षिता, तदा तदापि प्रमाणमपेक्ष्यताम् ?
तन्नुमानादिकमेवेति, न प्रमाणान्तरकल्पना, न वाऽनवस्था, सर्वत्र प्रमाणसिद्धे-
रनपेक्षितत्वात्, क्वचिद्वैजाङ्गुरवदपेक्षाऽपि न चतिकरोति भावः । प्रदीपस्य प्रदीपा-
न्तरं विना प्रकाशकत्ववत् प्रमाणाणामपि प्रमाणमन्तरैषैव प्रमेयप्रकाशकत्वमिति सूत्रार्थं
केचन मन्यन्ते, तान् प्रत्याह भाष्यकारः । “क्वचिन्निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनादनैकान्तः,”
क्वचित् प्रदीपादौ प्रमाणान्तरनिवृत्तिदर्शनात्, क्वचिद्वटादौ प्रमाणान्तरानिवृत्तिदर्शनात्
प्रमाणान्तरापेक्षादर्शनात् लदीयो हेतुरनैकान्तः अनियतः ; तथा च प्रदीपदृष्टान्तात्
प्रमाणान्तरापेक्षा निवृत्तिः साध्यते, घटदृष्टान्तेन प्रमाणान्तरापेक्षैव किं न साध्यते ?

रिति दृश्यदर्शनव्यवस्थां लभते । एवं प्रमेयं सत् किञ्चिदर्थ-
जातमुपलब्धिहेतुत्वात् प्रमाणप्रमेयव्यवस्थां लभते । सेयं प्रत्य-
क्षाऽऽदिभिरेव प्रत्यक्षाऽऽदीनां यथादर्शनमुपलब्धिः, न प्रमाणा-
न्तरतः, न च प्रमाणमन्तरेण निःसाधनेति । * तेनैव
तस्याग्रहणमिति चेत् न, अर्थभेदस्य लक्षणसामान्यात् प्रत्यक्षा-
ऽऽदीनां प्रत्यक्षाऽऽदिभिरेव ग्रहणमित्युक्तम् । * * अन्येन
ह्यन्यस्य ग्रहणं दृष्टमिति न, अर्थभेदस्य लक्षणसामान्यात् *
प्रत्यक्षलक्षणेनानेकोऽर्थः सङ्गृहीतः । तत्र केनचित् कस्यचित्
ग्रहणमित्यदोषः । एवमनुमानादिष्वपीति । यथोद्धृतेनोदके-
नाऽऽशयस्थस्य ग्रहणमिति । * ज्ञातमनसोश्च दर्शनात् । * अहं
सुखी अहं दुःखी चेति तेनैव ज्ञात्वा तस्यैव ग्रहणं दृश्यते ।
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति च तेनैव मनसा
तस्यवानुमानं दृश्यते । ज्ञातुर्ज्ञेयस्य चाभेदो ग्रहणस्य ग्राह्यस्य
चाभेद इति । * निमित्तभेदोऽत्रेति चेत् समानम् । * न
निमित्तान्तरेण विना ज्ञाताऽऽत्मानं जानीते, न च निमित्तान-
्तरेण विना मनसा मनो गृह्यत इति । समानमेतत् ।
प्रत्यक्षाऽऽदिभिः प्रत्यक्षाऽऽदीनां ग्रहणमित्यत्राप्यर्थभेदो न गृह्यत
इति । * प्रत्यक्षाऽऽदीनाञ्चाविषयस्यानुपपत्तेः । * यदि स्यात्
किञ्चिदर्थजातं प्रत्यक्षाऽऽदीनामविषयः, यत् प्रत्यक्षाऽऽदिभिर्न
शक्यं ग्रहीतुं, तस्य ग्रहणाय प्रमाणान्तरमुपादीयेत ।
तत्तु न शक्यं केनचिदुपपादयितुमिति । प्रत्यक्षाऽऽदीनां यथा-
दर्शनमेवेदं सच्चासच्च सर्वं विषय इति । केचित्तु दृष्टान्तम-
परिगृहीतं हेतुना विशेषहेतुमन्तरेण साध्यसाधनायोपाददते ।

तथा च दृष्टान्तसमा जातिरियमिति भावः । त्वद्याख्याने कथं मानेकान्त इत्यत्राऽऽह
भाष्यकारः,—“विशेषहेतुपरिग्रहे सत्युपसंहाराभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः” । मन्वते

यथा प्रदीपप्रकाशः प्रदीपान्तरप्रकाशमन्तरेण गृह्यते, तथा प्रमाणानि प्रमाणान्तरमन्तरेण गृह्यन्ते इति । * स चायं क्वचिन्निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदनैकान्तः । * यथा चायं प्रसङ्गो निवृत्तिदर्शनात् प्रमाणसाधनायोपादीयते, एवं प्रमेयसाधनायाप्युपादेयोऽविशेषहेतुत्वात् । यथा स्थाव्यादिरूपग्रहणे प्रदीपप्रकाशः प्रमेयसाधनायोपादीयते, एवं प्रमाणसाधनायाप्युपादेयो विशेषहेत्वभावात् । सोऽयं विशेषहेतुपरिग्रहमन्तरेण दृष्टान्त एकस्मिन् पक्षे उपादेयो न प्रतिपक्ष इत्यनैकान्तः । अनेकस्मिंश्च पक्षे दृष्टान्त इत्यनैकान्तो विशेषहेत्वभावादिति । * विशेषहेतुपरिग्रहे सति उपसंहाराभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः । * * विशेषहेतुपरिगृहीतस्तु दृष्टान्त एकस्मिन् पक्षे उपसंक्रियमाणो न शक्योऽननुज्ञातुम् । * एवञ्च सत्यनैकान्त इत्ययं प्रतिषेधो न भवति । * प्रत्यक्षाऽऽदीनां प्रत्यक्षाऽऽदिभिरूपलब्धावनवस्थेति चेत्, न, संविद्विषयनिमित्तानामुपलब्ध्या व्यवहारोपपत्तेः । * प्रत्यक्षेणार्थमुपलभे, अनुमानेनार्थमुपलभे, उपमानेनार्थमुपलभे, आगमेनार्थमुपलभे इति । प्रत्यक्षं मे ज्ञानम्, आनुमानिकं मे ज्ञानम्, औपमानिकं मे ज्ञानम्, आगमिकं मे ज्ञानमिति । संविन्निमित्तञ्चोपलभमानस्य धर्मार्थसुखापवर्गप्रयोजनस्तत्पत्न्यनीकपरिवर्जनप्रयोजनश्च व्यवहार उपपद्यते । सोऽयं तावत्येव निवर्त्तते, न चास्ति व्यवहारान्तरमनवस्थासाधनौयं, येन प्रयुक्तोऽनवस्थामुपाददीतेति ॥ १८ ॥

विशेषहेतोः व्यातिपक्षधर्मताऽऽशयस्य, परिग्रहे सति, उपसंहारस्य साध्यसाधनस्य, अभ्यनुज्ञानात्, उक्तानैकान्ताऽऽत्मकः प्रतिषेधो न भवति ॥ १८ ॥

समाप्तं प्रमाणसामान्यपरौचाप्रकरणम् ।

सामान्येन प्रमाणानि परीक्ष्य विशेषेण परीक्ष्यन्ते । तत्र,—
प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥ २० ॥

आत्ममनःसन्निकर्षो हि कारणान्तरं नोक्तमिति । न
चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजस्य गुणस्योत्पत्तिः इति, ज्ञानोत्पत्ति-
दर्शनादात्ममनःसन्निकर्षः कारणम् । मनःसन्निकर्षानपेक्षस्य
चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वे युगपदुत्पद्येरन् बुद्ध्यः
इति, मनःसन्निकर्षोऽपि कारणम् । तदिदं सूत्रं पुरस्तात्
कृतमाश्रयम् ॥ २० ॥

नाऽऽत्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥

आत्ममनसोः सन्निकर्षाभावे नोत्पद्यते प्रत्यक्षम्, इन्द्रियार्थ-
सन्निकर्षाभाववदिति । सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानोत्पत्ति-
दर्शनात् कारणभावं ब्रुवते ॥ २१ ॥

प्रमाणसामान्यपरीक्षाऽनन्तरं प्रमाणविशेषेषु परीक्षणीयेषु प्रथमोद्दिष्टं प्रत्यक्षं परीक्ष-
णीयम् ; तत्र च फलकारकमेव लक्षणं पूर्वमुक्तम् ; अतः फललक्षणं यथायुतमाश्रयति ।
प्रत्यक्षस्य यल्लक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं, तन्नीपपद्यतेऽसमग्रवचनात् । अयमर्थः,—
प्रत्यक्षस्य कारणघटितं लक्षणमभिहितं, तत्र कारणकषापघटितायाः सामग्र्या
विनिवेशनमतिव्याप्तिरिरासकं, तच्च नाभिहितम्, असमग्रम् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-
जन्यत्वमात्रं अभिहितम्, आत्ममनःसंयोगेन्द्रियमनःसंयोगादिकन्तु नाभिहितम् ;
तथा चाऽऽत्ममनःसंयोगरूपेन्द्रियार्थसंयोगजन्यतयाऽनुमित्यादावतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥ २० ॥

नन्वात्ममनोयोगादेः कारणत्वमेव नास्तीत्याशङ्क्यामाह ।—अरीरावष्टि-
क्षाऽऽत्मनो मनसा यः सन्निकर्षः, तदभावे न प्रत्यक्षोत्पत्तिर्यतः, अत आत्ममनः
संयोगस्य कारणत्वमावश्यकम् । प्रत्यक्षोत्पत्तिरिति प्रकृतं ज्ञानोत्पत्तिरिति
विवक्षितम् ॥ २१ ॥

दिग्देशकालाऽऽकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ॥ २२ ॥

दिगादिषु सत्सु ज्ञानभावात् तान्यपि कारणानीति ।
* अकारणभावेऽपि ज्ञानोत्पत्तिर्दिगादिसन्निधेरवर्जनीयत्वात् । *
यदाऽप्यकारणं दिगादीनि ज्ञानोत्पत्तौ, तदाऽपि सत्सु दिगादिषु
ज्ञानेन भवितव्यम् । न हि दिगादीनां सन्निधिः शक्यः पार-
वर्जयितुमिति । तत्र कारणभावे हेतुवचनम्, एतस्माद्धेतोर्दिगा-
दीनि ज्ञानकारणानीति ॥ २२ ॥

आत्मनःसन्निकर्षस्तर्ह्युपसङ्गेऽय इति । तत्रेदमुच्यते,—

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः ॥ २३ ॥

ज्ञानमात्मनो लिङ्गं, तद्गुणत्वात् । न चासंयुक्ते द्रव्ये
संयोगजस्य गुणस्योत्पत्तिरस्तीति ॥ २३ ॥

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥ २४ ॥

अनवरोध इति वर्तते । युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्ग-
मित्युच्यमाने सिध्यत्येव मनःसन्निकर्षापेक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षो
ज्ञानकारणमिति । * प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्नि-
कर्षस्य शब्देन वचनम्, * प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानां निमित्त-
मात्मनःसन्निकर्षः, प्रत्यक्षस्यैवेन्द्रियार्थसन्निकर्ष इत्यसमानः ।

नन्वेवं दिगादीनामपि कारणत्वं स्यादित्याशङ्कते ।—यथाकथञ्चित् पौर्वापर्यस्य
तत्रापि सत्त्वात्, तेषामन्यथासिद्धिश्चेत्, प्रकृतेऽप्येवम् ॥ २२ ॥

अत्रोत्तरमभिधातुमाह ।—आत्मनो नावरोधोऽसङ्गः, कारणत्वेनेति न, कुतः ?
—ज्ञानलिङ्गत्वात्—ज्ञानं लिङ्गं यस्य तत्तथा, ज्ञानं हि भावकार्यं समवायिकारणं
साधयति, तच्च परिशेषादात्मैव, दिगादीनाञ्च कारणत्वे न मानमिति भावः ।
इत्यञ्च समवायिकारणत्वाऽऽत्मनो मनसा संयोगोऽसमवायिकारणमित्यप्यर्थात्
लिङ्गम् ॥ २३ ॥

आत्मशरीरादिसंयोगस्य कुतो नासमवायिकारणत्वम् ? इत्यतो मनसः प्राधान्ये
शुक्तिमाह ।—नानवरोध इत्यनुवर्तते, इन्द्रियमनोयोगद्वारा ज्ञानायौगपद्यनिधा-

असमानत्वात् तस्य ग्रहणम् । * * सुप्तव्यासक्तमनसाच्चेन्द्रियार्थयोः
सन्निकर्षनिमित्तत्वादिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणं, नाऽऽत्ममनसोः
सन्निकर्षस्येति । * एकदा खल्वयं प्रबोधकालं प्रणिधाय सुप्तः
प्रणिधानवशात् प्रबुध्यते । यदा तु तौत्री ध्वनिस्यर्शौ प्रबोध-
कारणं भवतः, तदा प्रसुप्तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तं प्रबोध-
ज्ञानमुत्पद्यते । तत्र न ज्ञातुर्मनसस्य सन्निकर्षस्य प्राधान्यं
भवति, किं तर्हि इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य ? न ह्यात्मा
जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनस्तदा प्रेरयतीति । एकदा खल्वयं
विषयान्तराऽऽसक्तमनः सङ्कल्पवशाद्विषयान्तरं जिज्ञासमानः
प्रयत्नप्रेरितेन मनसेन्द्रियं संयोज्य तत्तद्विषयान्तरं जानीते ।
यदा तु खल्वस्य निःसङ्कल्पस्य निर्जिज्ञासस्य च व्यासक्तमनसो
वाह्यविषयोपनिपातनाज्ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य
प्राधान्यम् । न ह्यात्मासौ जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनः प्रेरयतीति
प्राधान्याच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यम् । गुणत्वात्
नाऽऽत्ममनसोः सन्निकर्षस्येति ॥ २४ ॥

प्राधान्ये च हेत्वन्तरम्,—

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य
पृथग्वचनम् ॥ २४ ॥ क

मकलान्मनसोऽपि हेतुत्वमावश्यकमिति शरीरमनोयोगादेश न तन्निग्रामकत्वमिति
भावः, इत्यच्चाऽऽत्ममनःसंयोगसमवायिकारणत्वं युक्तम् ॥ २५ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् । प्रत्यक्षनिमित्तत्वात् प्रत्यक्षसाधारणकारणत्वात् । अयमर्थः,—
प्रत्यक्षपक्षे इन्द्रियाद्येसन्निकर्षाभिधानं हि न कारणाभिधितया, येनाऽऽत्ममनो-
योगाद्यनभिधानेन न्यूनत्वम्, अपि तु लक्षणाभिप्रायेः ; तत्र च सामयौघटितस्यैक
असाधारणकारणघटितस्यापि लक्षणस्य सुवचनत्वात् ; इन्द्रियाद्येसन्निकर्षस्य चासाधा-
रणत्वात् पृथग्वचनम्, आत्ममनःसंयोगादिसाधारणकारणाद् व्यवच्छिद्य लक्षण-
घटकतया वचनं युक्तम् । अयं भावः,—इन्द्रियाद्येसन्निकर्षत्वावच्छिन्नकारणताप्रति-
थीनिककार्यताशालित्वस्य इन्द्रियत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिककार्यताशालित्वस्य

सुप्तव्यासक्तमनसाञ्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्ष-
निमित्तत्वात् ॥ २४ ॥ ख

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ २५ ॥

तैरिन्द्रियैरर्थैश्च व्यपदिश्यन्ते ज्ञानविशेषाः । कथम् ?—
घ्राणेन जिघ्रति, चक्षुषा पश्यति, रसनया रसयतीति, घ्राण-
विज्ञानं, चक्षुर्विज्ञानं, रसनाविज्ञानमिति, गन्धविज्ञानं,
रूपविज्ञानं रसविज्ञानमिति च, इन्द्रियविषयविशेषाच्च पञ्चधा
बुद्धिर्भवति । अतः प्राधान्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्येति ॥ २५ ॥

यदुक्तमिन्द्रियार्थसन्निकर्षग्रहणं कार्यम् आत्ममनसोः
सन्निकर्षस्येति, कस्मात् ?—सुप्तव्यासक्तमनसामिन्द्रियार्थयोः
सन्निकर्षस्य ज्ञाननिमित्तत्वादिति । सोऽयम्,—

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २६ ॥

यदि तावत् कचिदात्ममनसोः सन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं
नेष्यते, तदा युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति व्याह-

वा लक्षणस्य सम्यक्ते, कृतमात्ममनोयोगायनुप्रवेशेनेति, परिष्कृतं चेदमधस्तात् । इदं
न सूत्रं, किन्तु भाष्यमिति केचित् । इति वृत्तिसम्मतम् अधिकसूत्रम् ॥ २४ ॥ क

समाख्यन्तरमाह ।—ज्ञानस्येति शेषः । सुप्तानां व्यासक्तमनसाश्च घनगर्जिताऽऽदिना
श्रीवसन्निकर्षावङ्गादिना त्वक्सन्निकर्षाच्च द्वागेव ज्ञानोत्पत्तेरिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य
प्राधान्यम् । इति वृत्तिसम्मतम् अधिकसूत्रम् ॥ २४ ॥ ख

सूक्त्यन्तरमाह ।—ज्ञानविशेषाणां तैरिन्द्रियार्थसन्निकर्षैरपदेशो विशेषणं व्यावृत्तिः,
आत्ममनोयोगादिकं हि न व्यावर्त्तकम् ; तज्जन्यत्वस्य ज्ञानान्तरसाधारणत्वात् । एव-
मिन्द्रियमनोयोगजन्यत्वमपि न लक्षणं, मानसेऽव्याप्तेः । परे तु,—तैरिन्द्रियैर्ज्ञानविशेषाणां
प्रत्यक्षविशेषाणामपदेशो भाषणं यतः, तेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यम् ; भाषन्ते हि
चाक्षुषं प्रत्यक्षं रसनं प्रत्यक्षमित्याहुः । नव्यास्तु,—प्रत्यक्षविशेषाणामिन्द्रियैरपदेशो
यतः, अतश्चाक्षुषादिघटितविशेषलक्षणान्यपि सम्भवन्ति, चाक्षुषवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजाति-
मत्वादीनि लक्षणान्तराण्यपि द्रष्टव्यानीत्याशयं वर्णयन्ति ॥ २५ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षो न हेतुः, अन्यव्यभिचारादित्याशयेन शङ्कते ।—गीत-

न्येत । नेदानीं मनसः सन्निकर्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽपेक्षते ।
मनःसंयोगानपेक्षायाञ्च युगपज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः ॥ २६ ॥

अथ मा भूद् व्याघात इति, सर्वविज्ञानानामात्ममनसोः
सन्निकर्षः कारणमथ्यते, तदवस्थमेवेदं भवति । ज्ञानकारणत्वा-
दात्ममनसाः सन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यमिति ।—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ २७ ॥

नास्ति व्याघातः । न ह्यात्ममनःसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं
व्यभिचरति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यमुपादीयते । अथ-
विशेषप्राबल्याच्च सुप्तव्यासक्तमनसां ज्ञानोत्पत्तिरेकदा भवति ।
अर्थविशेषः कश्चिदेवेन्द्रियार्थः, तस्य प्राबल्यं तीव्रतापटुते,
तच्चायेविशेषप्राबल्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षविषयं, नाऽऽत्ममनसोः
सन्निकर्षविषयम् । तस्मादिन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रधानमिति ।
असति प्रणिधाने सङ्कल्पे चासति सुप्तव्यासक्तमनसां यदिन्द्रियार्थ-
सन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं, तत्र मनःसंयोगोऽपि कारणमिति ।
मनसि क्रिया कारणं वाच्यमिति । यथैव ज्ञातुः खल्वयमिच्छा-
जनितः प्रग्रहो मनसः प्रेरक आत्मगुणः, एवमात्मानि गुणान्तरं
सर्वस्य साधकं प्रवृत्तिदोषजनितमस्ति ; येन प्रेरितं मन
इन्द्रियेण सम्बध्यते, तेन ह्यप्रेर्यमाणे मनसि संयोगाभावात्

श्रवणादिकाले चक्षुषं संयोगादौ विद्यमानेऽपि चाक्षुषादेर्व्याहतत्वे इन्द्रियाथसंयोगो
न हेतुरित्यर्थः ॥ २६ ॥

समाधत्ते ।—अर्थविशेषस्य गीतादेः प्राबल्यात् बुभुक्षितत्वाङ्गोतादिश्रवणम् ; तथा
च गीतश्रवणादेः चाक्षुषादिप्रतिबन्धकत्वात् प्रतिबन्धकाभावस्य च कार्याजकत्वात्
तत्सङ्कारेण चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य हेतुत्वमित्यतः पूर्वपक्षो न युक्त इति । परे तु,—
इन्द्रियाथसन्निकर्षस्य हेतुत्वमित्यत इन्द्रियमनोयोगादेरहेतुत्वमिति भ्रान्तः शङ्कते,
व्याहतत्वादहेतुः ।—इन्द्रियाथसन्निकर्षस्यैव हेतुत्वमित्यत यो हेतुर्बुद्धः, स न युक्तः,
कुतः ?—व्याहतत्वात्—इन्द्रियमनोयोगादेर्हेतुताया अभ्युपगमात्तद्व्याघाताऽऽपत्तेः,

ज्ञानानुत्पत्तौ सर्वार्थताऽस्य निवर्तते । एषितव्यञ्चास्य गुणान्तरस्य द्रव्यगुणकर्मकारणत्वम् ; अन्यथा हि चतुर्विधानामगूनां भूतसूक्ष्माणां मनसाञ्च ततोऽन्यस्य क्रियाहेतोरसम्भवात् शरीरेन्द्रियविषयाणामनुत्पत्तिप्रसङ्गः ॥ २७ ॥

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥ २८ ॥

यदिदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं वृत्त इति, एतत् किल प्रत्यक्षम् ; तत् खल्वनुमानमेव । कस्मात् ?—एकदेशग्रहणात्, वृत्तस्योपलब्धेः । अर्वाग्भागमयं गृहीत्वा वृत्तमुपलभते । न चैकदेशो वृत्तः । तत्र यथा धूमं गृहीत्वा वह्निमनुमिनोति, तादृगेव तद्वति । किं पुनर्गृह्यमाणादेकदेशादर्थान्तरमनुमेयं मन्यसे । अवयवसमूहपक्षे अवयवान्तराणि । द्रव्योत्पत्तिपक्षे तानि चावयवी चेति । अवयवसमूहपक्षे तावत् एकदेशग्रहणाद् वृत्तबुद्धेरभावः । नागृह्यमाणमेकदेशान्तरं वृत्तः, गृह्यमाणैकदेशवदिति । अथैकदेशग्रहणादेकदेशान्तरानुमाने समुदायप्रतिसम्भानात् तत्र वृत्तबुद्धिः, न तर्हि वृत्तबुद्धिरनुमानमेवं सति भवितुमर्हतीति । द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्षे नावयव्यनुमेयः । अस्यैकदेशसम्बन्धस्याग्रहणात् एकदेशसम्बन्धस्याग्रहणे चाविशेषादनुमेयत्वाभावः । तस्माद् वृत्तबुद्धिरनुमानं न भवति ॥ २८ ॥

अमं खल्वयति, नार्थविशेषप्रावल्यात्, नास्ति व्याघातः, कुतः ?—अर्थविशेषस्य इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य, प्रावल्यात्, तथा चेन्द्रियार्थसन्निकर्षप्राधान्यार्थं हि पूर्वमुक्तं न त्वितरनिषेधार्थमिति ॥ २७ ॥

अनु सति प्रत्यक्षस्य प्रमाणान्तरत्वे तल्लक्षणपरीक्षा सङ्गच्छते, तदेव तु नास्तीत्याशङ्कते । प्रत्यक्षत्वेनाभिमतं घटादिज्ञानम्, अनुमानमनुमितिः, एकदेशस्य पुरीभागस्य, ग्रहणानन्तरमुपलब्धेः, तथा चैकदेशग्रहणाऽऽत्मकलिङ्गज्ञानजन्यत्वाद् वृत्तादिज्ञानम् अनुमितिरित्यर्थः ॥ २८ ॥

एकदेशग्रहणमाश्रित्य प्रत्यक्षस्यानुमानत्वमुपपाद्यते । तच्च—

न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलभ्यात् ॥ २६ ॥

न प्रत्यक्षमनुमानम् । कस्मात् ?—प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यात् । यत्तदेकदेशग्रहणमाश्रीयते प्रत्यक्षेणासावुपलभ्यः, न चोपलभ्यो निर्विषयोऽस्ति, यावच्चायंजातं तस्य विषयः, तावदभ्यनु-
ज्ञायमानं प्रत्यक्षव्यवस्थापकं भवति । किं पुनस्ततः, अन्यदर्थ-
जातम्, अवयवी, समुदायो वा । न चैकदेशग्रहणमनुमानं
भावयितुं शक्यं हेत्वभावादिति । * अन्यथाऽपि च प्रत्यक्षस्य
नानुमानत्वप्रसङ्गस्तत्पूर्वकत्वात्, * प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं,
सम्बद्धावग्निधूमौ प्रत्यक्षतो दृष्टवतो धूमप्रत्यक्षदर्शनादग्नावनु-
मानं भवति । यच्च सम्बद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः प्रत्यक्षं, यच्च
लिङ्गमात्रप्रत्यक्षग्रहणं, नैतदन्तरेणानुमानस्य प्रवृत्तिरस्ति । न
चैतदनुमानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् । न चानुमेयस्येन्द्रियेण
सन्निकर्षादनुमानं भवति । सोऽयं प्रत्यक्षानुमानयोर्लक्षणभेदो
महानाश्रयितव्य इति ॥ २६ ॥

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसङ्गावात् ॥ ३० ॥

न चैकदेशोपलब्धिमात्रम्; किं तर्हि ?—एकदेशोपलब्धिस्तत्सह-
चरितावयव्युपलब्धिश्च । कस्मात् ?—अवयविसङ्गावात् । अस्ति
ह्ययमेकदेशव्यतिरिक्तोऽवयवी, तस्यावयवस्थानस्योपलब्धि-
कारणप्राप्तस्यैकदेशोपलब्धावनुपलब्धिरनुपपन्नेति । * अकृत्स्न-

समाधत्ते ।—प्रत्यक्षमनुमानमिति न, प्रत्यक्षत्वावच्छेदेनानुमितित्वं नेत्यर्थः ।
यावत्तावदुपलभ्यात्, यावत्तावतोऽपि यस्य कस्यचिद् भागस्य प्रत्यक्षेणेन्द्रियेणोपलभ्यात्,
उपलब्धस्य त्वयाऽप्यभ्युपगमात् ; इदमुपलक्षणं, शब्दगत्यादिप्रत्यक्षसाधारणात् न
प्रत्यक्षमात्रनिषेध इत्यपि बोध्यम् ॥ २६ ॥

यदपि वृत्तादिज्ञानस्यानुमितित्वमिति, तदपि दूषयति ।—न च नेत्यर्थः, न
चैकदेशस्यैवोपलब्धिरित्यपि युक्तम्, अवयविसङ्गावात्, यती हि अवयव्यस्ति, अतस्तद-

ग्रहणादिति चेत्, न, कारणतोऽन्यथैकदेशस्याभावात् * न चावयवाः कृत्स्नाः गृह्यन्ते, अवयवैरेवावयवान्तरव्यवधानात् । नावयवी कृत्स्नो गृह्यत इति, नायं गृह्यमाणेष्ववयवेषु परिममाप्त इति । सेयमेकदेशोपलब्धिरनिवृत्तेति । कृत्स्नमिति वै खल्वशेषतायां सत्याभवति । अकृत्स्नमिति शेषे सति । तच्चैतदवयवेषु बहुष्वस्ति । अव्यवधानं ग्रहणात् व्यवधानं चाग्रहणादिति । अङ्ग तु भवान् पृष्ठो व्याचष्टां गृह्यमाणस्यावयविनः किमग्रहोतं मन्यसे, येनैकदेशोपलब्धिः स्यादिति । न ह्यस्य कारणेभ्योऽन्ये एकदेशा भवन्तीति । तत्रावयववृत्तं नोपपद्यत इति । इदं तस्य वृत्तम् ;—येषामिन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् ग्रहणमवयवानाम् । तैः सह गृह्यते । येषामवयवानां व्यवधानादग्रहणं तैः सह न गृह्यते । न चैतत्कृतोऽस्ति भेद इति । * समुदायोऽप्यशेषता वा, समुदायो वृत्तः स्यात् तत्प्राप्तिर्वा, उभयथाग्रहणभावः । * मूलस्कन्धशाखापलाशादीनाम् अशेषता वा समुदायो वृत्त इति स्यात्, प्राप्तिर्वा समुदायिनामिति, उभयथा समुदायभूतस्य वृत्तस्य ग्रहणं नोपपद्यत इति । अवयवैः तावदवयवान्तरस्य व्यवधानादशेषग्रहणं नोपपद्यते । प्राप्तिग्रहणमपि नोपपद्यते ; प्राप्तिमतामग्रहणात् । सेयमेकदेशग्रहणसहचरिता वृत्तवृद्ध्यान्तरोत्पत्तौ कल्पते, न समुदायमात्र इति ॥ ३० ॥

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३१ ॥

यदुक्तमवयविसङ्गावात्, प्राप्तिमतामयमहेतुः, साध्यत्वात् ।

वयवप्रत्यक्षकालेऽवयविनीऽपि प्रत्यक्षं न व्याहृतम् ; तेनापि सङ्गच्छुःसंयोगादिसत्त्वादिति भावः ॥ ३० ॥

समाप्तं प्रत्यक्षपरोक्षप्रकरणम् ।

अवयविसङ्गावादिति हेतुसाधनाधीनोदात्तसङ्ख्याऽवयविप्रकरणमारभते ।—अवयवविनि सन्देहः, साध्यत्वादिति, यथाश्रुतार्थो न सङ्गच्छते, वज्रादौ व्यभि-

साध्यन्तावदेतत्कारणेभ्यो द्रव्यान्तरमुत्पद्यत इति । अनुप-
पादितमेतत् । एवञ्च सति विप्रतिपत्तिमात्रम्भवति, विप्रति-
पत्तेश्चावयविनि संशय इति ॥ ३१ ॥

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३२ ॥

यद्यवयवी नास्ति, सर्वस्य ग्रहणं नोपपद्यते । किं तत्सर्वम् ?—
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः । कथं कृत्वा ?—परमाणु-
समवस्थानं तावद्दर्शनविषयो न भवतीत्यतीन्द्रियत्वादणूनां,
द्रव्यान्तरश्चावयविभूतं नास्ति । दर्शनविषयस्याश्वमे द्रव्यादयो
गृह्यन्ते । तेन निरधिष्ठाना न गृह्येरन् । गृह्यन्ते तु कुम्भोऽयं
श्याम एको महान् संयुक्तः स्पन्दते अस्ति मृन्मयश्चेति । सन्ति
चेमे गुणादयो धर्मा इति । तेन सर्वस्य ग्रहणात् पश्यामोऽस्ति
द्रव्यान्तरभूतोऽवयवीति ॥ ३२ ॥

चारासम्पादयमर्थः,—अवयविनि साध्यत्वादसिद्धत्वात्, सन्देहः, अवयविसङ्गावाटिलुक्त-
हेतोः, तथा च सन्दिग्धासिद्धौ हेतुरिति भावः । तत्र च द्रव्यत्वं स्पर्शवत्त्वं वा
अणुत्वव्याप्यं न वेत्यादयो विप्रतिपत्तयः, तत्र च सकम्पत्वाकम्पत्वरक्तत्वारक्तत्वाऽऽहत-
त्वानाहतत्वादिलक्षणविरुद्धधर्माध्यासादेर्कोऽवयवी न सम्भवति ; तथा हि,—शाखाव-
च्छेदेन कम्पः, मूलावच्छेदेन तदभावीऽप्युपलभ्यते, न वैकस्मिन्नेव द्रव्ये एकदैव विरुद्ध-
धर्मद्वयसमावेशः सम्भवति, तस्मादवयवा एव तथाभूताः, न त्वन्योऽवयवी, मानाभावात् ;
एवं महारजतरक्तैकदेशस्थांशुकस्य दशाऽवच्छेदेनाऽऽरक्तत्वोपलम्भान्, एवमाहतपृष्ठादे-
रनाहतत्वोपलम्भादवसेयम् इति बौद्धानां पूर्वपक्षः, अत्र च बौद्धानां पूर्वपक्षसमाधि-
वार्तिककृता लिखितानि च विस्तरभयात् लिख्यन्ते ॥ ३१ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् । अवयविनोऽसिद्धौ तद्गुणकर्मादीनां सर्वेषामवयवणम् ; तथा च
सकम्पाकम्पत्वरक्तत्वादिकमपि न सुगहं, परमाणुगतत्वात्, प्रत्यक्षे महत्त्वस्य
हेतुत्वात् ॥ ३२ ॥

धारणाऽऽकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३३ ॥

अवयवव्यर्थान्तरभूत इति । सङ्ग्रहकारिते वै धारणाऽऽकर्षणे । सङ्ग्रहो नाम संयोगसहचरितं गुणान्तरम् । स्नेहद्रवत्व-
कारितम्, अपां संयोगादामि कुम्भे, अग्निसङ्गात् पक्वे, यदि
त्वयवकारिते अभविष्यतां, पांशुराग्निप्रभृतिष्वप्यज्ञास्येताम् ।
द्रव्यान्तरानुत्पत्तौ च तृणोपलकाष्ठादिषु जतुसङ्गृहीतेष्वपि
नाभविष्यतामिति । अथावयविनं प्रत्याचक्षाणको “मा भूत्
प्रत्यक्षलोपः” इत्यणुसञ्चयं दर्शनविषयं प्रतिजानानः किमनु-
योक्तव्य इति । एकमिदं द्रव्यमित्येकबुद्धेर्विषयं पर्यनुयोज्यः ।
किमेकबुद्धिरभिन्नार्थविषया, आहोस्वित् नानाऽर्थविषयेति ।
अभिन्नार्थविषयेति चेत्, अर्थान्तरानुज्ञानादवयवविसिद्धिः ।
नानाऽर्थविषयेति चेत्, भिन्नेष्वेकदर्शनानुपपत्तिः । अनेकस्मिन्नेक
इति व्याहृता बुद्धिर्न दृश्यत इति ॥ ३३ ॥

सेनावनवद्ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वा- दणूनाम् ॥ ३४ ॥

यथा सेनाऽङ्केषु वनाङ्केषु च दूरादगृह्यमाणपृथक्त्वेष्वेक-
मिदमित्युपपद्यते बुद्धिः । एवं परमाणुषु सञ्चितेष्वगृह्यमाण-
पृथक्त्वेष्वेकमिदमित्युपपद्यते बुद्धिरिति । यथा गृह्यमाणपृथक्-
त्वानां खलु सेनावनाङ्गानामारात् कारणान्तरतः पृथक्त्वस्या-
ग्रहणम् । यथा गृह्यमाणजातीनां पलाश इति वा खदिर इति
वा नाराज्जातिग्रहणं भवति । गृह्यमाणप्रस्पन्दानाच्चारत्
स्पन्दग्रहणम् । गृह्यमाणे चार्थजाते पृथक्त्वस्याग्रहणादेकमिति

हेत्वन्तरमाह ।—अवयववैध्याऽवयवव्यतिरिच्यते, तथा सति धारणाऽऽकर्षणयोरोप-
पत्तेः, अथवा परमाणुपञ्चत्वे चैकदेशधारणेन सकलधारणसकदेशाऽऽकर्षणेन सकला-
ऽऽकर्षणश्च न स्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

इदमवयवम् ; —नौकाऽऽकर्षणेन नौकास्याऽऽकर्षणवत्, कुण्डधारणेन बुद्ध्यादधि-

भाक्तः प्रत्ययो भवति । न त्वण्नां गृह्यमाणपृथक्त्वानां कारणतः
 पृथक्त्वस्याग्रहणात् भाक्त एकप्रत्ययोऽतौन्द्रियत्वादणूनामिति ।
 इदमेव च परीक्ष्यते ।—किमेकप्रत्ययोऽणुसञ्चयविषय आहो-
 स्मिन्नेति ? अणुसञ्चय एव सेनावनाङ्गानि, न च परीक्ष्यमाण-
 सुदाहरणमिति युक्तम् । साध्यत्वादिति । * दृष्टमिति चेन्न,
 तद्विषयस्य परीक्षोपपत्तेः । * यदपि मन्यते, दृष्टमिदं सेना
 वनाङ्गानां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणम् । न च
 दृष्टं शब्दं प्रत्याख्यातुमिति । तच्च नैवम् ; तद्विषयस्य परीक्षोप-
 पत्तेः ; दर्शनविषय एवायं परीक्ष्यते । योऽयमेकमिति प्रत्ययो
 दृश्यते, स परीक्ष्यते, किं द्रव्यान्तरविषयो वाऽयाणुसञ्चयविषय
 इति ; अत्र दर्शनमन्यतरस्य साधकं न भवति । नानाभावे
 चाणूनां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणम्, अतस्मिंस्त-
 दिति प्रत्ययः । यथा स्थाणौ पुरुष इति । ततः किम्, अतस्मिं-
 स्तदिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षितत्वात् प्रधानसिद्धिः । स्थाणौ
 पुरुष इति प्रत्ययस्य किं प्रधानम् ? योऽसौ पुरुषे पुरुषप्रत्ययः,
 तस्मिन् सति पुरुषसामान्यग्रहणात् स्थाणौ पुरुषोऽयमिति ।
 एवं नानाभूतेष्वेकमिति प्रामाण्यग्रहणात् प्रधाने सति भवितु-
 मर्हति । प्रधानञ्च सर्वस्याग्रहणादिति नोपपद्यते, तस्मादभिन्न
 एवायमभेदप्रत्यय एकमिति । * इन्द्रियान्तरविषयेष्वभेदप्रत्ययः
 प्रधानमिति चेत्, न, विशेषहेत्वभावात् दृष्टान्ताव्यवस्था । *
 ओत्रादिविषयेषु शब्दादिष्वभिन्नेष्वेकप्रत्ययः प्रधानमनेकस्मिन्नेक-
 प्रत्ययस्येति । एवञ्च सति दृष्टान्तोपादानं न व्यवतिष्ठते,
 विशेषहेत्वभावात् । अणुषु सञ्चितेषु एकप्रत्ययः किमतस्मिं-
 स्तप्रत्ययः, स्थाणौ पुरुषप्रत्ययवत् । अथार्थस्य तथाभावात्
 तस्मिंस्तदिति प्रत्ययः, यथा शब्दस्यैकत्वादेकः शब्द इति ।

विशेषहेतुपरिग्रहणमन्तरेण दृष्टान्ती संशयमापादयत इति ।
 कुत्सवत् सञ्चयमात्रं गन्धादयोऽपीत्यनुदाहरणं गन्धादय इति ।
 एवं परिमाणसंयोगस्य नन्दजातिविशेषप्रत्यया अप्यनुयोक्तव्यास्तेषु
 चेवं प्रसङ्ग इति । * एकत्वबुद्धिस्तस्मिंस्तदिति प्रत्यय इति
 विशेषहेतुर्महदिति प्रत्ययेन सामानाधिकरण्यात् * एकमिदं
 महत्वेति एकविषयी प्रत्ययो सामानाधिकरणौ भवतः । तं न
 विज्ञायते, यन्महत् तदेकमिति । अणुसमूहातिशयग्रहणं
 महत्प्रत्यय इति चेत्, ओऽयममहत्स्वेषु महत्प्रत्ययोऽतस्मिं-
 स्तदिति प्रत्ययो भवतीति । किञ्चातः, अतस्मिंस्तदिति-
 प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षितत्वात् प्रधानसिद्धिरिति भवितव्यं महत्त्वेन
 महत्प्रत्ययेनेति । * अणुः शब्दो महानिति च व्यवसायात्
 प्रधानसिद्धिरिति चेत्, न ; मन्दतीव्रताग्रहणमियत्ताऽनव-
 धारणात् * यथा द्रव्ये । अणुः शब्दोऽन्यो मन्द इत्येतस्य ग्रहणं,
 महान् शब्दः पटुतीव्र इत्येतस्य ग्रहणम् । कस्मात् ?—इयत्ता-
 ऽनवधारणात् । न ह्ययं महान् शब्द इति व्यवस्यन्नियानय-
 मित्यवधारयति । यथा बदरामलकचित्वादौ न । संयुक्ते इमे
 इति च द्वित्वसमानाऽऽश्रयं प्राप्तिग्रहणम् । द्वौ समुदायावाश्रयः
 संयोगस्येति चेत्, कोऽयं समुदायः ? प्राप्तिरनेकस्य, अनेका वा
 प्राप्तिरेकस्य समुदाय इति चेत्, प्राप्तेरग्रहणं प्राप्त्याश्रितायाः ।
 संयुक्ते इमे वस्तुनो इति नात्र द्वे प्राप्ते संयुक्ते गृह्येते, * अनेक-
 समूहः समुदाय इति चेन्न, द्वित्वेन सामानाधिकरणस्य ग्रहणात् *
 हाविमौ संयुक्तावर्धाविति ग्रहणे सति नानेकसमुदायाऽऽश्रयः
 संयोगो गृह्यते । न च द्वयोरन्वोर्ग्रहणमस्ति । तस्मान्महतौ
 द्वित्वाऽऽश्रयभूते द्रव्ये संयोगस्य स्थानमिति । * प्रत्यासत्तिः

पूर्वोक्तां वृत्तिमेव साधोयसौ मन्वमानस्तत्र परीक्षितं समाधानमाशङ्क्य दूषयति । अतिदूर-
 श्चैकननुचैकप्रादेः अप्रत्यक्षत्वेऽपि सेनावनादिप्रत्यक्षवत् एकपरमाणोः अप्रत्यक्षत्वेऽपि

प्रतीघातावसाना संयोगो नार्थान्तरमिति चेत्, न ; अर्थान्तर-
हेतुत्वात् संयोगस्य * शब्दरूपादिस्थन्दानां हेतुः संयोगः । न च
द्रव्ययोर्गुणान्तरोपजननमन्तरेण शब्दे रूपादिषु स्वर्गं च
कारणत्वं गृह्यते । तस्माद् गुणान्तरं * प्रत्ययविषयस्यार्थान्तरं
तत्प्रतिषेधो वा * कुण्डली गुरुः, अकुण्डलश्चात्र इति संयोग-
बुद्धेश्च यथार्थान्तरं न विषयः । अर्थान्तरप्रतिषेधस्तर्हि विषयः ।
तत्र प्रतिषिध्यमानवचनम् । संयुक्ते द्रव्ये इति यदर्थान्तरमन्यत्र
दृष्टमिह प्रतिषिध्यते । तद्वक्तव्यमिति । द्वयोर्महतोराश्रितस्य
ग्रहणाच्चाश्रय इति जातिविशेषस्य प्रत्ययानुवृत्तिलिङ्गस्या-
प्रत्याख्यानम् । प्रत्याख्याने वा प्रत्ययव्यवस्थानुपपत्तिः । व्यधि-
करणस्यानभिध्यक्तेरधिकरणवचनम् । * अणुसमवस्थानं विषय
इति चेत्, प्राप्ताप्राप्तसामर्थ्यवचनम् । * किमप्राप्ते अणुसमव-
स्थाने तदाश्रयो जातिविशेषो गृह्यते, अथ प्राप्ते इति ।
* अप्राप्ते ग्रहणमिति चेत्, व्यवहितस्याणुसमावस्थानस्याप्युप-
लब्धिप्रसङ्गः । * ते व्यवहितेऽणुसमवस्थाने तदाश्रयो जातिविशेषो
गृह्येत । * प्राप्ते ग्रहणमिति चेत्, मध्यपरभागयोरप्राप्ता-
वर्नाभिव्यक्तिः, * यावत् प्राप्तं भवति तावत्प्रतिषिद्धिरिति चेत्
तावतोऽधिकरणत्वमणुसमवस्थानस्य । यावति प्राप्ते जाति-
विशेषो गृह्यते, तावदस्याधिकरणमिति प्राप्तं भवति ।
तत्रैकसमुदाये प्रतीयमानेऽर्थभेदः । एवञ्च सति योऽयमणु-
समुदायो वृत्त इति प्रतीयते, तत्र वृत्तबहुत्वं प्रतीयते । यत्र
यत्र ह्यणुसमुदायस्य भागे वृत्तत्वं गृह्यते, स स वृत्त इति ।
तस्मात् समुदिताणुसमवस्थानस्यार्थान्तरस्य जातिविशेषस्याभि-
व्यक्तिविषयत्वादवयवार्थान्तरभूत इति ॥ ३४ ॥

तस्मिन्मृदुरुपपटादः प्रत्यक्षं स्यादिति चेन्न, तदपि अणुनामतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षे महत्त्वस्य
हेतुत्वात् सत्त्वात् सेनविनादिप्रत्यक्षं युज्यते, न त्वणुनां महत्त्वाभावादिति भावः ॥ ३४ ॥

समाप्तमप्यविपरौचाप्तकरणम् ।

परोक्षितं प्रत्यक्षम्, अनुमानमिदानीं परोक्ष्यते,—

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमान-
मप्रमाणम् ॥ ३५ ॥

अप्रमाणमिति । एकदाध्ययस्य न प्रतिपादकमिति ।
रोधादपि नदी पूर्णा गृह्यते, तदा चोपरिष्ठाद्दृष्टो देव इति
मिथ्याऽनुमानम् । नदीरोपघातादपि पिपीलिकाऽण्डसञ्चारो
भवति, तदा च भविष्यति वृष्टिरिति मिथ्याऽनुमानमिति ।
पुरुषोऽपि मयूरवासितमनुकरोति, तदाऽपि शब्दसादृश्यान्मिथ्या-
ऽनुमानं भवति ॥ ३५ ॥

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ ३६ ॥

नायमनुमानव्यभिचारः । अननुमाने तु खल्वयमनुमाना-
भिमानः । कथम् ?—नाविशिष्टो लिङ्गं भवितुमर्हति । पूर्वो-

अवसरेण क्रमप्राप्तमनुमानं परोक्षितं पूर्वं प्रत्ययति ।—अनुमानस्य वैविध्यं
पूर्वमुक्तम्, तत्र विविधस्याप्रामाण्ये साधितेऽनुमानमप्रमाणमर्थात् सिद्धमित्याशयेनेदम् ।
अनुमानम् अनुमानत्वेनाभिमतं, न प्रमाणं प्रमितिकरणं, व्यभिचारहेतुकत्वात्, तत्र
विविधे व्यभिचारे दर्शयति, रोधेत्यादिना ।—नदीवद्वा पिपीलिकाऽण्डसञ्चारं मयूर-
वृत्तेन च दृश्यमानं विविधमुदाहरणं न सम्भवति, नदीरोधाधीननदीवद्वा आश्रयो-
पघाताधीनपिपीलिकाऽण्डसञ्चारं मनुष्यकर्तृकमयूरवृत्तसदृशवृत्तेन व्यभिचारात् ;
पिपीलिकाऽण्डसञ्चारस्य वृष्टिहेतुत्वाभिप्रायेणेदम्, अथवा लक्ष्यसूत्रे पूर्ववत् पूर्वकालीन-
साध्यानुमापकं, शेषवदुत्तरकालीनसाध्यानुमापकं, सामान्यतो वृष्टं विद्यमान-
साध्यानुमापकमित्यर्थ इत्याशयः ; एतेन वैकालिकसाध्यानुमापकत्वं न सम्भवति ;
परं तु पिपीलिकाऽण्डसञ्चारस्यात्यन्तोष्णानुमानं, ततश्च महाभूतचोभानुमानं,
तत्र च वृष्टिहेतुत्वात्तेन दृश्यमानमिति वदन्ति । एवमन्यत्रापि व्यभिचारशङ्का-
सम्भावदव्यभिचारनिश्चयस्यानुमितिहेतोरिव दुर्लभत्वात् तत्प्रामाण्यं न सम्भवती-
त्याशयः ॥ ३५ ॥

समाधत्ते ।—अनुमानाप्रामाण्यं न युक्तम्, एकदेशरोधजनदीवद्वेत्त्रासजपिपी-

दकविशिष्टं खलु वर्षोदकं शीघ्रतरत्वं स्रोतसो बहुतरफेनफल-
पर्णकाष्ठाऽऽदिबहुलञ्चोपलभमानः पूर्णत्वेन नद्या उपरि दृष्टो
देव इत्यनुमिनोति, नोदकवृद्धिमात्रेण । पिपीलिकाप्रायस्याह-
सञ्चारे भविष्यति वृष्टिरित्यनुमीयते, न कासाच्चिदिति । नेदं
मयूरवासितं, तत्सदृशोऽयं शब्दः, इति विशेषापरिज्ञानावस्थ्या-
ऽनुमानमिति । यस्तु सदृशात् विशिष्टाच्छब्दाद्विशिष्टं मयूर-
वामितं गृह्णाति, तस्य विशिष्टोऽर्थो गृह्यमाणो लिङ्गम् । यथा
सर्पाऽऽदौनामिति । सोऽयमनुमातुरपराधः, नानुमानस्य ; योऽर्थ-
विशेषणानुमेयमर्थमविशिष्टार्थदर्शनेन बुभुक्षत इति । ॥३६॥

त्रिकालविषयमनुमानं त्रैकाख्यग्रहणादित्युक्तम् ; यत्र च,—

वर्त्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोप-

पत्तेः ॥ ३७ ॥

वृन्तात् प्रच्युतस्य फलस्य भूमौ प्रत्यासीदतो यदूर्ध्वं, स
पतितोऽध्वा, तत्संयुक्तः कालः पतितकालः । योऽधस्तात्, स
पतितव्योऽध्वा, तत्संयुक्तः कालः पतितव्यकालः । नेदानीं
द्वितीयोऽध्वा वर्त्तते, यत्र पततीति वर्त्तमानः कालो गृह्येत ।
तस्माद्वर्त्तमानः कालो न विद्यते इति ॥ ३७ ॥

लिकाऽखसञ्चारान्मयूरवृत्तसदृशवृत्ताच्च लिङ्गोभूतानां नदीवृत्तादीनां निम्नत्वाच्च दीपः,
न च सर्वत्र व्यभिचारग्रहा, सथाच्च तस्यां तर्केण तदपनयनाच्च दीप इत्याशयः ॥३६॥

समाप्तमनुमानपरीक्षाप्रकरणम् ।

अनुमानस्य त्रिकालविषयत्वमभिमतं, तत्र युक्तम् ; वर्त्तमानाभावेन तदधीन-
ज्ञानधीरस्रोतानामयतधीरभावेन काष्ठवशाऽऽत्मकविषयाभावादित्याशयेन वर्त्तमान-
परीक्षाप्रकरणमारभमासी वर्त्तमानमाक्षिपते । वर्त्तमानाभावः अतीतानामवधि-
काख्यभावः व्युत्पादयति, पतत इति ।—पततः फलादूर्ध्वावधिकः कथञ्च दैवः
पतिष्याद्वा, मृत्यवधिकः कथञ्च पतिष्येद्वा, न तु वर्त्तमानस्य प्रसङ्गोऽपीति
भावः ॥ ३७ ॥

तथोरयभावो वर्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥३८॥

नाध्वव्यञ्जः कालः, किं तर्हि ?—क्रियाव्यञ्जः, पततीति ।
यदा पतनक्रिया व्युपरता भवति, स कालः पतितकालः । यदो-
त्पत्त्यते, स पतितव्यकालः । यदा द्रव्ये वर्तमाने क्रिया गृह्यते,
स वर्तमानः कालः । यदि चायं द्रव्ये वर्तमानं पतनं न
गृह्णाति, कस्योपरममुत्पत्त्यमानतां वा प्रातिपद्यते । पतितः
काल इति भूता क्रिया, पतितव्यः काल इति चोत्पत्त्यमाना
क्रिया, उभयोः कालयोः क्रियाह्नौ न द्रव्यमधःपततीति क्रिया-
सम्बद्धम् । सोऽयं क्रियाद्रव्ययोः सम्बन्धं गृह्णातीति वर्तमानः
कालः । तदाश्रयो चेतरो कालौ तदभावे न स्यातामिति ॥३८॥

अथापि,—

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षा सिद्धिः ॥३९॥

यद्यतातानागतावितरेतरापेक्षौ सिध्येतां, प्रातिपद्येमहि
वर्तमानविलोपम् । नातीतापेक्षाऽनागतसिद्धिः । नाध्यना-
गतापेक्षा अतीतसिद्धिः । कया युक्त्या ?—केन कल्पेनाऽतीतः ?—
कथमतीतापेक्षाऽनागतसिद्धिः ?—कया युक्त्या ?—केन च
कल्पेनानागतः ?—कथमनागतापेक्षाऽतीतसिद्धिः ?—नैतच्छक्यं
निर्वक्तुम् । अव्याकरणीयः एष वर्तमानलोपः । यच्च मन्येत,
इत्थदीर्घयोः स्थलनिम्नयोश्चायाऽऽतपयोश्च यथेतरेतरापेक्षया
सिद्धिः । एवमतीतानागतयोरिति । तन्नोपपद्यते, विशेषहेत्व-
भावात् । दृष्टान्तवत् प्रतिदृष्टान्तोऽपि प्रसज्यते । यथा रूपस्पर्शौ
गन्धरसौ नेतरेतरापेक्षौ सिध्येते, एवमतीतानागताविति ।

समाधत्ते ।—वर्तमानाभावे तथोरतीतानागतयोऽप्यभावः स्यात्, तथीकद-
पेक्षत्वात्, वर्तमानध्वसप्रतियोगित्वं ह्यतीतत्वं, वर्तमानमागभावप्रतियोगित्वं
ह्यनागतत्वमिति भावः ॥ ३९ ॥

नेतरतरापेक्षा कस्यचित् सिद्धिरिति । यस्मादेकाभावेऽन्यतरा-
भावादुभयाभावः । यद्येकस्यान्यतरापेक्षासिद्धिः, अन्यतरस्येदानीं
किमपेक्षा ? यद्यन्यतरस्येकापेक्षासिद्धिः, एकस्येदानीं किमपेक्षा ?
एवमेकस्याभावेऽन्यतरत्र सिध्यतीत्युभयाभावः प्रसज्यते ॥ ३८ ॥

अर्थसङ्गावव्यङ्ग्यश्चायं वर्त्तमानः कालः, विद्यते द्रव्यं,
विद्यते गुणः, विद्यते कर्मणि । यस्य चायं नास्ति, तस्य,—
वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥ ४० ॥

प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजम् । न चाविद्यमानमसदिन्द्रि-
येण सन्निकृष्यते । न चायं विद्यमानं सत् किञ्चिदनुजानाति ।
प्रत्यक्षनिमित्तं प्रत्यक्षविषयः प्रत्यक्षज्ञानं सर्वत्रोपपद्यते ।
प्रत्यक्षानुपपत्तौ च तत्पूर्वकत्वात् अनुमानाऽऽगमयोरनुपपत्तिः ।
सर्वप्रमाणविलोपे सर्वग्रहणं न भवतीति । उभयथा च वर्त्तमानः
कालो गृह्यते, क्वचिदर्थसङ्गावव्यङ्ग्यः, यथा,—द्रव्ये द्रव्यमिति ।
क्वचित् क्रियासन्तानव्यङ्ग्यः, यथा,—पचति छिनत्तीति । नाना-
विधा चैकार्था क्रिया क्रियासन्तानः, क्रियाऽभ्यासश्च । नानाविधा
चैकार्था क्रिया पचतीति । स्थाव्यध्विग्रयणमुदकसेचनं तण्डुला-
वपनमेधोऽपसर्पणमग्न्यभिज्वालनं दर्वीघट्टनं मण्डलावणमधो-
ऽवतारणमिति । छिनत्तीति क्रियाऽभ्यासः, उद्यम्योद्यस्य
परशुं दारुणि निपातयन् छिनत्तीत्युच्यते ॥ ४१ ॥

ननु तयोः परस्परपेक्षयैव सिद्धेर्न वर्त्तमानापेक्षेत्यत आह । अतोऽन्याऽऽन्या-
दिति भावः ॥ ३८ ॥

तथोरप्यभावे का क्षतिः ? —पक्षो युक्त्यन्तरमाह । —वर्त्तमानाभावे प्रत्यक्षं नोप-
पद्यते, प्रत्यक्षस्य वर्त्तमानविषयत्वात् ; अत एवाऽऽह,—“सर्वत्र वर्त्तमानस्य गृह्यते
चक्षुरादिना” इति । प्रत्यक्षाभावे च सर्वमेव गृह्येत् ज्ञानं न स्यात्, प्रत्यक्षमूलक-
त्वादितरज्ञानानामिति भावः ॥ ४० ॥

यच्चेदं पच्यमानं हिद्यमानञ्च तत् क्रियमाणम् ; तस्मिन् क्रियमाणे,—

कृतताकर्तव्यतोऽपत्तेस्तूभयथाग्रहणम् ॥ ४१ ॥

क्रियासन्तानोऽनारब्धश्चिकीर्षितोऽनागतः कालः, पच्यतीति । प्रयोजनावसानः क्रियासन्तानोपरमोऽतीतः कालः, अयाचीदिति । आरब्धक्रियासन्तानो वर्तमानः कालः, पचतीति । तत्र या उपरता, सा कृतता । या चिकीर्षिता, सा कर्तव्यता । या विद्यमाना, सा क्रियमाणा । तदेवं क्रियासन्तानस्थस्यैकाल्य-समाहारः पचति पच्यत इति वर्तमानग्रहणेन गृह्यते । क्रिया-सन्तानस्य ह्यत्राविच्छेदो विधीयते, नारब्धो नोपरम इति । मोऽयमुभयथा वर्तमानो गृह्यते, अपहृत्तो व्यपहृत्तश्च अतीताना-गताभ्याम् । स्थितिश्च ह्यत्र विद्यते द्रव्यमिति । क्रियासन्तान-विच्छेदाभिधायी च त्रैकाल्यान्वितः पचति छिनत्तीति । अन्यश्च प्रत्यासत्तिप्रभृतिरर्थस्य (श्च) विवक्षायां तदभिधायी बहुप्रकारो लोकेषु उत्प्रेक्षितश्च । तस्मादस्ति वर्तमानः काल इति ॥ ४१ ॥

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ॥ ४२ ॥

अत्यन्तसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति । न चैवं भवति, यथा गौरिवं गौरिति । प्रायः साधर्म्यादुपमानं न सिध्यति । न हि

ननु यदि वर्तमानञ्च वप्रतियोगित्वसतीतत्वं, वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वञ्च भविष्यत्वं, तदा वर्तमान एव घटे कथं श्याम आसीदन्तो भविष्यतीति धीः, अत आह ।—वर्तमानस्यापि घटादेः श्यामरूपरूपादीनां कृतताकर्तव्यतयोरतीतता-भविष्यतयोश्चपत्तेर्घटादेरप्यतीतानागतत्वेन व्यवहारः परस्परानुपपन्न्यादित्यर्थः ॥ ४१ ॥

समाप्तं वर्तमानपरीक्षाप्रकरणम् ।

अथावसरञ्च कथमप्रातीपमानं परीक्षितं पूर्वं पचयति ।—प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमान-मुक्ते, तत्र मुक्तम् ; यतः साधर्म्यमात्यन्तिकं प्रातिक्रमेकदेशिकं वा न सम्भवति, न

भवति, यथाऽनङ्गानेवं महिष इति । एकदेशसाधर्म्यादुपमानं
न सिध्यति, न हि सर्वेण सर्वमुपमोयत इति ॥ ४२ ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्ध्यर्थोक्तदोषानुप-
पत्तिः ॥ ४३ ॥

न साधर्म्यस्य कृतकप्रायात्यभावमाश्रित्योपमानं प्रवर्तते ।
किं तर्हि ?—प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनभावमाश्रित्य प्रवर्तते ?
यत्र चैतदस्ति, न तत्रोपमानं प्रतिषेद्धं शक्यम् । तस्माद्वययोक्त-
दोषो नोपपद्यत इति ॥ ४३ ॥

अस्तु तर्ह्युपमानमनुमानम्,—

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४४ ॥

यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वक्त्रेऽर्थदृश्यमनुमानम्, एव
गवा प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य गवयस्य ग्रहणमिति, नैदमनुमाना-
दिप्रतिष्यते ॥ ४४ ॥

हि आत्यन्तिकसाधर्म्येण गौरिव गौरित्युपमानं प्रवर्तते, न वा प्रायिकसाधर्म्येण
गौरिव महिष इति, न च यत्किञ्चित् साधर्म्येण मेरुरिव सर्वप इति, साधर्म्येण
चोपलक्ष्यत्वाद्दोषमर्थोपमानमध्येवं खण्डनीयम् ॥ ४२ ॥

समाधत्ते ।—प्रसिद्धं प्रकरणेण महिषादित्याहत्या सिद्धं ज्ञातं यत् साधर्म्ये,
नञ्ज्ञानव्योपमितिकारणत्वात् दीपः, साधर्म्येण प्रकरणाद्यनुसारात् कश्चित्
किञ्चिदिति ॥ ४३ ॥

अनुमानेन चरितार्थं नोपमानं प्रमाचान्नरमिति वैशेषिकमतमाश्रुते ।—
प्रत्यक्षेण मोसादृश्यविशेषेण, अप्रत्यक्षेण गवयपदवाच्यत्वात् अनुमितेर्नोपमानं माना-
त्यरमिति ॥ ४४ ॥

विशिष्यत इत्याह, कया युक्त्या ?—

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम
इति ॥ ४५ ॥

यदा ह्ययमुपयुक्तोपमानो गोदर्शी गवयं गोसमानमर्थं
पश्यति, तदाऽयं गवय इत्यस्य संज्ञाशब्दस्य व्यवस्थां प्रति-
पद्यते । न चैवमुपमानमिति । परार्थोपमानम् । यस्य
उपमानमप्रसिद्धं, तदर्थं प्रसिद्धोभयेन क्रियत इति । * परार्थ-
मुपमानमिति चेत् ? न ; स्वयमध्यवसायात् । * भवति च
भोः ! स्वयमध्यवसायः, यथा गौः, एवं गवय इति । नाध्यवसायः
प्रतिषिध्यते । उपमानन्तु तन्न भवति । प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्य-
साधनमुपमानम् । न च यस्योभयं प्रसिद्धं, तं प्रति साध्य-
साधनभावो विद्यत इति ॥ ४५ ॥

अथापि,—

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥ ४६ ॥

तथेति समानधर्मोपसंहारादुपमानं सिध्यति, नानुमानम् ।

अथञ्चानयोर्विशेष इति ॥ ४६ ॥

अनोत्तरयति ।—अप्रत्यक्षे व्याप्यवत्तयाऽप्रत्यक्षे अनुमानत्वेन प्रमाणार्थे प्रमा-
प्रयोजनमुपमानस्य न पश्याम इत्यर्थः, अथवा गवये गवयवत्तौ अप्रत्यक्षे गवयपदे-
वाच्यत्वे उपमानस्य प्रमाणार्थे प्रमाणं उपमानजन्यां प्रमाणं अनुमानत्वेन न पश्याम
इत्यर्थः, व्याप्तिज्ञानाभावादिति भावः ॥ ४५ ॥

ननु व्याप्तिज्ञाननियमः कल्प्यतमित्याशयेन युक्त्यन्तरमाह ।—अनुमानादुप-
मानस्य नाविशेषः, तथेत्युपसंहारात् ; यथा गौः, तथा गवय इति ज्ञानादुपमानासिद्धेः,
उपमानाधीनसिद्धेरुपमिति ; तथा च व्याप्तिज्ञानानपेक्षसादृश्यज्ञानाधीनोपमिति-
रित्यनुभवसिद्धम् ; किञ्च नानुमिनोमि किन्तूपमिनोमीत्यनुव्यवसायसिद्धोपमिति-
र्नापेक्षपितुं शक्यत इत्याशयः ॥ ४६ ॥

समानमुपमानप्रामाण्यपरीक्षाप्रकरणम् ।

शब्दोऽनुमानम्, अर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ ४७ ॥

शब्दोऽनुमानं, न प्रमाणान्तरम् । कस्मात् ?—शब्दार्थस्यानुमेयत्वात् । कथमनुमेयत्वम् ?—प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेः ; यथाऽनुपलब्धमानो लिङ्गी मितेन लिङ्गेन पश्चाच्चीयत इति अनुमानम्, एवं मितेन शब्देन पश्चाच्चीयतेऽर्थोऽयमनुपलब्धमानः, इत्यनुमानं शब्दः ॥ ४७ ॥

इतश्चानुमानं शब्दः ।—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ ४८ ॥

प्रमाणान्तरभावे द्विप्रवृत्तिरूपलब्धिः । अन्यथा ह्युपलब्धेरनुमाने, अन्यथोपमाने । तदव्याख्यानम् ;—शब्दानुमानयोस्तूपलब्धेरद्विप्रवृत्तिः, यथाऽनुमाने प्रवर्तते, तथा शब्देऽपि । विशेषाभावादनुमानं शब्द इति ॥ ४८ ॥

सम्बन्धाच्च ॥ ४९ ॥

शब्दोऽनुमानमिति वृत्तते । सम्बन्धयोश्च शब्दार्थयोः सम्बन्धप्रसिद्धौ शब्दोपलब्धेरर्थग्रहणम् । यथा सम्बन्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धप्रतीतौ लिङ्गोपलब्धौ लिङ्गिग्रहणमिति ॥ ४९ ॥

क्रमप्राप्तं शब्दं परीक्षितुं पूर्वपक्षयति ।—शब्दोऽनुमानमित्यस्य शब्दबोधोऽनुमितिरिति पक्ष्यवसितार्थः, तथा च शब्दो लिङ्गविधयाऽनुमितिकरणम्, अर्थस्य शब्दप्रतिपादस्य अनुपलब्धेरप्रत्यक्षत्वात् अनुमेयत्वादिति, तथा च शब्दज्ञानमनुमितिरप्रत्यक्षविषयत्वात् प्रत्यक्षभिन्नत्वादेत्यत्र तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

इत्यन्तरमाह ।—उपलब्धेः शब्दबोधत्वेनाभिमताया अनुमितिलेनाभिमतायाश्च, अद्विप्रवृत्तित्वात् अद्विप्रकारत्वात्, अनुमितित्वं शब्दत्वञ्च न जातिवचनम् ; शब्दस्य लिङ्गविधया बोधकत्वान्निष्ठान्तरज्ञानवद्विजातीयत्वाभावात् ॥ ४८ ॥

इत्यन्तरमाह ।—सम्बन्धाद्विषयसम्बन्धात्, ज्ञायमानादिति शेषः, शब्दो हि व्याप्तिग्रहसामिची बोधयति, तेन शब्दबोधोऽनुमितिरिति भावः ॥ ४९ ॥

यत्तावदर्थस्यानुमेयत्वादिति, तत्र ।—

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थे सम्प्रत्ययः ॥ ५० ॥

स्वर्गः, अक्षरसः, उत्तरा कुरवः, सप्त द्वीपाः, समुद्रः, लोक-
सन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात् प्रत्ययः ।
किं तर्हि ?—आप्तैरयमुक्तः शब्दः, इत्यतः सम्प्रत्ययः । विपर्ययेण
सम्प्रत्ययाभावात् । न त्वेवमनुमानमिति । यत् पुनरूपलब्धे-
रहिप्रवृत्तित्वादिति । अयमेव शब्दानुमानयोरूपलब्धेः प्रवृत्ति-
भेदः । तत्र विशेषे सत्यहेतुर्विशेषाभावादिति । यत्तु पुनरिदं
सम्बन्धाच्चेति । अस्ति शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽनुज्ञातः । अस्ति च
प्रतिषिद्धः । अस्येदमिति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थविशेषोऽनु-
ज्ञातः । प्राप्तिलक्षणस्तु शब्दार्थयोः सम्बन्धः प्रतिषिद्धः ॥ ५० ॥

कस्मात् ?—

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ५१ ॥

प्रत्यक्षतस्तावच्छब्दार्थप्राप्तेर्नोपलब्धिः, अतीन्द्रियत्वात् ।
वेनेन्द्रियेण गृह्यते शब्दः, तस्य विषयभावमतिवृत्तोऽर्थो न
गृह्यते । अस्ति चातीन्द्रियविषयभूतोऽप्यर्थः । समानेन चेन्द्रि-
येण गृह्यमाणयोः प्राप्तिर्गृह्यत इति । प्राप्तिलक्षणे च गृह्यमाणे
शब्दार्थयोः शब्दान्तिके वाऽर्थः स्यात्, अर्थान्तिके वा शब्दः
स्यात्, उभयं वोभयत्र ॥ ५१ ॥

विद्वाननुवचम् ।—आप्तस्य समादिसूत्रस्य च उपदेशः शब्दः, तत्र सत् सामर्थ्यं
आकाङ्क्षाद्योग्यतादिमत्त्वं ततः ; अथवा प्राप्तं प्राप्तं, यदुपदेशसामर्थ्यम् आकाङ्क्षादि-
मत्त्वं, ततः तत्प्रकारम् ; सवधारणसाधं निर्देशः, तेन व्याप्तिनिर्वादाकाङ्क्षादि-
ज्ञानादर्थे सम्बन्धः शब्दबोधः सम्भवतीति नानुमानानर्थावः शब्दस्येत्यर्थः, शब्दा-
दनुमर्थं प्रत्येति, न त्वनुमिनोऽन्यनुभवादिति भावः ॥ ५० ॥

अथ खल्वयम्,—

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेऽसम्बन्धाभावः ॥ ५२ ॥

स्थानकरणाभावादिति चार्थः । न चायमनुमानतोऽप्युपलभ्यते शब्दान्तिकेऽर्थे इति । एतस्मिन् पक्षेऽप्यस्य स्थानकरणोच्चारणीयः शब्दः, तदन्तिकेऽर्थे इति । अन्नाभ्यासिशब्दोच्चारणे पूरणप्रदाहपाटनानि गृह्येरन् । न च प्रगृह्यन्ते । अग्रहणान्नुमेयः प्राप्तिलक्षणः सम्बन्धः, अर्थान्तिके शब्द इति स्थानकरणासम्भवादनुच्चारणम् । स्थानं कण्ठादयः, करणं प्रयत्नविशेषः, तस्यार्थान्तिकेऽनुपपत्तिरिति । उभयप्रतिषेधाच्च नोभयम् । तस्मान्न शब्देनार्थः प्राप्त इति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयते, अस्ति शब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थाकारणम् । असम्बन्धे हि शब्दमात्रादर्थमात्रे प्रत्ययप्रसङ्गः । तस्मादप्रतिषेधः सम्बन्धस्येति ॥ ५३ ॥

शब्दार्थयोः सम्बन्धाभाव इत्यप्याह ।—शब्देन सङ्गर्थस्य सम्बन्धाभावः व्याप्ताभावः ; हेतुमाह पूरणेति ।—यदि शब्दस्यार्थेन व्याप्तिः स्यात्, तदाऽन्नाभ्यासिशब्देर्बुद्धपूरणमुखप्रदाहमुखपाटनानि स्युः, शब्दस्य व्याप्त्यस्य सत्त्वेनात्रादेरर्थस्यापि सत्त्वात् ॥ ५२ ॥

तत् किं शब्दोऽसम्बन्धमेवार्थं प्रत्याययति ? तथा सत्यतिप्रसङ्ग इत्याशङ्कते ।—अप्रतिषेधः शब्दार्थयोः सम्बन्धप्रतिषेधो न शब्दार्थयोः, सम्बन्धस्य व्यवस्थितत्वात् । कश्चिदेव हि शब्दः, कश्चिदेवार्थो बोधयति, न सर्वः सर्वमिति, इत्यस्य सम्बन्धे स्वीकृते तेन सम्बन्धेन व्याप्तिरप्यावश्यकी ; स च सम्बन्धो न मुखपूरणादिनियामक इति भावः ॥ ५३ ॥

अत्र समाधिः ।—

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥ ५४ ॥

न सम्बन्धकारितं शब्दार्थव्यवस्थानम् । किं तर्हि ?—समय-
कारितं यत् तदवोचाम ;—अस्येदमिति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्य-
स्यार्थविशेषोऽनुज्ञातः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति । समयं तस्य-
वोचामेति । कः पुनरयं समयः ? अस्य शब्दस्येदमर्थजात-
मभिधेयम्, इत्यभिधानाभिधेयनियमनियोगः । तस्मिन्नुपयुक्ते
शब्दादर्थसम्प्रत्ययो भवति । विपर्यये हि शब्दश्रवणेऽपि
प्रत्ययाभावः । सम्बन्धवादिनाऽपि चायमवर्जनीय इति । प्रयुज्य-
मानग्रहणाच्च समयोपयोगो लौकिकानाम् । समयपालनार्थं
चेदं पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम् । वाक्यलक्षणाया
वाचोऽर्थो लक्षणम् ; पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्ताविति ।
तदेवं प्राप्तिलक्षणस्य शब्दार्थसम्बन्धस्यार्थानुषोऽप्यनुमानं हेतुर्न
भवतीति ॥ ५४ ॥

जातिविशेषे चानियमात् ॥ ५५ ॥

सामयिकः शब्दादर्थसम्प्रत्ययः, न स्वाभाविकः । ऋष्यार्थ-
वेच्छानां यथाकामं शब्दविनियोगोऽर्थप्रत्यायनाय प्रवर्तते ।
स्वाभाविके हि शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वे यथाकामं न स्यात् ।

उत्तरयति ।—सन्धेतेऽपि शब्दार्थयोरव्यवस्था न, शब्दाधीनस्यार्थसम्प्रत्ययस्य
सामयिकत्वात् शक्तिग्रहाधीनत्वात्, शक्तिरूपसम्बन्धेन च न व्याप्तिः, तस्यावृत्तिनिग्रह-
मकसम्बन्धाधीनत्वादिति भावः ॥ ५४ ॥

शब्दस्यार्थेन सह न स्वाभाविकः सम्बन्धः, जातिविशेषेऽनियमात् शब्दस्य-
निवर्तार्थकत्वदर्शनात्, आर्या हि यवशब्दादौर्घशुक्तविशेषं प्रतिपत्ति, वेच्छास्तु

यथा तैजसस्य प्रकाशस्य रूपप्रत्ययहेतुत्वं न जातिविशेषे
व्यभिचरतीति ॥ ५५ ॥

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ ५६ ॥

पुत्रकामेष्टिहवनाभ्यासेषु । तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते
भगवानृषिः । शब्दस्य प्रमाणत्वं न सम्भवति । कस्मात् ?—अनृत-
दोषात् । पुत्रकामेष्टौ पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेतेति, नेष्टौ
संस्थितायां पुत्रजन्य दृश्यते । दृष्टार्थस्य वाक्यस्यानृतत्वात्
अदृष्टार्थमपि वाक्यम् “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः”
(मैत्री० उप० ६।३६) इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते । विहित-
व्याघातदोषाच्च । हवने,—उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यं,
समयाध्युषिते होतव्यम्, इति विधाय, विहितं व्याहन्ति,—
“श्यावोऽस्याऽऽहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शबलो-
ऽस्याऽऽहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, श्यावशबला-
वस्याऽऽहुतिमभ्यवहरतः, यः समयाध्युषिते जुहोति” ।
व्याघाताच्चान्यतरन्वित्येति, पुनरुक्तदोषाच्च । अभ्यासे देश्य-
माने,—“त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुक्तमाम्” इति पुनरुक्तदोषो

कङ्कुमिति, नियमे तु सर्वः सर्वं प्रतीयताम् । आपाततत्त्वेदम् ;—नामाशक्तावपि यत्र यस्य
शक्तिवद्, तस्य तदर्थोपस्थितेः ॥ ५५ ॥

समाप्तं शब्दसामान्यपरीचाप्रकरणम् ।

शब्दस्य दृष्टादृष्टार्थकत्वेन वैविध्यमुक्तम् ; तत्र चादृष्टार्थकशब्दस्य वेदस्य प्रामाण्यं
परीक्षितुं पूर्वपक्षयति ।—तस्य दृष्टार्थकव्यतिरिक्तशब्दस्य वेदस्य, अप्रामाण्यम् । कुतः ?
—अनृतत्वादित्येव । तत्र च पुत्रेष्टिकारी यागादौ क्वचित् फलानुत्पत्तिदृश्या-
दृष्टतत्त्वम् । व्याघातः पूर्वापरविरोधः । यथा,—“उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति,
समयाध्युषिते जुहोति” “श्यावोऽस्याऽऽहुतिमभ्यवहरति, य उदिते जुहोति, शबलो-
ऽस्याऽऽहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, श्यावशबलावस्याऽऽहुतिमभ्यवहरतः, यः
समयाध्युषिते जुहोति” । अत्र चोदितादिवाक्यानां निन्दाऽनुमितानिष्टसाधनताबोधक-
त्वात्वेन सङ्ग विरोधः । पुनरुक्त्यादप्रामाण्यम् । यथा,—“त्रिः प्रथमामन्वाह,

भवति । पुनरुक्तञ्च प्रमत्तवाक्यमिति । तस्मादप्रमाणं शब्दोऽनृत-
व्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य इति ॥ ५६ ॥

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५७ ॥

नानृतदोषः पुत्रकामेष्टौ । कस्मात् ?—कर्मकर्तृसाधन-
वैगुण्यात् । इच्छा पितरौ संयुज्यमानौ पुत्रं जनयत इति इष्टिः
करणं साधनम् ; पितरौ कर्तारौ, संयोगः कर्म, त्रयाणां गुण-
योगात् पुत्रजन्म, वैगुण्याद्विपर्ययः । इच्छाऽऽश्रयं तावत्कर्म-
वैगुण्यं,—समीहाभ्रंशः । कर्तृवैगुण्यम्,—अविद्वान् प्रयोक्ता
कपूयाऽऽचरणश्च । साधनवैगुण्यं,—हविरसंस्कृतमुपहतमिति ।
मन्त्रा न्यूनाधिकाः स्वरवर्णहीना इति । दक्षिणा दुरागता
होना निन्दिता चेति । अथोपजनाऽऽश्रयं, कर्मवैगुण्यं,—
मिथ्यासम्प्रयोगः । कर्तृवैगुण्यं,—योनिव्यापादः, बीजोपघात-
श्चति । साधनवैगुण्यम्,—इष्टावभिहितम् । लोके चाग्निकामो
दारुणी मथ्नीशादिति विधिवाक्यम् । तत्र कर्मवैगुण्यं,—
मिथ्याऽभिमन्यनम् । कर्तृवैगुण्यं,—प्रज्ञाप्रयत्नगतः प्रमादः ।
साधनवैगुण्यम्,—आर्द्रं सुषिरं दार्विति । तत्र फलं न निष्प-
द्यत इति नानृतदोषः । गुणयोगेन फलनिर्वाप्तदर्शनात् ।
न चेदं लौकिकाद्भिद्यते पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेतेति ॥ ५७ ॥

विद्वत्तन्मा” इत्येवमन्वयस्य प्रथमत्वापर्यवसानेऽपि विःकथनेन पौनरुक्त्यम् ।
एतेषामप्रामाण्ये तद्वृत्तान्तेन तदेककर्तृकत्वेन तदेकजातीयत्वेन वा सर्ववेदाप्रामाण्यं
साधनीयमिति भावः ॥ ५६ ॥

विद्वान्तत्त्वम् ।—न वेदाप्रामाण्यं, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् फलाभावेपपत्तेः ;
कर्माणः क्रियायाः, वैगुण्यम् अयथाविधित्वादि, कर्तृवैगुण्यम् अविद्वत्त्वादि, साधनस्य
हविरादिः, वैगुण्यम् अप्रोचितत्वादि, यथोक्तकर्माणः फलाभावे ह्यनृतत्वं न चैवमस्तीति
भावः ॥ ५७ ॥

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ५८ ॥

न व्याघातो हवन इत्यनुवर्तते । योऽभ्युपगतं हवनकालं भिनत्ति, ततोऽन्यत्र जहोति, तत्रायमभ्युपगतकालभेदे दोष उच्यते । श्यावोऽस्याऽऽहुतिमभ्यवहरति, य उदिते जुहोति, तदिदं विधिभ्रंशे निन्दावचनमिति ॥ ५८ ॥

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ५९ ॥

पुनरुक्तदोषोऽभ्यासे नेति प्रकृतम् । अनर्थकोऽभ्यासः पुनरुक्तः । अर्थवानभ्यासोऽनुवादः । योऽयमभ्यासः,—“त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्” इत्यनुवाद उपपद्यते, अर्थवत्त्वात् । त्रिर्वचनेन हि प्रथमोत्तमयोः पञ्चदशत्वं सामिधेनीनां भवति । तथा च मन्त्राभिवादः,—“इममहं भ्रातृव्यं पञ्चदशारेण वाग्वज्रेणाववाधे, योऽस्मान् देष्टि, यच्च वयं द्विषः” इति । पञ्चदशसामिधेनीर्वज्रं मन्त्रोऽभिवदति, तदभ्यासमन्तरेण न स्यादिति ॥ ५९ ॥

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६० ॥

प्रमाणं शब्दः, यथा लोके ॥ ६० ॥

व्याघातं परिहरति ।—न व्याघात इति शेषः, अन्वाधानकाले उदितहीमादिकसम्युपेत्य स्वीकृत्य, अनुदितहीमादिकरूपे पूर्वोक्तदोषकथनात् व्याघात इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

पौनरुक्त्यं परिहरति ।—च पुनरर्थे, अनुवादोपपत्तेः पुनर्न पौनरुक्त्यम् । निष्प्रयोजनत्वे हि पौनरुक्त्यं दोषः, उक्तस्थले त्वनुवादस्य उपपत्तेः प्रयोजनस्य सम्भवात्, एकादशसामिधेनीनां प्रथमोत्तमयोः द्विरभिधाने हि पञ्चदशत्वं सम्भवति, तथा च पञ्चदशत्वं श्रूयते,—“इममहं भ्रातृव्यं पञ्चदशारेण वाग्वज्रेणाववाधे, योऽस्मान् देष्टि, यच्च वयं द्विषः” इति ॥ ५९ ॥

अनुवादस्य सार्थकत्वं लोक्सिद्धमित्याह ।—वाक्यविभागस्य अनुवादत्वेन विभक्तवाक्यस्य अर्थग्रहणात् प्रयोजनस्वीकारात्, शिष्टेरिति शेषः । शिष्टा हि विद्या-

विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः,—

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६१ ॥

विधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि,—विधिवचनानि,
अर्थवादवचनानि, अनुवादवचनानीति ॥ ६१ ॥

तत्र,—

विधिविधायकः ॥ ६२ ॥

यद्वाक्यं विधायकं चोदकं, स विधिः । विधिस्तु नियोगो-
ऽनुज्ञा वा ; यथा “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” (मैत्रौ०
उप० ६।३६) इत्यादि ॥ ६२ ॥

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६३ ॥

विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा, सा स्तुतिः, सम्प्रत्य-
यार्थम् । स्तूयमानं श्रद्धोतेति प्रवर्त्तिका च । फलश्रवणात्
प्रवर्त्तते । “सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्,” “सर्वस्याऽऽप्तैः
सर्वस्य जित्यै, सर्वमेवैतेनाऽऽप्नोति सर्वं जयति” इत्येवमादि ।

कानुवादकादिभेदेन वाक्यं विभज्यानुवादकस्यापि सप्रयोजनत्वं सन्त्यते, वेदेऽप्यत्र
मिति भावः ॥ ६० ॥

वेदे वाक्यविभागं दर्शयति ।—मन्त्रब्राह्मणभेदाद् विधा वेदः, तत्र ब्राह्मणस्यायं
विभागः,—विधिवचनत्वेनाश्रवादवचनत्वेनानुवादवचनत्वेन च वेदस्य विनियोगात्
विभजनात् ; अथवा विनियोगात् भेदात्, तथा च विध्यादिभेदात् ब्राह्मणभागस्त्विति
शेषः ॥ ६१ ॥

तत्र विधिलक्षणायाः ।—इष्टसाधनताबोधकप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यं विधिः,
“अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” इत्यादि ॥ ६२ ॥

अश्रवादः अर्थस्य प्रयोजनस्य, वदनं विध्यर्थप्रशंसापरं वचनमित्यर्थः ; अश्रवादी हि
स्तुत्यादिद्वारा विध्यर्थं शीघ्रं प्रवृत्तये प्रशंसति । तत्र स्तुत्यादिभेदादश्रवादं विभजते ।—
स्तुतिः साक्षाद्विध्यर्थस्य प्रशंसाऽर्थकं वाक्यम् ; यथा “सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्”

अनिष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्थम्; निन्दितं न समा-
चरेदिति ।—“एष वाव प्रथमो यज्ञानां यज्योतिष्टोमः,
एतेनानिष्टाऽन्येन यजते, स गर्तं पतत्ययमेवैतज्जीर्यते प्रस्रीयत”
इत्येवमादि । अन्यकर्तृकस्य व्याहृतस्य विधेर्वादः परकृतिः ।—
“हुत्वा वपामेवाग्नेऽभिधारयन्ति, अथ पृषदाज्यं, तदुह
चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्नेऽभिधारयन्त्यग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं
स्तोममित्येवमभिदधति” इत्येवमादि । ऐतिह्यसमाचरितो
विधिः पुराकल्प इति । “तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा
वह्निःपवमानं सामस्तोममस्तौषन्. योने यज्ञं प्रतनवामहे”
इत्येवमादि । कथं परकृतिपुराकल्पो अर्थवादाविति ?—
स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसम्बन्धादिव्याश्रयस्य कस्यचिदर्थस्य द्योत-
नादर्थवाद इति ॥ ६३ ॥

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६४ ॥

विध्यनुवचनञ्चानुवादो विहितानुवचनञ्च । पूर्वः शब्दानु-
वादः, अपरोऽर्थानुवादः । यथा पुनरुक्तं द्विविधम्, एवमनुवादो-
ऽपि । किमर्थं पुनर्विहितमनूयते ?—अधिकारार्थम् । विहित-

“सर्वस्य चातोऽ सर्वस्य जित्ये, सर्वमेवेनेनाऽऽप्नोति सर्वं अयति” इत्यादि ।
अनिष्टबीधनद्वारा विध्यर्थप्रवर्तकं निन्दा,—“एष वाव प्रथमो यज्ञानां यज्योतिष्टोमः,
एतेनानिष्टा अन्येन यजते, स गर्तं पतत्ययमेवैतज्जीर्यते प्रस्रीयत” इत्यादि ।
पुरुषविशेषनिष्ठमिथोविरुद्धकथनं परकृतिः, यथा,—“हुत्वा वपामेवाग्नेऽभिधारयन्त्यग्नेः
पृषदाज्यं, तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्नेऽभिधारयन्त्यग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं
स्तोममित्येवमभिदधति” इत्यादि । ऐतिह्यसमाचरिततया कौत्सनं पुराकल्पः,
यथा,—“तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा वह्निःपवमानं सामस्तोममस्तौषन्. योने यज्ञं
प्रतनवामहे” इत्यादि ॥ ६३ ॥

अनुवादलक्षणमाह ।—प्राप्तस्य अनु पश्चात् कथनं सप्रयोजनमनुवाद इति
ज्ञानान्वलक्षणम्; तद्विशेषो विधिविहितस्येति, विध्यनुवादो विहितानुवादश्चेत्यर्थः ।

अधिकृत्य स्तुतिर्वीच्यते, निन्दा वा, विधिशेषो वाऽभिधीयते ।
 विहितानन्तरार्थोऽपि चानुवादो भवति । एवमन्यदप्युत्प्रेक्ष-
 नौयम् । लोकेऽपि च विधिरर्थवादोऽनुवाद इति च त्रिविधं
 वाक्यम् । ओदनं पचेदिति विधिवाक्यम् । अर्थवादवाक्यम्—
 आयुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिमानञ्चान्ने प्रतिष्ठितम् । अनुवादः,—
 पचतु पचतु भवानित्यभ्यासः, क्षिप्रं पच्यतामिति वा ।
 अङ्ग ! पच्यतामित्यधेषणार्थम् । पच्यतामेवेति वाऽवधारणार्थम् ।
 यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वम्, एवं
 वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्ह-
 तीति ॥ ६४ ॥

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ ६५ ॥

पुनरुक्तमसाधु, साधुरनुवाद इति अयं विशेषो नोपपद्यते ।
 कस्मात् ?—उभयत्र हि प्रतीतार्थः शब्दोऽभ्यस्यते । चरितार्थस्य
 शब्दस्याभ्यासादुभयमसाध्विति ॥ ६५ ॥

श्रीघ्नतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६६ ॥

नानुवादपुनरुक्तयोरविशेषः । कस्मात् ?—अर्थवदभ्यास-
 स्यानुवादभावात् । समानेऽभ्यासे पुनरुक्तमनर्थकम् । अर्थवान-
 भ्यासोऽनुवादः । श्रीघ्नतरगमनोपदेशवत् । श्रीघ्नं श्रीघ्नं गम्यतां,
 श्रीघ्नतरं गम्यतामिति क्रियातिशयोऽभ्यासेनैवोच्यते । उदा-
 हरणार्थञ्चेदम् एवमन्योऽप्यभ्यासः । पचति पचतीति क्रिया-

अथ चायंवादानुवादविभागो विधिसमभिव्याहृतवाक्यानाम् ; तेन भूतायंवादरूपाणां
 वेदान्तिवाक्यानामपरिग्रहाच्च न्यूनता ॥ ६४ ॥

श्रूयते ।—शब्दस्य बोधितार्थकशब्दस्य योऽभ्यासः पुनः प्रयोगः, तस्योपपत्तेः
 कस्मात् अनुवादः पुनरुक्तान्न भिद्यत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

समाधत्ते ।—अनुवादस्य पुनरुक्तान्नाविशेषः, अभ्यासात्, अभ्यासस्य सप्रयोजक-

नुपरमः । ग्रामो ग्रामी रमणीय इति व्याप्तिः । परिपरि-
त्रिगत्तंभ्यो वृष्टो देव इति परिवर्जनम् । अध्यधि कुक्षं निषण्ण-
मिति सामीप्यम् । तिक्तं तिक्तमिति प्रकारः । एवमनुवादस्य
स्तुतिनिन्दाशेषविधिष्वधिकारार्थता विहितार्थता चेति ॥६६॥

किं पुनः प्रतिषेधहेतूदारादेव शब्दस्य प्रमाणत्वं सिध्यति ?
न ; अतश्च,—

**मन्वाऽऽयुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्त-
प्रामाण्यात् ॥ ६७ ॥**

किं पुनरायुर्वेदस्य प्रामाण्यम् ? यदायुर्वेदेनोपदिश्यते,—इदं
कृत्वेष्टमधिगच्छति, इदं वर्जयित्वाऽनिष्टं जहाति, तस्यानु-
ष्ठेयमानस्य तथाभावः सत्यार्थताऽविपर्ययः । मन्त्रपदानाञ्च
विषभूताऽशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभावः । एतत्
प्रामाण्यम् । किं कृतमेतत् ?—आप्तप्रामाण्यकृतम् । किं पुन-
राप्तानां प्रामाण्यम् ?—साक्षात्कृतधर्मता, भूतदया, यथाभूतार्थ-
चिन्त्यापयिषेति । आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माः इदं ज्ञातव्यम्,
अयमस्य हानिहेतुः, इदमस्याधिगन्तव्यम्, अयमस्याधिगम-
हेतुरिति भूतान्यनुकम्पन्ते । तेषां खलु वै प्राणभृतां स्वय-
मनवबुध्यमानानां नान्यदुपदेशादवबोधकारणमस्ति । न
ज्ञानवबोधे समीक्षा वर्जनं वा, न वाऽकृत्वा स्वस्तिभावः,
नाप्यस्यान्य उपकारकोऽप्यस्ति । हन्त ! वयमेभ्यो यथादर्शनं
यथाभूतमुपदिशामः, त इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं हास-

न्तात् । तत्र दृष्टान्तमाह, शीघ्रेति ।—यथा लोके गन्तव्यतान्मन्युः पुनर्मन्वतां गन्तवान्
प्रत्यादिकमविलम्बादिवोधार्थमुच्यते, तथा प्रकृतेऽपीति ॥ ६६ ॥

एवमप्रामाण्यसाधकं निरस्य प्रामाण्यं साधयति ।—आप्तस्य वेदकर्तृः, प्राप्ता-
न्ताम्, यथार्थोपदेशकत्वात् वेदस्य, तदुक्तत्वमर्थाज्ञानं, तेन हेतुना वेदस्य प्रामाण्यम्

अधिमन्तव्यमेवाधिगमिष्यन्तीति एवमाप्तोपदेशः । एतेन
 त्रिविधेनाऽऽप्तप्रामाण्येन परिगृह्यतोऽनुष्ठीयमानोऽर्थस्य साधको
 भवति । एवमाप्तोपदेशः प्रमाणम् ; एवमाप्ताः प्रमाणम् । दृष्टार्थे-
 नाऽऽप्तोपदेशेनाऽऽयुर्वेदेनादृष्टार्थी वेदभागोऽनुमातव्यः प्रमाण-
 मिति । आप्तप्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वादिति । अस्यापि
 चैकदेशो “ग्रामकामो यजेत” इत्येवमादिर्दृष्टार्थः, तेनानुमातव्य-
 मिति । लोके च भूयानुपदेशाऽऽश्रयो व्यवहारः । लौकिक-
 स्थाप्युपदेष्टुरुपदेष्टव्यार्थज्ञानेन परानुजिघृक्षया यथाभूतार्थ-
 चिख्यापयिषया च प्रामाण्यम् । तत्परिग्रहादाप्तोपदेशः
 प्रमाणमिति । * द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । * य
 एवाऽऽप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, त एवाऽऽयुर्वेद-
 प्रवृत्तौनाम् ; इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवदेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति ।
 नित्यत्वावेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्य-
 युक्तम् । शब्दस्य वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं, न
 नित्यत्वात् । नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेण वचनाच्छब्दार्थव्यवस्था-
 नुपपत्तिः । * नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेत् ? न,
 लौकिकेष्वदर्शनात् । * * तेऽपि नित्या इति चेत् ? न,
 अनाप्तोपदेशादर्थविसंवादीऽनुपपन्नः । * नित्यत्वाच्च शब्दः
 प्रमाणमिति अनित्यः स इति चेत् ? अविशेषवचनम् । अनाप्तोप-
 देशो लौकिको न नित्य इति कारणं वाच्यमिति । यथानियोग-
 चार्थस्य प्रत्यायनासामधेयशब्दानां लोके प्रामाण्यं, नित्य-
 त्वात्प्रामाण्यानुपपत्तिः । यत्रार्थे नामधेयशब्दो नियुज्यते, लोके
 तस्य नियोगसामर्थ्यात् प्रत्यायको भवति, न नित्यत्वात् । मन्त्र-

अनुमेयम् । यत्र दृष्टान्तमाह, मन्त्राऽऽयुर्वेदप्रामाण्यवदिति । — मन्त्रो विषादिनाशकः,
 आयुर्वेदमात्रं वेदस्य एव, तत्र संवादेन प्रामाण्यपङ्गात् सहृष्टान्तेन वेदत्वावच्छेदेन

न्तरयुगान्तरेषु चातौतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो
वेदानां नित्यत्वम् । आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम् ; लौकिकेषु
शब्देषु चैतत् समानमिति ॥ ६७ ॥

इति वात्स्यायनोपेक्षया न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ।

अथार्थाः प्रमाणोद्देश इति मत्वाऽऽह ।—

न चतुष्टयमैतिह्यार्थाऽऽपत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥

न चत्वार्येव प्रमाणानि । किं तर्हि ?—एतिह्यम्, अर्था-
ऽऽपत्तिः, सम्भवः, अभावः इत्येतान्यपि प्रमाणानि । इति
होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकम्प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम् । अर्थादापत्ति-
रर्थाऽऽपत्तिः । आपत्तिः प्राप्तिः प्रसङ्गः । यत्राभिधीयमानेऽर्थे

प्रामाण्यम् अनुमेयम्, आप्त गृहीतं, प्रमाणं यत्र स वेदसादृशेन वेदत्वेन प्रामाण्यमनु-
मेयमिति केचित् ॥ ६७ ॥

समाप्तं शब्दविशेषपरीक्षाप्रकरणम् ।

इति श्रीविश्वनाथभट्टाचार्यकृतायां न्यायसूत्रतौ विभागपरीक्षा-

निरपेक्षसाङ्गप्रमाणपरीक्षणं नाम द्वितीयाध्यायस्याद्य-

माह्निकम् ॥ १ ॥

अथ विभागस्थापेक्षप्रमाणपरीक्षणं, तदेव चाऽऽह्निकाथः । चत्वारि चात्र
प्रकरणानि । तत्राऽऽदौ चतुष्टयपरीक्षाप्रकरणम् । अन्यानि च तत्र तत्र वक्ष्यन्ते,
तत्राऽऽक्षेपसूत्रम् । प्रमाणानां न चतुष्टयम् ; प्रमाणत्वं नीतचतुष्टयान्यतमत्वव्याप्यम्
सक्तान्वयवृत्तित्वात्, तत्रान्वयवृत्तित्वं व्युत्पादयति, एतिह्येत्यादि ।—एतिह्यम् इति होचु-
रित्यनेन प्रकारेण यदुच्यते, तद्वि अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं परम्पराऽऽगतं वाक्यम् ; यथा,—वटे

योऽन्योऽर्थः प्रसज्यते, सोऽर्थोऽपत्तिः ; यथा,—मेघेष्वसत्सु वृष्टिर्न भवतीति ; किमत्र प्रसज्यते ? सत्सु भवतीति । सम्भवी नाम—अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम् ; यथा,—द्वोणस्य सत्ताग्रहणादादकस्य सत्ताग्रहणम् । आदकस्य सत्ताग्रहणात् प्रस्यस्येति । अभावो विरोधौ, अभूतं भूतस्य । अविद्यमानं वर्णकर्म विद्यमानस्य वायुभ्रसंयोगस्य प्रतिपादकम् । विधारके हि वायुभ्रसंयोगे गुरुत्वादपां पतनकर्म न भवतीति ॥ १ ॥

सत्यमेतानि प्रमाणानि, न तु प्रमाणान्तराणि, प्रमाणान्तरञ्च मन्यमानेन प्रतिषेधः उच्यते, सोऽयम्,—

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थाऽपत्ति-
सम्भवाभावनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥

अनुपपन्नः प्रतिषेधः । कथम् ? “आप्तोपदेशः शब्दः” इति न च शब्दलक्षणमैतिह्याद्भावर्तते । सोऽयं भेदः सामान्यात् सङ्गृह्यत इति । प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बन्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानम् । तथा चार्थाऽपत्तिसम्भवाभावाः । वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य

वटे वच इत्यादि, तस्य चाऽऽप्तीकृतत्वानिश्चयान्न शब्देऽन्तर्भाव इति भावः । चार्थाऽपत्तिरनुपपन्नमानेनार्थेनोपपादककल्पनम् ; यथा,—वृक्षा मेघज्ञानं, वृक्षा सह मेघस्य वैयधिकरणस्यात्र व्याप्तिरिति नानुमानेऽन्तर्भावः । सम्भवी भूयः सहचराधीनज्ञानम् ; यथा,—सम्भवति ब्राह्मणे विद्या, सम्भवति सहस्रे शतम्, अत्र च व्याप्तिर्नापेक्षितेत्याशयः । अभावस्तु विरोध्यभावज्ञानाधीनविरोध्यन्तरकल्पनम् ; यथा,—नकुलाभावज्ञानेन नकुल-विरोधिनी व्याजस्य कल्पनम् ; अवापि व्याप्तिर्नापेक्षितेत्याशयः ; अथवा कारणाभावादिना कार्याभावादिज्ञानम् अभावः ; भावनिष्ठव्याप्तिरेवानुमानाक्रमित्याशयः ॥ १ ॥

सिद्धान्तनूतने ।—न प्रमाणचतुष्टयस्य प्रतिषेधः, शब्दे ऐतिह्यज्ञानान्तरभावादनर्थात्, सामान्यत आप्तीकृतत्वज्ञानसम्भवात्, वस्तुत आप्तीकृतत्वज्ञानं न शब्दे

प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थाऽऽपत्तिरनुमानमेव । अविनाभावहृत्या
च सम्बन्धयोः समुदायसमुदायिनोः समुदायेनतरस्य ग्रहणं
सम्भवः । तदप्यनुमानमेव । अस्मिन् सतौदं नोपपद्यत इति
विरोधित्वे प्रसिद्धे कार्यानुत्पत्त्या कारणस्य प्रतिबन्धकमनु-
मीयते । सोऽयं यथार्थ एव प्रमाणोद्देश इति । सत्यमितानि
प्रमाणानि, न तु प्रमाणान्तराण्युक्तम् ॥ २ ॥

अत्रार्थाऽऽपत्तेः प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा नोपपद्यते, तथा हीयम्,—

अर्थाऽऽपत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ३ ॥

असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीति । सत्सु भवतीत्येतदर्थोदाप-
द्यते । सत्सुपि चेकदा न भवति, सेयमर्थाऽऽपत्तिरप्रमाण-
मिति ॥ ३ ॥

अनर्थाऽऽपत्तावर्थाऽऽपत्त्यभिमानात् ॥ ४ ॥

नानैकान्तिकत्वमर्थाऽऽपत्तेः । असति कारणे कार्यं नोत्प-
द्यते इति वाक्यात् प्रत्यनीकभूतोऽर्थः सति कारणे कार्यमुत्प-
द्यत इत्यर्थादापद्यते । अभावस्य हि भावः प्रत्यनीक इति ।
सोऽयं कार्यात्पादः सति कारणेऽर्थादापद्यमानो न कारणस्य

कारण, किन्तु आकाङ्क्षादिज्ञानम् ; योग्यताप्रमाऽधीना च शाब्दप्रमेति, अर्थाऽऽपत्त्या-
दरनुमानेऽन्तर्भावः । उपपादककल्पनं हि विना व्याप्तिज्ञानं न सम्भवति, वृष्टित्वादा-
वपि मेघजन्यत्वव्याप्तिरस्येव, सम्भवोऽपि व्याप्तिमूलकत्वादनुमानम् ; व्याप्तिनपेक्षिते च
व्याप्तिचारादप्रमाणम्, एवमभावो व्याप्तिसापेक्षोऽनुमानम्, अभावनिष्ठव्याप्तेऽनु-
मानाङ्गत्वे न विरोध इति भावः ॥ २ ॥

सत्यार्थाऽऽपत्तेः प्रामाण्ये बहिर्भावान्तर्भावचिन्ता, तदेव तु नास्तीति तदस्य;
शङ्कते ।—असति मेघे वृष्टिर्न भवतीत्यनेन सति मेघे वृष्टिर्भवतीत्यर्थाऽऽपत्तिविषयः,
तत्र च न प्रामाण्यं, सत्यपि मेघे वृष्ट्यभावादनैकान्तिकत्वात् ॥ ३ ॥

समाधत्ते ।—अर्थाऽऽपत्तेर्नानैकान्तिकत्वमिति शेषः, असत्सु मेघेषु न वृष्टिरित्य-
नेन सति मेघे वृष्टिरिति । तत्र च वृष्ट्या मेघज्ञानमभिमतम् ; यच्च च मेघेन वृष्टि-

सत्तां व्यभिचरति । न खल्वसति कारणे कार्यमुत्पद्यते ।
तस्मान्नानैकान्तिकी । यत्तु सति कारणे निमित्तप्रतिबन्धात्
कार्यं नोत्पद्यत इति, कारणधर्मोऽसौ न त्वर्याऽपत्तेः प्रमेयम् ।
किं तर्ह्यस्याः प्रमेयम् ? सति कारणे कार्यमुत्पद्यत इति ।
योऽसौ कार्योत्पादः कारणस्य सत्तां न व्यभिचरति, एतदस्याः
प्रमेयम् । एवन्तु सति अनर्थाऽपत्तावर्थाऽपत्त्यभिमानं कृत्वा
प्रतिषेध उच्यते इति । दृष्टञ्च कारणधर्मो न शक्यः प्रत्याख्यातु-
मिति ॥ ४ ॥

प्रतिषेधाप्रामाण्यञ्चानैकान्तिकत्वात् ॥ ५ ॥

अर्थाऽपत्तिर्न प्रमाणमनैकान्तिकत्वादिति वाक्यं प्रतिषेधः ।
तेनानेनार्थाऽपत्तेः प्रमाणत्वं प्रतिषिध्यते, न सद्भावः । एवमनै-
कान्तिकी भवति । अनैकान्तिकत्वादप्रमाणेनानेन न कश्चिदर्थः
प्रतिषिध्यते इति ॥ ५ ॥

अथ मन्यसे नियतविषयेष्वर्थेषु स्वविषये व्यभिचारो
भवति, न च प्रतिषेधस्यासद्भावो विषयः । एवं तर्हि,—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थाऽपत्त्यप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥

अर्थाऽपत्तेरपि कार्योत्पादेन कारणसत्ताया अव्यभिचारो

ज्ञानं, ततानर्थाऽपत्तावर्थाऽपत्तिरसम् । न चेतावता प्रामाण्यविरोधः, व्यापरादिभूतान्
अमानुमितिदर्शनादनुमानस्याप्यप्रामाण्याऽपत्तेः, नानैकान्तिकत्वमर्थाऽपत्तेरिति
भाष्यस्यावतरणिकां सूत्रादौ केचिज्जिह्वन्ति ॥ ४ ॥

प्रतिबन्धिसम्याह ।—त्वदुक्तरीत्या त्वदीयप्रतिषेधस्याप्यप्रामाण्यं स्यात्, अप्रामाण्य-
सम्भवेऽनैकान्तिकत्वात्, यत्र कुवचिदनेकान्तिकत्वं सति प्रतिषेधसाधकत्वादनेकान्तिक-
त्वात् ॥ ५ ॥

अथ यत्र कुवचिदनेकान्तिकत्वं न दोषाय, किन्तु स्वविषये इति यदि, तदाऽर्था-

विषयः ; न च कारणधर्मो निमित्तप्रतिबन्धात् कार्यानुत्पादत्व-
मिति ॥ ६ ॥

अभावस्य तर्हि प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा नोपपद्यते । कथमिति ?—

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ॥ ७ ॥

अभावस्य भूयसि प्रमेये लोकसिद्धेर्वैय्यात्यादुच्यते नाभाव-
प्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेरिति ॥ ७ ॥

अथायमर्थबहुत्वादर्थैकदेश उदाह्रियते,—

**लक्षितेष्वलक्षणां लक्षितत्वादलक्षितानां तत्-
प्रमेयासिद्धेः ॥ ८ ॥**

तस्याभावस्य सिध्यति प्रमेयम् । कथम् ?—लक्षितेषु वासस्य
अनुपादेवेषु उपादेयानामलक्षितानामलक्षणां लक्षितत्वात्,
लक्षणाभावेन लक्षितत्वादिति । उभयसन्निधावलक्षितानां
वासां स्थानयेति प्रयुक्तो येषु वासस्य लक्षणानि न भवन्ति,
तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य चाऽऽनयति ।
प्रतिपत्तिहेतुश्च प्रमाणमिति ॥ ८ ॥

ऽऽपत्तेरपि नाप्रामाण्यमित्याह ।—अनैकान्तिकत्वस्य स्वविषये साधकत्वाद् यदि स्वहेतोः
प्रामाण्यं सन्त्यसे, तदाऽऽपत्तेरपि स्वविषये प्रामाण्यमिति ॥ ६ ॥

अभावस्य न प्रमाणेऽन्तर्भाव इति तटस्थः शङ्कते ।—अभावमानकं प्रमाणं
तदा स्यात्, यदि तस्य प्रमेयं सिध्येत्, तदेव तु नास्ति । अभावस्य तुच्छत्वान्न तत्र
प्रमाणाप्रवृत्तिरिति भावः ॥ ७ ॥

सिद्धान्तपूर्वम् ।—तस्याभावप्रमाणस्य प्रमेयसिद्धिः, भावप्रधानो निर्देशः । किं
तत्प्रमेयम् ? इत्यत्राऽऽह, लक्षितेषु इति ।—लक्षितेषु घटादिषु सस्य, अलक्षितानां
तत्प्रमेयत्वसिद्धिः । अलक्षितानां कथं प्रमेयत्वम् ? अत आह, अलक्षणां लक्षितत्वा-
दिति ।—यद्यप्यभावस्य गुणकम्पादिभिलक्षणं न सम्भवति, तथाऽप्यलक्षणेनैव तल्लक्षितं
भवति । अनीलमानयेत्युक्ते नीलाभावी हि इतरव्यावर्तकतया लक्ष्यम्, अतोऽभावी
नाप्रामाणिक इति भावः ॥ ८ ॥

असत्यर्थे नाभाव इति चेन्नान्यत्र लक्षणोपपत्तेः ॥८॥

यत्र भूत्वा किञ्चिन्न भवति, तत्र तस्याभावः उपपद्यते ।
अलक्षितेषु च वासस्तु लक्षणानि भूत्वा न भवन्ति, (घ) तस्मात्
तेषु लक्षणाभावोऽनुपपन्न इति चेत् ? न, अन्यलक्षणोपपत्तेः ।
यथाऽयमन्येषु वासस्तु लक्षणानामुपपत्तिं पश्यति, नैवमलक्षि-
तेषु । सोऽयं लक्षणाभावं पश्यन्नभावेनार्थं प्रतिपद्यते इति ॥८॥

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥ १० ॥

तेषु वासस्तु लक्षितेषु सिद्धिविद्यमानता येषां भवति, न
तेषामभावो लक्षणानाम् । यानि च लक्षितेषु विद्यन्ते लक्ष-
णानि, तेषामलक्षितेष्वभाव इत्यहेतुः, यानि खलु भवन्ति,
तेषामभावो व्याहत इति ॥ १० ॥

न लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ॥ ११ ॥

न ब्रूमो यानि लक्षणानि भवन्ति, तेषामभाव इति ।
किन्तु केषुचिन्नलक्षणान्यवस्थितानि, अनवस्थितानि केषुचित्,
अपेक्षमाणो येषु लक्षणानां भाव न पश्यति, तानि लक्षणा-
भावेन प्रतिपद्यत इति ॥ ११ ॥

आचिष्य समाधत्ते ।—असति प्रतियोगिन्यभावी वक्तुं न शक्यते, सति च
प्रतियोगिनि कथं तदभावः ? इति चेत्, न ; अन्यत्र लक्षणेन सत्त्वेनाथात् प्रतियोगिनः,
उपपत्तेः अभावव्यवहारोपपत्तेः । न हि तदैव प्रतियोगिनः सत्त्वगोपेक्षितम् ॥ ८ ॥

अहते ।—लक्षितेषु लक्षणस्य तत्सिद्धेः व्यावर्तकत्वसिद्धेः, अलक्षितेषु अभावेषु
अहेतुः । अहेतुत्वं व्यावर्त्यहेतुत्वम् । अभावस्य लक्षणाभावान्निस्वरूपस्य न
व्यावर्तकत्वमिति भावः ॥ १० ॥

समाधत्ते ।—पूर्वपक्षो न युक्तः । प्रतियोगिनी लक्षणस्य यदवस्थितमवस्थानं,
तस्यापेक्षया यत्र तादृशसिद्धेः । अवसर्थः,—प्रतियोगिस्वरूपज्ञानादेवाभावस्वरूप-
निरूपणसम्भवाद्भावलक्षणापेक्षेति भावः ॥ ११ ॥

(घ) लक्षितेषु वासस्तु भूत्वा इति यावत् ।

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥१२॥

अभावहेतुं खलु भवति । प्राक् चोत्पत्तेरविद्यमानता, उत्पन्नस्य चाऽऽत्मनो हानादविद्यमानता । तत्रालक्षितेषु वासस्तु प्रागुत्पत्तेरविद्यमानतालक्षणो लक्षणानामभावो नेतर इति ॥१२॥

“आप्तोपदेशः शब्दः” इति प्रमाणभावे विशेषणं ब्रुवता नाना- प्रकारः शब्द इति ज्ञाप्यते । तस्मिन् सामान्येन विचारः,—किं नित्योऽथानित्यः ? इति,—

विमर्शहेतुन्युयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः ॥ १३ ॥

आकाशगुणः शब्दो विभुर्नित्योऽभिव्यक्तिधर्मक इत्येके । गन्धादिमहवृत्तिर्द्रव्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्यपरे । आकाशगुणः शब्द उत्पत्तिनिरोधधर्मको बुद्धिवदित्यपरे । महाभूतसङ्गोभजः शब्दोऽनाश्रित उत्पत्तिधर्मको निरोधधर्मक इत्यन्ये । अतः संशयः,—किमत्र तत्त्वम् ? इति ॥ १३ ॥

अनित्यः शब्द इत्युत्तरम् । कथम् ?—

आदिमत्त्वादैनद्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ॥१४॥

आदिर्योनिः कारणम्, आदीयतेऽस्मादिति । कारणवदनित्यं दृष्टं, संयोगविभामजश्च शब्दः कारणवत्त्वादनित्य इति ।

प्रमेयसिद्धिरिति मल्लुकङ्क्याऽनुवर्तते । प्रतियोगिन उत्पत्तेः प्राक् अभावस्य उपपत्तेः उपलब्धात् ; घटी भविष्यतीत्यादिप्रागभावविषयकप्रत्यक्षस्य सार्वभौकिकत्वादिति भावः । चकारेण ज्वसादेरपि प्रत्यक्षसिद्धत्वं समुचीयते । चेष्टाया विव्यापारत्वेन न प्रामाण्यं, वस्तुतो लिप्सादिवत् साङ्केतिकत्वात् तस्याप्यनुमाने शब्दे वाऽन्तर्भाव इति ॥ १२ ॥

समाप्तं प्रमाणवत्तुप्रकरणम् ।

वेदस्य प्रामाण्यनाप्तप्रामाण्यात् सिद्धम् । न चेदं युज्यते, वेदस्य नित्यत्वादित्याशङ्क्या

का पुनरियमर्थदेशना कारणवदिति ? उत्पत्तिधर्मकत्वादित्यः
शब्द इति । भूत्वा न भवति विनाशधर्मक इति । सांशयिक-
मेतत्.—किमुत्पत्तिकारणं संयोगविभागौ शब्दस्य, आहोस्विदभि-
व्यक्तिकारणम् ? इत्यत आह,—ऐन्द्रियकत्वात् ; इन्द्रियप्रत्या-
सत्तिग्राह्य ऐन्द्रियः । किमयं व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते
रूपादिवत् ? अथ संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्र-
प्रत्यासन्नो गृह्यत इति ? * संयोगनिवृत्तौ शब्दग्रहणान्न
व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम् । * दारुग्रहणे दारुपरशुसंयोग-
निवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते, न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यस्य
ग्रहणं भवति, तस्मान्न व्यञ्जकः संयोगः । उत्पादके तु संयोगे
संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नस्य ग्रहण-
मिति । इतश्च शब्द उत्पद्यते, नाभिव्यज्यते, कृतकवदुपचारात् ;
तीव्रं मन्दमिति कृतकमुपचर्यते, तीव्रं सुखं, मन्दं सुखं, तीव्रं
दुःखं, मन्दं दुःखमिति । उपचर्यते च तीव्रः शब्दः, मन्दः शब्दः
इति । * व्यञ्जकस्य तथाभावात् ग्रहणस्य तीव्रमन्दता रूप-
वदिति चेत् ? न, अभिभवोपपत्तेः । * संयोगस्य व्यञ्जकस्य
तीव्रमन्दतया शब्दग्रहणस्य तीव्रमन्दता भवति, न तु शब्दो
भिद्यते, यथा प्रकाशस्य तीव्रमन्दतया रूपग्रहणस्येति । तच्च
नैवम्, अभिभवोपपत्तेः । तीव्रो मेरीशब्दो मन्दं तन्वीशब्दमभि-

वर्णानामित्यत्वात् कथं तत्समुदायरूपस्य वेदस्य नित्यत्वम् ? इत्याशयेन शब्दानित्यत्व-
प्रकरणमारभते । तत्र सिद्धान्तसूत्रम् ।—शब्दोऽनित्य इत्यादि प्रपञ्चयाम् । आदिमत्त्वात्
सकारणकत्वात् । ननु न सकारणकत्वं, कण्ठतात्वाद्यभिघातादेर्व्यञ्जकत्वेनाभ्युपपत्तेः,
अत आह, ऐन्द्रियकत्वादिति ।—सान्त्वयवत्त्वे सति बाहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्ष-
विषयत्वादित्यर्थः । परे तु ऐन्द्रियकत्वं लौकिकप्रत्यक्षविशेष्यत्वं, सान्त्वयसमवाययोन्तु
न तथात्वम् ; जातित्वादिना विशेष्यत्वसम्भवेऽपि जातित्वादिरप्रत्यक्षत्वान्न व्यभिचारः ।
ननस इन्द्रियत्वाभावाच्च नाऽऽत्मनि व्यभिचारः, आत्मन ऐन्द्रियकत्वाभावाहेत्याहुः ।

भवति, न मन्दः, न च शब्दग्रहणमभिभावकम् ; शब्दस्य न भिद्यते, शब्दे तु भिद्यमाने युक्तोऽभिभवः, तस्मादुत्पद्यते शब्दः, नाभिव्यज्यते इति । * अभिभवानुपपत्तिश्च व्यञ्जकसमानदेश-
स्याभिव्यक्तौ प्रास्यभावात् * व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते
शब्दः इति, एतास्मिन् पक्षे नोपपद्यतेऽभिभवः ; न हि भेरीशब्देन
तन्त्रोखनः प्राप्त इति । * अप्राप्ते अभिभव इति चेत् ? शब्द-
मात्राभिभवप्रसङ्गः । * अथ मन्येतासत्यां प्राप्तावभिभवो भवति
इति ? एवं सति यथा भेरीशब्दः कश्चित्तन्त्रोखनमभिभवति, एव-
मन्तिकस्थोपादानमिव दवौयस्थोपादानानपि तन्त्रोखनानभि-
भवेत्, अप्राप्तेरविशेषात् । तत्र कचिदेव भेर्यां प्रणादितायां
सर्वलोकेषु समानकालास्तन्त्रोखना न श्रूयेरन् इति । नाना-
भूतेषु शब्दसन्तानेषु सत्सु श्रोत्रप्रत्यासत्तिभावेन कस्यचि-
च्छब्दस्य तीव्रेण मन्दस्याभिभवो युक्त इति । कः पुनरयमभि-
भवो नाम ?—ग्राह्यसमानजातीयग्रहणकृतमग्रहणमभिभवः,
यथोल्काप्रकाशस्य ग्रहणार्हस्याऽऽदित्यप्रकाशेनेति ॥ १४ ॥

न घटाभावसामान्यनित्यत्वात् नित्येष्वप्य-
नित्यवदुपचाराच्च ॥ १५ ॥

न खलु आदिमत्त्वादित्यः शब्दः । कस्मात् ?—व्यभिचारात् ।
आदिमतः खलु घटाभावस्य दृष्टं नित्यत्वम् । कथमादिमान् ?—

अप्रयोगकत्वमाशङ्क्याऽऽह, कृतकेति ।—कृतके घटादौ, यथा उपचारी ज्ञानं, तथैव
कार्यत्वप्रकारकप्रत्यक्षविषयत्वादित्यर्थः, तथा च कार्यत्वेनानाहार्यसार्वलौकिक-
प्रत्यक्षबलादनित्यत्वमेव सिध्यति । केचित्तु उपचारादिनाशित्वात् कृतकवत् इति
हुष्टान्त इति । परं तु कृतकवदुपचारात् कृतकसुखदुःखादिवद्यवहारात् । यथा हि
सुखादौ तीव्रमन्दादिव्यवहारः, शब्देऽप्येवं, न तु नित्ये तथेत्याहुः ॥ १४ ॥

ग्रन्थाश्रुते हेतूनां व्यभिचारमाशङ्कते ।—नीत्ता हेतवः, घटाभावस्य घटध्वंसस्य,

कारणविभागेभ्यो हि घटो न भवति । कथम् अस्य (ङ)
नित्यत्वम् ? योऽसौ कारणविभागेभ्यो न भवति, न तस्य (च)
अभावो भावेन कदाचिन्निरर्थे इति । यदप्रैन्द्रियकत्वात्,
तदपि व्यभिचरति । ऐन्द्रियकञ्च सामान्यं नित्यञ्चेति । यदपि
कृतकवदुपचारादिति, तदपि व्यभिचरति, नित्येष्वनित्यवदुपचारे
दृष्टः, यथा हि भवति वृक्षस्य प्रदेशः, कम्बलस्य प्रदेशः ; एव-
माकाशस्य प्रदेशः, आत्मनः प्रदेश इति भवतीति ॥ १५ ॥

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ॥ १६ ॥

नित्यमित्यत्र किं तावत्तत्त्वम् ? आत्माऽन्तरस्यानुत्पत्ति-
धर्मकस्याऽऽत्महानानुपपत्तिर्नित्यत्वम् । तच्चाभावे नोपपद्यते,
भाक्तन्तु भवति, यत् तत्राऽऽत्मानमहासौत्, यद्भूत्वा न भवति, न
जातु तत्पुनर्भवति, तत्रानित्य इव नित्यो घटाभाव इत्ययं पदार्थः
इति । तत्र यथाजातीयकः शब्दः, न तथाजातीयकं कार्यं
किञ्चिन्नित्यं दृश्यत इत्यव्यभिचारः ॥ १६ ॥

नित्यत्वादविनाशित्वात्, आदिमत्त्वं व्यभिचारि, ऐन्द्रियकत्वं सामान्ये व्यभिचारि,
नित्येष्वनित्यवदुपचारात् ; यथा,—घटाऽऽकाशमुत्पन्नम्, अहं सुखी जात
इत्यादि ॥ १५ ॥

प्रथमे व्यभिचारं परिहरति ।—तत्त्वस्य पारमार्थिकस्य, भाक्तस्य च नानात्वस्य
भेदस्य, विभागात् विवेकात्, न व्यभिचारः । ध्वंसे हि उत्पत्तिमत्त्ववच्छेदम् आदि-
मत्त्वं वैकालिकत्वरूपनित्यत्वाभावरूपचानित्यत्वमख्येवाविनाशित्वान्नित्यत्वमौपचारिकम्,
अतो न व्यभिचारः । आदिमत्त्वं प्रागभावावच्छिन्नमत्त्वं, न चैतदभावे इति
भाऽर्थः ॥ १६ ॥

(ङ) ध्वंसस्य ।

(च) विनष्टस्य वस्तुनः ।

यदपि सामान्यनित्यत्वादिति इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य-
मैन्द्रियकमिति, न तु इन्द्रियजन्यप्रतीतिविषयत्वम्,—

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ १७ ॥

नित्ये व्यभिचार इति प्रकृतम् । नैन्द्रियग्रहणसामर्थ्या-
च्छब्दस्यानित्यत्वम् ; किं तर्हि ? इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यत्वात्
सन्तानानुमानं, तेनानित्यत्वमिति ॥ १७ ॥

यदपि नित्येष्वप्यनित्यत्ववदुपचारादिति, नैवम् ।—

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्ये-
ष्वप्यव्यभिचार इति ॥ १८ ॥

आकाशप्रदेश आत्मप्रदेश इति नात्राऽऽकाशाऽऽत्मनाः
कारणद्रव्यमभिधीयते, यथा कृतकस्य । कथं अविद्यमानमभि-
धीयते ? अविद्यमानता च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ; किं तर्हि
तत्राभिधीयते ? संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वम् ; परिच्छिन्नेन द्रव्यशा-
ऽऽकाशस्य संयोगो नाऽऽकाशं व्याप्नोति, अव्याप्य वर्त्तत इति ;
तदस्य कृतकेन द्रव्येण सामान्यं, न ह्यामलकयोः संयोग
आश्रयं व्याप्नोति, सामान्यकृता च भक्तिराकाशस्य प्रदेश इति ।
अनेनाऽऽत्मप्रदेशो व्याख्यातः । संयोगवच्च शब्दबुद्ध्यादौनाम-
व्याप्यवृत्तित्वमिति । परीक्षिता च तीव्रमन्दता शब्दतत्त्वं न
भक्तिरुक्तेति । कस्मात् पुनः सूत्रकारस्यास्मिन्नर्थे सूत्रं न
श्रूयत इति ?—शीलमिदं भगवतः सूत्रकारस्य बहुष्वधिकरणेषु

द्वितीये व्यभिचारमुद्धरति ।—सन्तानस्योत्तमानेऽनुमितिकरणे चिह्ने, विशेषणात् ;
सन्तानः सन्नन्यमानः एकधर्मावच्छिन्नत्वेन प्रायमानः, तेन सामान्यत्वेन सतीति
विशेषणीयमिति ॥ १७ ॥

तृतीये व्यभिचारं वारयति ।—आकाशे हेतुनांस्त्वेव, आकाशे प्रादेशिका-
व्यवहारस्तु गौरवः ; प्रदेशशब्देन कारणद्रव्यस्य कारणवती द्रव्यस्याभिधानात्, न

हो पक्षो न व्यवस्थापयति, तत्र शास्त्रसिद्धान्तात् तत्त्वावधारणं प्रतिपत्तुमर्हतीति मन्यते । शास्त्रसिद्धान्तस्तु न्यायसमाख्यात-
मनुमतं बहुशाखमनुमानमिति ॥ १८ ॥

अथापि खल्विदमस्ति इदं नास्तीति कुत एतत् प्रतिपत्तव्य-
मिति ? प्रमाणत उपलब्धेरनुपलब्धेरेति । अविद्यमानस्तर्हि
शब्दः ?—

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ १९ ॥

प्रागुच्चारणाच्चास्ति शब्दः । कस्मात् ?—अनुपलब्धेः । सतो-
ऽनुपलब्धिरावरणादिभ्यः, एतन्नोपपद्यते । कस्मात् ?—आवरणा-
दोनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात् । “अनेनाऽऽवृतः शब्दो
नोपलभ्यते, असन्निकृष्टेन्द्रियव्यवधानात्” इत्येवमादि अनुप-
लब्धिकारणं न गृह्यत इति सोऽयमनुच्चारितो नास्तीति ।
उच्चारणमस्य व्यञ्जकं, तदभावात् प्रागुच्चारणादनुपलब्धिरिति ।
किमिदमुच्चारणं नामेति ? विवक्षाजनितेन प्रयत्नेन कोष्ठस्य
वायोः प्रेरितस्य कण्ठतात्त्वादिप्रतिघातः, यथास्थानं प्रति-
घाताद्वर्णाभिव्यक्तिरिति । संयोगविशेषो वै प्रतिघातः, प्रति-
घट्टश्च संयोगस्य व्यञ्जकत्वम् ; तस्मान्न व्यञ्जकाभावादग्रहणम्,
अपि त्वभावादेवेति । सोऽयमुच्चार्यमाणः श्रूयते, श्रूयमाणश्चा-
भूत्वा भवतीति अनुमीयते, ऊर्ध्वं चोच्चारणान्न श्रूयते, स भूत्वा
न भवतीति अभावान्न श्रूयत इति । कथम् ?—आवरणाद्यनुप-
लब्धेरित्युक्तम् ; तस्मादुत्पत्तिरितिरोभावधर्मीकः शब्द इति ॥ १९ ॥

चाऽऽकाशं तादृशम् ; तादृशत्वे वा साध्यसत्त्वान्न व्यभिचारः । एवं सुखो जात इत्यादौ
सुखाद्युत्पत्तिरेव विषय इति भावः ॥ १८ ॥

न चोक्तहेतूनामप्रयोजकत्वं विपक्षबाधकसत्त्वादित्याह ।—शब्दो यदि नित्यः-
स्मात्, उच्चारणात् प्रागनुपलब्धेत, योत्रसन्निकर्षसत्त्वान्न चाव प्रतिबन्धकमस्तीत्याह,
आवरणेति ।—आवरणादेः प्रतिबन्धकस्यानुपलब्ध्या अभावनिर्णयात् । देशान्तर-

एवञ्च सति तत्त्वं पांशुभिरिवावकिरन्निदमाह,—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ २० ॥

यदनुपलम्भादावरणं नास्ति, आवरणानुपलब्धिरपि तर्ह्यनुपलम्भान्नास्तीति, तस्या अभावादप्रतिषिद्धमावरणमिति । कथं पुनर्जानीते भवान्नाऽऽवरणानुपलब्धिरुपलभ्यत इति ? किमत्र ज्ञेयं, प्रत्यात्मवेदनोद्यत्वात् समानम् । अयं खल्व्वावरणमनुपलभमानः प्रत्यात्ममेव संवेदयते, नाऽऽवरणमुपलम्भ इति । यथा कुड्येनाऽऽहतस्याऽऽवरणमुपलभमानः प्रत्यात्ममेव संवेदयते, सेयमावरणोपलब्धिवदावरणानुपलब्धिरपि संवेद्यैवेति । एवञ्च सत्यपहतविषयमुत्तरवाक्यमस्तीति ॥ २० ॥

अभ्यनुज्ञावादेन तूच्यते जातिवादिना ।—

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसङ्गाववन्नाऽऽवरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ २१ ॥

यथाऽनुपलभ्यमानाऽप्यावरणानुपलब्धिरस्ति, एवमनुपलभ्यमानमप्यावरणमस्तीति । यद्यभ्यनुजानाति भवाननुपलभ्यमानाऽप्यावरणानुपलब्धिरस्ति, एवमनुपलभ्यमानमप्यावरणमस्तीति । यद्यभ्यनुजानाति न चानुपलभ्यमाना नाऽऽवरणानुपलब्धिरस्तीति, अभ्यनुज्ञाय च वदति, नास्त्यावरणमनुपलम्भादिति । एतस्मिन्नप्यभ्यनुज्ञावादे प्रतिपत्तिनियमो नोपपद्यत इति ॥ २१ ॥

गमनन्तु शब्दस्यामूर्तत्वात् सम्भाव्यते । अतीन्द्रियानन्तप्रतिबन्धकत्वकल्पनामपेक्ष्य शब्दानित्यत्वकल्पनैव लघीयसीति भावः ॥ १८ ॥

भान्तस्य पूर्वपक्षपरं सूत्रद्वयम् ।—यथा त्वया आवरणस्यानुपलब्ध्या अभाव इत्युच्यते, तथा आवरणानुपलब्धेरनुपलम्भात् तदभाव आवरणोपलब्धिरेव स्यात् । यदि वा आवरणानुपलब्धेरनुपलम्भेऽपि नाऽऽवरणानुपलब्धेरभावः, तदा आवरणस्यानुपलम्भादपि नाऽऽवरणस्यानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥

अनुपलम्भाऽऽत्मकत्वादनूपलब्धेरहेतुः ॥ २२ ॥

यदुपलभ्यते, तदस्ति, यन्नोपलभ्यते, तन्नास्तीति ।
अनुपलम्भाऽऽत्मकमसदिति व्यवस्थितम् । उपलब्धभावश्चानुप-
लब्धिरिति । सेयमभावत्वान्नोपलभ्यते; सच्च स्वरूपावरणं
तस्योपलब्ध्या भवितव्यम्; न चोपलभ्यते, तस्मान्नास्तीति । तत्र
यदुक्तं,—“नाऽऽवरणानुपपत्तिरनुपलम्भात्” इत्ययुक्तमिति ॥ २२ ॥

अथ शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिजानानः कस्माद्धेतोः प्रतिजानीते ?—

अस्पर्शत्वात् ॥ २३ ॥

अस्पर्शमाकाशं नित्यं दृष्टमिति, तथा च शब्द इति ॥ २३ ॥

सोऽयमुभयतः सव्यभिचारः, स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यः, अस्पर्शश्च
कर्मानित्यं दृष्टम् । अस्पर्शत्वादित्येतस्य साध्यसाधर्म्येणोदा-
हरणम् ।—

न कर्मानित्यत्वात् ॥ २४ ॥

साध्यवैधर्म्येणोदाहरणम्,—

नाणुर्नित्यत्वात् ॥ २५ ॥

उभयस्मिन्नुदाहरणे व्यभिचारान्न हेतुः ॥ २५ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।—आवरणानुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपलब्धिरिति नाल्युत्तरम्
अहेतुः । न सम्यतप्रतिषेधसाधनम् । अनुपलब्धेरआवरणानुपलब्धेः, अनुपलम्भाऽऽत्मकत्वा-
दुपलम्भाभावाऽऽत्मकत्वात्, तस्य च मनसैव सुग्रहत्वात् तदनुपलब्धिरसिद्धेति
भावः ॥ २२ ॥

सम्यतिपक्षमाशङ्कते ।—शब्दो नित्यः अस्पर्शत्वाद्भगवदिति भावः ॥ २३ ॥

न सम्यतिपक्षः, त्वदौयहेतोरनैकान्तिकत्वादित्याह ।—अस्पर्शत्वं न शब्दनित्यत्व
साधकं, कर्मणि व्यभिचारात् ॥ २४ ॥

अनैकान्तिकमपि साधकं स्यादवाऽऽह ।—अनैकान्तिकस्य साधकत्वेऽणोः पर-
माणोः, नित्यत्वं न स्यात्, रूपवत्त्वादिना तवानित्यत्वानुमानाऽऽपत्तेरित्यर्थः ॥ २५ ॥

अयं तद्दि हेतुः,—

सम्प्रदानात् ॥ २६ ॥

सम्प्रदीयमानमवस्थितं दृष्टं, सम्प्रदीयते च शब्द
आचार्य्यणान्तेवासिने ; तस्मादवस्थित इति ॥ २६ ॥

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ २७ ॥

येन सम्प्रदीयते, यस्मै च, तयोरन्तरालेऽवस्थानमस्य केन
लिङ्गेनोपलभ्यते ? सम्प्रदीयमानो ह्यवस्थितः सम्प्रदातुरपैति,
सम्प्रदानञ्च प्राप्नोतीत्यवर्जनीयमेतत् ॥ २७ ॥

अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

अध्यापनं लिङ्गम्, असति सम्प्रदानेऽध्यापनं न
स्यादिति ॥ २८ ॥

ब्रूते ।—गुरुणा शिष्याय विद्यायाः सम्प्रदानात्, तथा च शब्दस्य प्राक् सत्त्वं
सिद्धम् ; तथा च,—“तावत्कालं स्थिरं चेन्न कः पश्चाद्वाश्रयिष्यति” इति न्यायान्नित्यत्व-
मर्थसिद्धमिति भावः ॥ २६ ॥

सिद्धान्तसूचम् ।—श्रिष्ये उपसन्ने गुरुरध्यापयति, यदि च ब्रूदो नित्यः स्यात्, तदा
शिष्याऽऽगमनानन्तरमध्यापनात् पूर्वमपि शब्द उपलभ्येत्यनुपलब्ध्या च नास्ति शब्द-
इत्यतस्त्वदुक्तो न हेतुः ॥ २७ ॥

पूर्वपक्षसूत्रम् ।—मदीयहेतोः प्रतिषेधो न युक्तः ; कुतः ?—अध्यापनात् । यदि
अन्तरालकाले शब्दो न स्यात्, कथमध्यापनं घटितं ? अनुपलब्धिसु शब्दस्य कण्ठताला-
द्यभिघातरूपव्यञ्जकाभावादुपपद्यत इति भावः । आचार्यास्तु सूत्रद्वयमेवं प्रवचन्ते,—
विभक्तिव्यत्यासादहेतोस्तदनन्तरालानुपलब्धिरर्थस्तथा च हेतोः स्वत्वस्याभावान्
तदन्तरालस्य स्वत्वध्वंसस्यानुपलब्धिः, अतो न दानमित्यर्थः । प्रतिषेधो न
युक्तः । न हि दानं ममाभिप्रेतं, किन्त्वध्यापनम् ; तच्च विद्यमानस्य शब्दस्यैवेति
भावः ॥ २८ ॥

उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

समानमध्यापनमुभयोः पक्षयोः, संशयानतिवृत्तेः ;
किमाचार्यस्यः शब्दोऽन्तेवासिनमापद्यते, तदध्यापनम् ?
आहोस्त्रिभृत्योपदेशवदगृहीतस्यानुकरणमध्यापनामिति ? एवं
मध्यापनमलिङ्गं सम्प्रदानस्येति ॥ २९ ॥

अयं तर्हि हेतुः,—

अभ्यासात् ॥ ३० ॥

अभ्यस्यमानमवस्थितं दृष्टम् ; पञ्चकत्वः पश्यतीति, रूप-
मवस्थितं पुनः पुनर्दृश्यते । भवति च शब्दोऽभ्यासः, दशकत्वो-
ऽधौतोऽनुवाको विंशतिकत्वोऽधौत इति ; तस्मादवस्थितस्य
पुनः पुनरुच्चारणमभ्यास इति ॥ ३० ॥

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ ३१ ॥

अनवस्थानेऽप्यभ्यासस्याभिधानं भवति, द्विनृत्यतु भवान्,
त्रिनृत्यतु भवानिति, द्विरनृत्यतु, त्रिरनृत्यतु, द्विरग्निहोत्रं
जुहोति, द्विर्भुङ्क्ते, एवं व्यभिचारात् प्रतिषिद्धहेतौ (क)
अन्यशब्दस्य प्रयोगः प्रतिषिध्यते ॥ ३१ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।—अन्यतरस्य पक्षस्यानित्यत्वाच्चकस्याध्यापनाद्यः प्रतिषेधः,
स न सम्भवति । उभयोः पक्षयोः, अध्यापनस्य समानत्वादिति शेषः । अध्यापनं हि
बुद्ध्युच्चारणानुच्चारणं, शिष्योच्चारणानुकूलोच्चारणं वा ; तच्च स्थैर्यस्थैर्यपक्षयोस्तुल्यम् ।
न शब्दनित्यतायाः साहायकं विधातुमर्हं, न ह्यध्यापनं दानं, येन स्व-स्वत्वध्वंसपर-
स्वत्वाऽऽपादनार्थं तस्य स्थैर्यमाशङ्कनीयम् । न वा दानं सम्भवति । बह्वनामेकदा स्वत्व-
विरोधात् परस्वदानासम्भावना । अपि तु नृत्याध्यापनादाविवोपदेशमावमिति भावः ॥ २९ ॥

पूर्वपक्षमूलम् ।—यदि स्थिरं, तदभ्यस्यमानं दृष्टम् ; यथा,—दशकत्वो रूपं
अश्नति ; एवं शतकत्वोऽनुवाकमधौत इत्यभ्यासात् स्थैर्यं शब्दस्येति भावः ॥ ३० ॥

उत्तरयति ।—पूर्वपक्षो न युक्तः । कुतः ?—अन्यत्वे भेदेऽपि शब्दानाम्

(क) अथ षष्ठीसमासः ।

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ॥ ३२ ॥

यदिदमन्यदिति मन्यसे, तत् स्वार्थनानन्यत्वादन्यन्न
भवति ; एवमन्यताया अभावः । तत्र यदुक्तम्,—“अन्यत्वे-
ऽप्यभ्यासस्योपचारात्” इति, एतदयुक्तमिति ॥ ३२ ॥

शब्दप्रयोगं प्रतिषेधतः शब्दान्तरप्रयोगः प्रतिषिध्यते ।—

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्ष-
सिद्धेः ॥ ३३ ॥

अन्यस्मादनन्यतामुपपादयति भवान्, उपपाद्य चान्यत्
प्रत्याचष्टे, अनन्यदिति च शब्दमनुजानाति, प्रयुङ्क्ते चानन्य-
दिति । एतत् समासपदम्, अन्यशब्दोऽयं प्रतिषेधेन सह
समस्यते । यदि चात्रोत्तरं पदं नास्ति, कस्यायं प्रतिषेधेन सह
समासः ? तस्मात् तयोरनन्यान्यशब्दयोरितरोऽनन्यशब्दः
इतरमन्यशब्दमपेक्षमाणः सिध्यतीति । तत्र यदुक्तम्,—
“अन्यताया अभावः” इति, एतदयुक्तमिति ॥ ३३ ॥

अस्तु तर्हीदानीं शब्दस्य नित्यत्वम् ?—

विनाशकारणानुपलब्धेः ॥ ३४ ॥

यदनित्यं, तस्य विनाशः कारणाद्भवति ; यथा,—लोष्टस्य

अध्वयनाभ्यासस्य उपचारात् सम्भवात्, न ह्यभ्यासः स्वैर्यं साधयति, विजृम्भोति
विनृत्यतौत्यादौ भेदेऽप्यभ्यासदर्शनादिति भावः ॥ ३१ ॥

अन्यतैव जगति नास्तीति कथमन्यत्वेऽप्यभ्यासोपपत्तिः ? इति तटस्थ आशङ्कते ।—
यदन्यस्मादनन्यदुच्यते, तत् स्वस्मादनन्यादभिन्नम् ; तत्कथमन्यभेदाभेदयोर्विरोधादिति
भावः । स्वाभेदस्याऽऽवश्यकत्वमिति हृदयम् ॥ ३२ ॥

समाधत्ते ।—तदभावेऽन्यत्वस्याभावे, अनन्यताऽपि नास्ति, तयोर्भेदाभेदयोः, सिद्धे-
परस्परसापेक्षत्वात्, वस्तुतस्तु तयोर्मध्य इतरस्य एकतरस्य अनन्यत्वस्य, इतरापेक्षसिद्धेः
इतरत्वस्य भेदस्य ज्ञानापेक्षासिद्धिर्यस्य तादृशत्वादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

कारणद्रव्यविभागात् । शब्दश्चेदनित्यः, तस्य विनाशो यस्मात्
कारणाद्भवति, तदुपलभ्येत; न चोपलभ्यते, तस्मान्नित्य
इति ॥ ३४ ॥

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ॥ ३५ ॥

यथा विनाशकारणानुपलब्धेरविनाशप्रसङ्गः, एवमश्रवण-
कारणानुपलब्धेः सततं श्रवणप्रसङ्गः । व्यञ्जकाभावादश्रवणमिति
चेत् ? प्रतिषिद्धं व्यञ्जकम् । अथ विद्यमानस्य निर्निमित्तम-
श्रवणमिति, विद्यमानस्य निर्निमित्तो विनाश इति ; समानश्च
दृष्टविरोधो निमित्तमन्तरेण विनाशे चाश्रवणे चेति ॥ ३५ ॥

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥ ३६ ॥

अनुमानाच्चोपलभ्यमाने शब्दस्य विनाशकारणे विनाश-
कारणानुपलब्धेरसत्त्वादित्यनपदेशः । यस्माद्विषाणी, तस्मा-
दश्च इति । किमनुमानमिति चेत् सन्तानोपपत्तिः, उपपादितः
शब्दसन्तानः, संयोगविभागजाच्छब्दाच्छब्दान्तरम्; ततोऽप्यन्यत्
ततोऽप्यन्यदिति । तत्र कार्यः शब्दः कारणशब्दं निरूपयति,
प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्त्वन्यस्य । शब्दस्य निरोधकः । दृष्टं हि
तिरःप्रतिकुड्यमन्तिकस्थेनाप्यश्रवणं शब्दस्य, श्रवणञ्च दूरस्थेनाप्य-
सति व्यवधान इति । घण्टायामभिहन्यमानायां तारस्तार-
तरो मन्दो मन्दतर इति श्रुतिभेदान्नानाशब्दसन्तानोऽविच्छेदेन
श्रूयते, तन्न नित्ये शब्दे । घण्टास्थमन्यगतं वाऽवस्थितं
सन्तानवृत्त्यभिव्यक्तिकारणं वाच्यं, येन श्रुतिसन्तानो भवतीति ।

शङ्कते ।—शब्दो नित्य इत्यादि ॥ ३४ ॥

अनुपलब्धिरप्रत्यक्षमज्ञानं वा । आद्ये प्रतिबन्दीमाह ।—यद्यप्रत्यक्षत्वादभावसिद्धिः,
तदा श्रवणकारणस्याप्रत्यक्षत्वादश्रवणं न स्यादिति सततश्रवणप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

द्वितीये त्वाह ।—अनुमानादिना उपलभ्यमाने विनाशकारणे अनुपलब्धेः

शब्दभेदश्चासति श्रुतिभेद उपपादयितव्य इति । अनित्ये तु शब्दे घण्टास्थं सन्तानवृत्तिं संयोगसहकारि निमित्तान्तरं संस्कारभूतं पटु मन्दमिति वर्त्तते, तस्यानुवृत्त्या शब्दसन्तानानुवृत्तिः । पटु-मन्दभावाच्च तीव्रमन्दता शब्दस्य, तत्कृतश्च श्रुतिभेद इति ॥३६॥

न वै निमित्तान्तरं संस्कार उपलभ्यते, अनुपलब्धे-
र्नास्तीति चेत् ?—

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ॥ ३७॥

पाणिकर्मणा पाणिघण्टाप्रश्लेषो भवति, तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोपलभ्यते, अतः श्रवणानुपपत्तिः । तत्र प्रति-
घातिद्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमित्तान्तरं संस्कारभूतं निरुणद्धी-
त्यनुमीयते । तस्य च निरोधाच्छब्दसन्तानो नोत्पद्यते ; अनु-
त्पत्तौ श्रुतिविच्छेदः । यथा,—प्रतिघातिद्रव्यसंयोगादिषोः
क्रियाहेतौ संस्कारे निरुद्धे गमनाभाव इति, कम्पसन्तानस्य
स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यस्य चोपरमः कांस्यपात्रादिषु, पाणिप्रश्लेषो
लिङ्गं संस्कारसन्तानस्येति । तस्मान्निमित्तान्तरस्य संस्कारभूतस्य
नानुपलब्धिरिति ॥ ३७ ॥

अभावात् तदीयो हेतुरनपदेशः असाधकः, असिद्धत्वात् । जन्यभावत्वेन
विनाशकल्पनमिति भावः ॥ ३६ ॥

सिद्धान्तिनः सूत्रान्तरम् ।—शब्दायमाने कांस्यादौ पाणिरूपनिमित्तस्य
प्रश्लेषात् संयोगाच्छब्दाभावे उपलभ्यमाने शब्दाभावकारणस्य नानुपलब्धिरिति ।
यथाश्रुतानुयायिनः परे तु पाणिरूपनिमित्तस्य प्रश्लेषः सम्बन्धी यत्र स पाणिजः
शब्दः अथात् उत्तरशब्दः ततः, शब्दाभावे शब्दध्वंसे सति, न विनाशकारणानुप-
लब्धिरित्यर्थ इत्याहुः । अन्ये तु पूर्वमूले शब्दस्य तावद्देशाऽऽत्मकः संस्कारविशेषो हेतुस्तस्य
तीव्रतीव्रतरमन्दमन्दतरत्वाच्छब्दोऽपि तादृशः । तत्र चीत्तरोत्तरशब्दानां पूर्वपूर्व-
शब्दनाशकत्वं कल्पित इत्यर्थः । ननु तादृशसंस्कार एव नास्तीत्यत्राऽऽह, पाणीति ।—
नानुपलब्धिः, संस्कारस्येति शेषः । पाणिनिमित्तस्य प्रश्लेषात् घण्टादिसंयोगात्, संस्कार-
रूपकारणाभावद्वारा शब्दाभावे शब्दानुत्पत्तौ, नानुपलब्धः संस्कारस्येत्यर्थ इत्याहुः ॥३७॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व-
प्रसङ्गः ॥ ३८ ॥

यदि यस्य विनाशकारणं नोपलभ्यते, तदवतिष्ठते, अव-
स्थानाच्च तस्य नित्यत्वं प्रसज्यते । एवं यानि खल्विमानि
शब्दश्रवणानि शब्दाभिव्यक्तय इति मतं, न तेषां विनाश-
कारणं भवतोपपाद्यते ; अनुपपादनादवस्थानम्, अवस्थानात्
तेषां नित्यत्वं प्रसज्यत इति । अथ मैवम् ; तर्हि न विनाशकार-
णानुपलब्धेः शब्दस्यावस्थानान्नित्यत्वमिति ॥ ३८ ॥

कम्पसमानाऽऽश्रयस्य चानुनादस्य पाणिप्रक्षेपात् कम्पवत्
कारणोपरमादभावः, वैयधिकरण्ये हि प्रतिघातिद्रव्यप्रक्षेपात्
समानाधिकरणस्यैवोपरमः स्यादिति,—

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ ३९ ॥

यदिदमाकाशगुणः शब्द इति प्रतिषिध्यते, अयमनुपपन्नः
प्रतिषेधः, अस्पर्शत्वाच्छब्दाऽऽश्रयस्य, रूपादिसमानदेशस्याग्रहणे
शब्दसन्तानोपपत्तेरस्पर्शव्यापिद्रव्याऽऽश्रयः शब्द इति ज्ञायते, न
कम्पसमानाऽऽश्रय इति ॥ ३९ ॥

प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह सन्निविष्टः शब्दः समानदेशो
व्यज्यत इति नोपपद्यते ; कथम् ?—

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ४० ॥

सन्तानोपपत्तेश्चेति चार्थः, तद्व्याख्यातम् । यदि रूपादयः
शब्दाश्च प्रतिद्रव्यं समस्ताः समुदिताः, तस्मिन् समासे समुदाये

ननु घटादिपाणिसंयोगस्य शब्दनिवर्त्तकत्वे घटाद्याश्रय एव शब्दः स्यादित्या-
शङ्क्यानाह ।—उक्तः प्रतिषेधो न सम्भवति, अस्पर्शत्वात्, शब्दाऽऽश्रयस्येति शेषः ।
शब्दो हि न स्पर्शवर्तिषिषगुणः, अग्निसंयोगासमवायिकारणकलाभाववदकारणं,
अुचपूर्वककार्यत्वादित्याश्रयः ॥ ३९ ॥

यो यथाजातीयकः सन्निविष्टः, तस्य तथाजातीयस्यैव ग्रहणेन भवितव्यम् ; शब्दे रूपादिवत् । तत्र योऽयं विभाग एकद्रव्ये नाना-
रूपा भिन्नश्रुतयो विधर्माणः शब्दा अभिव्यज्यमानाः श्रूयन्ते, यच्च
विभागान्तरं सरूपाः समानश्रुतयः सधर्माणः शब्दास्तीव्रमन्द-
धर्मातया भिन्नाः श्रूयन्ते, तदुभयं नोपपद्यते । नानाभूताना-
मुत्पद्यमानानामयं धर्मः, नैकस्य व्यज्यमानस्येति । अस्ति चायं
विभागो विभागान्तरश्च, तेन विभागोपपत्तेर्मन्यामहे, न प्रतिद्रव्यं
रूपादिभिः सह शब्दः सन्निविष्टो व्यज्यत इति ॥ ४० ॥

द्विविधश्चायं शब्दो वर्णाऽऽत्मको ध्वनिमात्रश्च, तत्र वर्णा-
ऽऽत्मनि तावत्,—

विकाराऽऽदेशोपदेशात् संशयः ॥ ४१ ॥

दध्यत्रेति केचिदिकार इत्वं हित्वा यत्वमापद्यते इति
विकारं मन्यन्ते । केचिदिकारस्य प्रयोगे विषयकृते यदिकारः
स्थानं जहाति, तत्र यकारस्य प्रयोगं ब्रुवते । संहितायां
विषये इकारो न प्रयुज्यते, तस्य स्थाने यकारः प्रयुज्यते, स
आदेश इति । उभयमिदमुपदिश्यते, तत्र न ज्ञायते किं तत्त्वम् ?
इति । आदेशोपदेशस्तत्त्वम् । * विकारोपदेशे ह्यन्वयस्या-
ग्रहणादिकाराननुमानम् * सत्यन्वये किञ्चिन्निवर्तते, किञ्चिदुप-

एतदेव व्युत्पादयितुमाह ।—समासे स्पर्शादिसमुदाये, साहित्येन शब्दो वर्तत
इति न युक्तम् ; विभक्त्यन्तरस्य विभागान्तरस्य तारमन्दादेः, उपपत्तेः । अयमर्थः,—
एककिमेव शब्दादौ तारमन्दादि नानाशब्दा जायन्ते, गन्वाऽऽद्यस्तु विनाऽपिसंयोगे
न परावर्तन्ते इति भावः ॥ ४० ॥

समाप्तं शब्दानित्यत्वप्रकरणम् ।

प्रसङ्गाच्छब्दपरिणामवादं दूषयितुं संशयं प्रदर्शयति ।—“इको यणचि” इत्यादिना
इकारादेर्विकारो यकारादिरिति केचित् सारं वा व्याचक्षते, परे तु इकारे प्रयोक्तव्ये
इकारः प्रयोक्तव्य इत्यादेशमादिशन्ति ; अवयव वर्णा विकारिणो न वेति संशयः ।

जायत इति शक्येत विकारोऽनुमातुं, न चान्वयो गृह्यते, तस्माद्विकारो नास्तीति । * भिन्नकरणयोश्च वर्णयोरप्रयोगे प्रयोगोपपत्तिः । * विवृतकरण इकारः, ईषत्स्पृष्टकरणो यकारः । ताविमौ पृथक् करणाऽऽख्येन प्रयत्नेनोच्चारणीयौ, तयोरैकस्या-प्रयोगेऽन्यतरस्य प्रयोग उपपन्न इति । * अविकारे चाविशेषः । * यत्नेमाविकारयकारौ न विकारभूतौ,—यतते यच्छ्रुति प्रायंस्त इति, इकार इदमिति । यत्र च विकारभूतौ,—इष्टा दध्याहरेति । उभयत्र प्रयोक्तुरविशेषो यत्नः, श्रोतुश्च श्रुतिरित्यादेशोपपत्तिः । * प्रयुज्यमानाग्रहणाच्च * न खल्विकारः प्रयुज्यमानो यकारता-मापद्यमानो गृह्यते ; किं तर्हि ?—इकारस्य प्रयोगे यकारः प्रयुज्यते, तस्माद्विकार इति । * अविकारे च न शब्दान्वा-स्थानलोपः, न विक्रियन्ते वर्णा इति । * न चैतस्मिन् पक्षे शब्दान्वास्थानस्यासम्भवः, येन वर्णविकारं प्रतिपद्येमहीति । न खलु वर्णस्य वर्णान्तरं कार्यं, न हीकाराद् यकार उत्पद्यते, यकारादिकारः । पृथक्स्थानप्रयत्नोत्पाद्या हीमे वर्णास्तेषा-मन्योऽन्यस्य स्थाने प्रयुज्यत इति युक्तम् । एतावच्चैतत्, परि-णामो विकारः स्यात्, कार्यकारणभावो वा, उभयञ्च नास्ति । तस्मान्न सन्ति वर्णविकाराः । * वर्णसमुदायविकारानुपपत्ति-वच्च वर्णविकारानुपपत्तिः * “अस्तेर्भूः” “ब्रुवो वचिः” इति यथा वर्णसमुदायस्य धातुलक्षणस्य क्वचिद्विषये वर्णान्तर-समुदायो न परिणामो न कार्यम् ; किन्तु शब्दान्तरस्य स्थाने शब्दान्तरं प्रयुज्यते, तथा वर्णस्य वर्णान्तरमिति ॥ ४१ ॥

विकारस्य स्वरूपस्य विनाशेऽविनाशे वा द्रव्यान्तराऽऽरम्भकत्वम् ; यथा,—दुग्धादे-
र्दध्यारम्भकत्वं बीजादेर्ब्रूवाद्यारम्भकत्वञ्च । सुवर्णादेरपि लौहाघातजन्यावयव-
संयोगनाशात् अवयविनो नाशे सत्येव कुष्ठलारम्भकत्वम् ; कपालादेश्च स्वरूपविनाशेन
अटाद्यारम्भकत्वम् ॥ ४१ ॥

इतश्च न सन्ति वर्णविकाराः,—

प्रकृतिविद्वद्भौ विकारविद्वद्भेः ॥ ४२ ॥

प्रकृत्यनुविधानं विकारेषु दृष्टम् ; यकारे ऋसदीर्घानु-
विधानं नास्ति, येन विकारत्वमनुमीयत इति ॥ ४२ ॥

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ॥ ४३ ॥

द्रव्यविकारा न्यूनाः समा अधिकाश्च गृह्यन्ते, तद्वदयं
विकारो न्यूनः स्यादिति । द्विविधस्यापि हेतोरभावादसाधनं
दृष्टान्तः । अत्र नोदाहरणसाधर्म्याहेतुरस्ति, न वैधर्म्यात्,
अनुपसंहृतश्च हेतुना दृष्टान्तो न साधक इति । प्रतिदृष्टान्त
चानियमः प्रसज्येत । यथाऽनडुहः स्थानेऽखो वोढुं नियुक्तो
न तद्विकारो भवति, एवमिवर्णस्य स्थाने यकारः प्रयुक्तो न
विकार इति । न चात्र नियमहेतुरस्ति, दृष्टान्तः साधकः, न
प्रतिदृष्टान्त इति ॥ ४३ ॥

तत्र विकारनिराकरणाय सूचम् ।—न वर्णा विकारिणः, तथा सति तत्प्रकृते-
रुपादानत्वाभिमतस्य विद्वद्भा विकारस्यापि विद्वद्भापत्तेः । मण्डदत्त्वावयवा-
ऽऽरम्भावयविनी मण्डदत्त्वचवत् ऋलेकाराऽऽरम्भयकारापेक्षया दीर्घकाराऽऽरम्भयकारस्य
विद्वद्भिः सादित्यर्थः । तस्मादादेशपक्षः श्रेयानिति भावः ॥ ४२ ॥

आक्षिपति ।—उक्तो हेतुर्न युक्तः, विकाराणां प्रकृत्यपेक्षया न्यूनत्वस्य समत्व-
साधिकत्वस्य चोपपत्तेर्दशनात् । यथा तूलकपरिमाणापेक्षया तद्विकारस्तनुरल्पपरि-
माणः, यथा वा न्ययोधवोजादुत्कृष्टेन नारिकेलोबीजेन न्ययोधादस्यो नारिकेलो-
तद्वर्ज्यते । कनकादिसमपरिमाणं कटकादि च । यथा वा न्यूनाधिकनारिकेलो-
बीजाभ्यां समो वृक्षो । न्यूनपरिमाणाश्च वटबीजात् महान् वटतद्वरिति ॥ ४३ ॥

द्रव्यविकारोदाहरणञ्च,—

नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ ४४ ॥

अतुल्यानां द्रव्याणां प्रकृतिभावो विकल्पात्, विकारश्च प्रकृतोरनुविधीयते, न तु इवर्णमनुविधीयते यकारः, तस्मादनुदाहरणं द्रव्यविकार इति ॥ ४४ ॥

द्रव्यविकारे वैषम्यवद्गणविकारविकल्पः ॥ ४५ ॥

यथा द्रव्यभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारवैषम्यम्, एवं वर्णभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारविकल्प इति ॥ ४५ ॥

न विकारधर्मानुपपत्तेः ॥ ४६ ॥

अयं विकारधर्मो द्रव्यसामान्ये, यदात्मकं द्रव्यं सृष्ट्वा सुवर्णं वा, तस्याऽऽत्मनोऽन्वये पूर्वा व्यूहो निवर्तते, व्यूहान्तरञ्चोपजायते, तं विकारमाचक्ष्महे । न वर्णसामान्ये कश्चिच्छब्दाऽऽत्माऽन्वयौ, य इत्वं जहाति, यत्त्वञ्चाऽपद्यते, तत्र यथा सति द्रव्यभावे विकारवैषम्ये नानङ्गोऽङ्गो विकारो विकारधर्मानुपपत्तेः, एवमिवर्णस्य न यकारो विकारो विकारधर्मानुपपत्तेरिति ॥ ४६ ॥

समाधत्ते ।—नोक्तं समाधानं युक्तम् । अतुल्यप्रकृतीनां भिन्नप्रकृतीनां, हि विकाराणां विकल्पः वैलक्षण्यं, मयाऽभिहितम् ; न हि बीजादेर्कासहस्रादिना वृक्षादेः कासहस्रादिकम् । प्रकृतान्मदुक्तवैलक्षण्यं नु तदाप्यस्ति, तथा च तदुक्तमुपचार-
च्छलमिति भावः ॥ ४४ ॥

शङ्कते ।—द्रव्यत्वेन न्ययोधादिप्रकृतीनां तुल्यत्वेऽपि विकारवैषम्यं यथा, एवमेव वर्णत्वेनातुल्ययोरपि कृत्स्नदीर्घयोर्यो विकारो यकारस्तस्य अविकल्प एकद्वयं नानुपपन्नमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

समाधत्ते ।—नाव द्रव्यविकारतुल्यता, विकाराणां हि अयं धर्मो प्रकृत्यनुविधानं, ज्ञेये भेद इति । प्रकृते तदनुपपत्तिः । कृत्स्नदीर्घत्वादिना प्रकृतिभेदेऽपि क्वाप्यभेदाभावात् ॥ ४६ ॥

इतश्च न सन्ति वर्णविकाराः,—

विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः ॥ ४७ ॥

अनुपपन्ना पुनरापत्तिः । कथम्?—पुनरापत्तेरनुमानादिति । इकारो यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवति, न पुनरिकारस्य स्थाने यकारस्य प्रयोगोऽप्रयोगश्चेत्यनुमानं नास्ति ॥ ४७ ॥

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ४८ ॥

अननुमानादिति न । इदं ह्यनुमानम् ; सुवर्णं कुण्डलत्वं हित्वा रुचकत्वमापद्यते, रुचकत्वं हित्वा पुनः कुण्डलत्वमापद्यते ; एवमिकारोऽपि यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवतीति व्यभिचारादननुमानम् ॥ ४८ ॥

यथा पयो दधिभावमापन्नं पुनः पयो भवति किम् ? एवं वर्णानां न पुनरापत्तिः । अथ सुवर्णवत्युनरापत्तिरिति । सुवर्णोदाहरणोपपत्तिश्च न.—

तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् ॥ ४९ ॥

अवस्थितं सुवर्णं ह्रीयमानेनोपजायमानेन धर्मेण धर्मि भवति, नैवं कश्चिच्छब्दाऽऽत्मा ह्रीयमानेनेत्येनोपजायमानेन यत्वेन धर्मी गृह्यते । तस्मात् सुवर्णोदाहरणं नोपपद्यत इति ॥ ४९ ॥

इतश्च न विकार इत्याह ।—विकारप्राप्तस्य न पुनः प्रकृतिरूपता दृष्टा, न खलु दधि क्षीरतां पुनरापद्यते, इकारस्तु यकारतां प्राप्तः पुनरिकारतामापद्यते, दध्यत्रेत्युक्ता पुनरपि दधि अत्रेत्युच्यत एवेति भावः ॥ ४७ ॥

आक्षिपति ।—उक्तो हेतुर्न युक्तः, सुवर्णादिकं हि कटकौभावं विहाय कुण्डलतामापन्नं पुनः कटकतामापद्यत एवेति भावः ॥ ४८ ॥

निराकरोति ।—सुवर्णविकारस्यै हि सुवर्णत्वादिना प्रकृतिता, न तु कटक-

वर्णत्वाव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥ ५० ॥

वर्णविकारा अपि वर्णत्वं न व्यभिचरन्ति,—यथा सुवर्ण-
विकारः सुवर्णत्वमिति ॥ ५० ॥

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य ॥ ५१ ॥

कुण्डलरुचकौ सुवर्णस्य धर्मौ, न सुवर्णत्वस्य, एवमिकार-
यकारौ कस्य वर्णाऽऽत्मनो धर्मौ । वर्णत्वं सामान्यं, न तस्येमी
वर्णौ भवितुमर्हतः ; न च निवर्त्तमानो धर्म उपजायमानस्य
प्रकृतिः, तत्र निवर्त्तमान इकारो न यकारस्योपजायमानस्य
प्रकृतिरिति ॥ ५१ ॥

इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः,—

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ५२ ॥

नित्या वर्णा इत्येतस्मिन् पक्षे इकारयकारौ वर्णौ, इत्यु-
भयोर्नित्यत्वाद्विकारानुपपत्तिः । नित्यत्वेऽविनाशित्वात् कः
कस्य विकारः ? इति । अथानित्या वर्णा इति पक्षः, एवमप्यनव-
स्थानं वर्णानाम् । किमिदमनवस्थानं वर्णानाम् ? उत्पद्य
निरोधः । उत्पद्य निरुद्धे इकारे यकार उत्पद्यते, यकारे चोत्पद्य
निरुद्धे इकार उत्पद्यते, इति कः कस्य विकारः । तदेतदव-
गृह्य सन्धाने सन्धाय चावग्रहे वेदितव्यमिति ॥ ५२ ॥

त्वादिना ; तत्रोभयमपि सुवर्णभावं न जहाति, यदि हि सुवर्णतानपचाय कटकता-
नापन्नस्य पुनः सुवर्णता भवेत्, तदा व्यभिचारः शक्येत, न चैवम् ; प्रकृते तु
इकारतां हिला यकारतां प्रातस्यापीकारताऽऽपत्तिरस्येति दोषो दुष्परिहर इति
भावः ॥ ४९ ॥

अविकारे मूलयुक्तिमाह ।—वर्णानां नित्यत्वे विकारासम्भवादनित्यत्वे चाचिर-
स्थायित्वेनेकारप्रत्यक्षानन्तरमिकारनाशाद्विकारानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

नित्यपक्षे तु तावत्समाधिः ।—

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्ण-
विकाराणामप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

नित्या वर्णा न विक्रियन्त इति विप्रतिषेधः । यथा
नित्यत्वे सति किञ्चिदतीन्द्रियं, किञ्चिदिन्द्रियग्राह्यम् ;
इन्द्रियग्राह्याश्च वर्णाः । एवं नित्यत्वे सति किञ्चिन्न विक्रियते,
वर्णास्तु विक्रियन्त इति । * विरोधादहेतुस्तद्धर्मविकल्पः । *
नित्यं नोपजायते, नापैति, अनुपजनापायधर्मकम् ।
अनित्यं पुनरुपजनापाययुक्तम् । न चान्तरेणोपजनापायो
विकारः सम्भवति । तद्यदि वर्णा विक्रियन्ते, नित्यत्वमेषां
निवर्तते, अथ नित्याः, विकारधर्मत्वमेषां निवर्तते । सोऽयं
विरुद्धो हेत्वाभासो धर्मविकल्प इति ॥ ५३ ॥

अनित्यपक्षे समाधिः ।—

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विका-
रोपपत्तिः ॥ ५४ ॥

यथाऽनवस्थायिनां वर्णानां अवनं भवति, एवमेषां विकारो
भवतीति । * असम्बन्धादसमर्था अर्थप्रतिप्रादिका वर्णोपलब्धिर्न *
विकारेण सम्बन्धादसमर्था, या गृह्यमाणा वर्णविकार-
मनुपपादयेदिति । तत्र यादृगिदं गन्धगुणा पृथिवी, एवं
शब्दसुखादिगुणाऽपीति, तादृगीतवतीति । न च वर्णोप-

अत्र विकारवादी नित्यत्वमतमालम्बा परिहरति ।—विकाराणां प्रतिषेधो न
युक्तः, नित्यानां धर्मविकल्पाद्धर्मस्य नानाविधत्वादतीन्द्रियत्वम् ; विकारैरेन्द्रियकत्वं
समुच्चयते ; यथा हि नित्यानामाकाशादीनामतीन्द्रियत्वम्, ऐन्द्रियकत्वेऽपि
कीलादीनां नित्यत्वम्, एवमन्येषां नित्यानामविकारित्वेऽपि वर्णानां विकारित्वं
स्मादिति ॥ ५३ ॥

लब्धिर्वर्णनिवृत्तौ वर्णान्तरप्रयोगस्य निर्वर्त्तिका, योऽयमि-
वर्णनिवृत्तौ यकारस्य प्रयोगः, यद्ययं वर्णोपलब्ध्या निर्वर्त्तत,
तदा तत्रोपलभमान इवर्णो यत्वमापद्यत इति गृह्येत ।
तस्माद्वर्णोपलब्धिरेतुर्वर्णविकारस्येति ॥ ५४ ॥

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे
विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

तद्धर्मविकल्पादिति न युक्तः प्रतिषेधः । न खलु विकार-
धर्मकं किञ्चित् नित्यमुपलभ्यत इति । वर्णोपलब्धिवदिति न
युक्तः प्रतिषेधः । अवयवे हि दधि अदेति प्रयुज्य चिरं स्थित्वा
ततः संहितायां प्रयुङ्क्ते दध्यतेति, चिरनिवृत्ते चायमिवर्णं
यकारः प्रयुज्यमानः कस्य विकार इति प्रतीयते ? कारणाभावात्
कार्याभाव इत्यनुयोगः प्रसज्यत इति ॥ ५५ ॥

इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः ।—

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ॥ ५६ ॥

इकारस्थाने यकारः श्रूयते, दध्यत । यकारस्थाने खल्वि-
कारो विधीयते, विध्यति । तद् यदि स्यात् प्रकृतिविकारभावो

अनित्यत्वमालम्ब्य स आह ।—अनवस्थायित्वेऽपि वर्णानां यथा प्रत्यक्षं भवति,
एवं विकारोऽपि स्यादिति भावः ॥ ५४ ॥

उभयमीत्तरयति ।—उक्तः प्रतिषेधो न युक्तः, विकारधर्मित्वे नित्यत्वासम्भवात् ।
विकारो ह्यत्र स्वरूपपरित्यागेन रूपान्तराऽऽपत्तिः । तथात्वे च नित्यत्वविरोधात् ।
न हि घटादेः कपालाद्युपादेशत्ववत् प्रकृते सम्भवति, यकारकाले इकारानुपलब्धेः ।
अनित्यत्वपक्षेऽपि प्रतिषेधो न युक्तः, प्रत्यक्षं हि वर्णस्य द्वितीयक्षणे युज्यते, विकारस्तु
कालान्तरे यो न युज्यते, दधीति शब्दानन्तरमनेत्यादि शब्देन तस्य नाशादिति
भावः ॥ ५५ ॥

इतश्च विकारानुपपत्तिरित्याह ।—विकाराणां हि प्रकृतिनियमः, यथा क्षीरदधौः

वर्णानां, तस्य प्रकृतिनियमः स्यात् । दृष्टो विकारधर्मित्वे
प्रकृतिनियम इति ॥ ५६ ॥

अनियमे नियमान्नानियमः ॥ ५७ ॥

योऽयं प्रकृतेरनियम उक्तः, स नियतो यथाविषयं
व्यवस्थितः, नियतत्वान्नियम इति भवति, एवं सत्यनियमो
नास्ति, तत्र यदुक्तं,—“प्रकृत्यनियमात्” इत्येतदयुक्त
मिति ॥ ५७ ॥

**नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चा-
प्रतिषेधः ॥ ५८ ॥**

नियम इत्यत्रार्थाभ्यनुज्ञा, अनियम इति तस्य प्रतिषेधः,
अनुज्ञातनिषिद्धयोश्च व्याघातादनर्थान्तरत्वं न भवति । अनि-
यमश्च नियतत्वान्नियमो न भवतीति । नात्रार्थस्य तथाभावः
प्रतिषिध्यते, किं तर्हि ?—तथाभूतस्यार्थस्यानियमशब्देनाभि-
धीयमानस्य नियतत्वान्नियमशब्द एवोपपद्यते, सोऽयं नियमा-
दनियमे प्रतिषेधो न भवतीति ॥ ५८ ॥

प्रकृतिविकारभावः, न तु वैपरीत्यम् । प्रकृते तु दध्यन्नेत्यादौ इकारः यकारप्रकृतिः,
विध्वतोत्यादौ तु यकार इकारप्रकृतिरिति भावः ॥ ५६ ॥

अत्र क्लृप्तादी शङ्कते ।—अनियमो य उक्तः, स न युक्तः । कुतः ?—
अनियतत्वस्य नियमादित्यर्थः ॥ ५७ ॥

समाधत्ते ।—अनियमे नियमात् यस्त्वयाऽनियमप्रतिषेधः कृतः, स न युक्तः ।
कुतः ?—नियमानियमयोर्विरोधात् । अनियमो हि नियमाभावः, तस्मिन् सति
नियमासम्भवादिति भावः ॥ ५८ ॥

न चेयं वर्णविकारोपपत्तिः परिणामात् कार्यकारणभावाद्वा ।
किं तर्हि ?—

गुणान्तराऽऽपत्त्युपमर्दः कासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु
विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ ५६ ॥

स्थान्वादेशभावादप्रयोगे प्रयोगो विकारशब्दार्थः, स भिद्यते ;
गुणान्तराऽऽपत्तिः उदात्तस्थानुदात्तभाव इत्येवमादिः । उपमर्दो
नाम एकरूपनिवृत्तौ रूपान्तरोपजनः । कासो दीर्घस्य क्सः ।
वृद्धिर्ऋस्वस्य दीर्घः । तयोर्वा मृतः । लेशो लाघवं, स्त
इत्यस्तोर्विकारः । श्लेष आगमः प्रकृतेः प्रत्ययस्य वा । एत
एव विशेषा विकारा इति । एत एवाऽऽदेशाः, एते चेद्विकाराः,
उपपद्यन्ते तर्हि वर्णविकारा इति ॥ ५६ ॥

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ ६० ॥

यथादर्शनं विज्ञेता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति ।
विभक्तिर्द्वयी,—नामिकाख्यातिकी च, “ब्राह्मणः पचति”
इत्युदाहरणम् । उपसर्गनिपातास्तर्हि न पदसंज्ञाः, लक्षणान्तरं

तदेवं वर्णानां प्रकृतिविकारभावं निरस्य स्वपक्षे विकारव्यवहारमुपपादयति ।—
गुणव्यः पुनरर्थे, एतेभ्यः पुनर्वर्णविकारोपपत्तेर्वर्णविकारस्य एकवर्णप्रयोगे वर्णान्तर-
प्रयोगस्य उपपत्तेर्वर्णविकार इति व्यवक्रियते, तानेवाऽऽह, गुणान्तरेति ।—गुणान्तरा-
ऽऽपत्तिः,—धर्मिणि सत्येव धर्मान्तराऽऽपत्तिः, यद्योदात्तेऽनुदात्तत्वम् । उपमर्दः,—
धर्मिनिवृत्तौ धर्म्यन्तरप्रयोगः, यथाऽऽसेर्भूः । कासः,—दीर्घस्य क्सत्वम् । वृद्धिः,—
ऋत्वस्य दीर्घत्वम् । लेशः,—लघुत्वम्, यथाऽऽसेरकारलोपः । श्लेषः,—आगमः । एतैः
कारणैर्विकारव्यवहार इति ॥ ५६ ॥

समाप्तं शब्दपरिचयप्रकरणम् ।

शब्दलोके पदमन्वपदार्थोपस्थितेर्हेतुत्वात् तदुपपादनाय पदार्थं निरूपयतीत्ये
पदनादी निरूपयति ।—ते वर्णाः, विभक्त्यन्ताः पदम् । बहुलमविवक्षितम् । विभक्तेश्च
सख्यमनविवक्षितम् । विभक्तिश्च सुतिङ्कृपा । वस्तुतस्तु नेदं पदं शब्दलोकोपयोगि,

वाच्यमिति, शिष्यते च खलु नामिका विभक्तेरव्ययाक्तोपः तयोः
पदसंज्ञाऽर्थमिति । पदेनार्थसम्बन्ध इति प्रयोजनं, नामपद-
आधिक्य परीक्षा, गौरिति पदं खल्विदमुदाहरणम् ॥ ६० ॥

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्
संशयः ॥ ६१ ॥

अविनाभाववृत्तिः सन्निधिः, अविनाभावेन वर्तमानासु
व्यक्त्याकृतिजातिषु गौरिति प्रयुज्यते, तत्र न ज्ञायते, किमन्य-
तमः पदार्थः, उत सर्व इति ॥ ६१ ॥

शब्दस्य प्रयोगसामर्थ्यात् पदार्थावधारणं, तस्मात्,—

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसङ्घातद्वयपचयवर्ण-
समासानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद्व्यक्तिः ॥ ६२ ॥

व्यक्तिरेव पदार्थः । कस्मात् ?—याशब्दप्रभृतीनां व्यक्ता-
वुपचारादुपचारः प्रयोगः ; या गौस्तिष्ठति, या गौर्निषण्येति ।
नदं वाक्यं जातेरभिधायकमभेदात्, भेदात्तु द्वयाभिधायकम् ।

किन्तु इदमाकाङ्क्षारूपम् । अथवा विभक्तिवृत्तिः, अन्तः सम्बन्धः, तेन वृत्तिमत्त्वं
पदत्वमिति । इत्यत्र पदं निरूप्य तदर्थनिरूपणं सङ्गच्छते । यत्तु प्रसङ्गात् पदार्थ-
निरूपणमिति, तत्र, पदनिरूपणस्यासङ्गतत्वाऽऽपत्तेः, एकसूत्रस्य प्रकरणत्वाभावाच्च ॥ ६० ॥

तत्र पदे निरूपिते तद्व्याख्यं पदार्थत्वं निरूपितम् । तत्रापि धात्वाद्यर्थस्य
निर्दिष्टत्वाद्व्यादिपदार्थे निरूपयितुमाह ।—व्यक्तिर्गौर्वादिः, आकृतिरवयवसंस्थान-
विशेषः, जातिः गौत्वादिः, तासां सन्निधिः सामीप्यं, मेलनम् ; तत्र सति उपचारात्
ज्ञानात् । तथा च वधाणां युगपत्प्रत्ययात् किनेतासां प्रत्येकं पदार्थः ? उत
समस्तः ? इति संशय इत्यर्थः । इदं भाष्यमिति केचित् । वस्तुतस्तु दुर्बोधादिखरसात्
सूत्रमेव । “तदर्थे” इत्यंशस्तु भाष्यकृतः पूरणमिति प्रतिभाति ॥ ६१ ॥

तत्र व्यक्तिशक्तिवादिनो मतमाह ।—पदार्थ इति शेषः । उक्तानाम् उपचारात्
व्यवहारात्, अनुबन्धः प्रजननम् ; अथ गौर्जल्यतीत्यादि ; व्यवहारी व्यक्तावेक,

गवां समूह इति भेदात् द्रव्याभिधानं, न जातेरभेदात् ।
 वैयाय गां ददातीति द्रव्यस्य त्यागः, न जातेरमूर्त्तत्वात् ।
 प्रतिक्रमानुक्रमानुपपत्तेश्च । परिग्रहः स्वत्वेनाभिसम्बन्धः,
 कौण्डिन्यस्य गौर्बाह्मणस्य गौरिति । द्रव्याभिधाने द्रव्यभेदात्
 सम्बन्धभेद इति उपपन्नम् । अभिन्ना तु जातिरिति । सङ्ख्या,—
 दश गावो विंशतिर्गाव इति । भिन्नं द्रव्यं सङ्ख्यायते, न
 जातिरभेदादिति । वृद्धिः कारणवतो द्रव्यस्यावयवोपचयः,
 अवर्द्धत गौरिति । निरवयवा तु जातिरिति । एतेनापचयो
 व्याख्यातः । वर्णः,—शुक्ला गौः, कपिला गौरिति । द्रव्यस्य
 गुणयोगो न सामान्यस्य । समासः,—गोर्हितं गोःसुखमिति ।
 द्रव्यस्य सुखादियोगो न जातेरिति । अनुबन्धः सरूपप्रजनन-
 सन्तानः,—गौगां जनयतीति । तदुत्पत्तिधर्मत्वाद्व्ये युक्तं, न
 जातौ, विपर्ययादिति । द्रव्यं व्यक्तिरिति हि नार्थान्तरम् ॥ ६२ ॥

अस्य प्रतिषेधः ।—

न तदनवस्थानात् ॥ ६३ ॥

न व्यक्तिः पदार्थः । कस्मात् ?—अनवस्थानात् । याशब्द-
 प्रभृतिभिर्यो विशिष्यते, स 'गोशब्दार्थः, या गौस्तिष्ठति या
 गौर्निषस्येति न द्रव्यमात्रमविशिष्टं ज्ञात्वा विनाऽभिधीयते ; किं
 तर्हि ?—जातिविशिष्टम् ; तस्मान्न व्यक्तिः पदार्थः । एवं
 समूहादिषु द्रष्टव्यम् ॥ ६३ ॥

जात्याक्त्योरमूर्त्तत्वात् । एवं गवां समूहः, गां ददाति, गां प्रतिगृह्णाति, दश गावः,
 गोवर्द्धते, कृशा गौः, कपिला गौः, गोर्हितं, गौः प्रसूता इत्यादिव्यवहाराणां व्यक्ता-
 वेव सम्भवात् । समासः सम्यगासनं, सम्बन्धोऽनुबन्ध इत्यर्थः, गौरासी, गोर्मुख
 मित्युदाहरणीयम् ॥ ६२ ॥

तदुपपत्तिः ।—न व्यक्तौ शक्तिः, व्यक्तिमात्रस्यानवस्थानात् अव्यवस्थानात् ॥ ६३ ॥

यदि न व्यक्तिः पदार्थः, कथं तर्हि व्यक्तावुपचारः ? इति ।
निमित्तादतद्भावेऽपि तदुपचारो दृश्यते खलु ।—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्य-
योगसाधनाऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजशक्तु-
चन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुप-
चारः ॥ ६४ ॥

अतद्भावेऽपि तदुपचार इति, अतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभि-
धानमिति । सहचरणात्—यष्टिकां भोजयेति, यष्टिकासहचरितो
ब्राह्मणोऽभिधीयत इति । स्थानात्—मञ्चाः क्रोशन्तीति,
मञ्चस्थाः पुरुषा अभिधीयन्ते । तादर्थ्यात्—कटार्थेषु वीरवेषु
व्यूह्यमानेषु, कटं करोतीति । वृत्तात्—यमो राजा कुबेरो
राजेति, तद्वद्वर्त्तत इति । मानात्—आढकेन मिताः सक्तवः,
आढकसक्तव इति । धारणात्—तुलया धृतं चन्दनं,
तुलाचन्दनमिति । सामीप्यात्—गङ्गायां गावश्चरन्तीति,

व्यक्तिमात्रस्य शक्यत्वे हि, गवादिपदात् यत्किञ्चिद्व्यक्तेरुपस्थितिः स्यात्, अतो मील-
विशिष्टा व्यक्तिर्वाच्या । तथा च “नागद्वीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्यसुपसङ्गमति” इति
न्यायात् जातावेव शक्तिरस्तु ; कथं तर्हि व्यक्तिबोधः ? इत्यपि मत्तवम् । व्यक्ती चतद्भावेऽपि
तत्पदाशक्यत्वेऽपि, तदुपचारः तच्छब्दव्यपदेशः । यथा सहचरणादितो ब्राह्मणादौ
यष्ट्यादिपदप्रयोगः । सहचरणात् संयोगविशेषात्, यष्टिं भोजयेत्येव यष्टिपरब्राह्मणे
यष्टिशब्दप्रयोगः । एवं स्थानान्मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चस्थपुरुषे । तादर्थ्यात् कटं
करोतीति कटार्थकवीरवेषे ; कटस्यासिद्धत्वेन कारकत्वायोगात् । यमस्य
वृत्तादनुशासनादितः, राजति यम इति । मानात् आढकेन मिताः सक्तव
आढकसक्तव इति । धारणात् तुलया धृतं चन्दनं तुलाचन्दनमिति । सामीप्याद्गङ्गायां
गावश्चरन्तीति । कृष्णद्रव्ययोगात् कृष्णः शाटक इत्युदाहरणीयम् । प्राचसाधनादन्नं
प्राणा इति । आधिपत्याद्राजैवास्य कुक्षमिति कुक्षाधिपतिः प्रतीयते । तथा च यथा

देशोऽभिधीयते सन्निकष्टः । योगात्—कृष्णेन रागेण युक्तः
 श्राटकः, कृष्ण इत्यभिधीयते । साधनात्—अन्नं प्राप्ता
 इति । आधिपत्यात्—अयं पुरुषः कुलम् अयं गोत्रमिति ।
 तत्रायं सहचरणादयोगाद्वा जातिशब्दो व्यक्ती प्रयुज्यत
 इति ॥ ६४ ॥

यदि गौरित्यस्य पदस्य न व्यक्तिरर्थः, अस्तु तर्हि,—

आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्व-व्यवस्थानसिद्धेः ॥ ६५ ॥

आकृतिः पदार्थः । कस्मात् ?—तदपेक्षत्वात् सत्त्व-
 व्यवस्थानसिद्धेः । सत्त्वावयवानां तदवयवानाञ्च नियतो
 व्यूह आकृतिः, तस्यां गृह्यमाणायां सत्त्वव्यवस्थानं सिध्यति,
 अयं गौरयमश्च इति; नागृह्यमाणायाम् । यस्य ग्रहणात्
 सत्त्वव्यवस्थानं सिध्यति, तं शब्दोऽभिधातुमर्हति, सोऽस्याथ
 इति । नैतदुपपद्यते, यस्य जात्या योगस्तदत्र जातिविशिष्ट-
 मभिधीयते गौरिति । न चावयवव्यूहस्य जात्या योगः,
 कस्य तर्हि ?—नियतावयवव्यूहस्य द्रव्यस्य ; तस्मान्नाऽऽकृतिः
 पदार्थः ॥ ६५ ॥

नकादिपदाङ्गातीरत्वादिना बोधः, तथा गोपदादितो गौलविशिष्टस्य व्यक्तेः लक्षणा
 बोधः । एतेन पुनपदवृत्तिद्वयविरोधः, एकपदाश्रयोः परस्परानन्वयश्च प्रत्युक्तः ।
 गौलत्वेन रूपेण शक्तिग्रहात् तत्रैवोपस्थितिः, अतो निष्कारणपदार्थोपस्थितिरपि
 नास्तीति नान्वयम् ॥ ६४ ॥

आकृतिरेव शब्देति मतमुपन्यस्यति ।—आकृतिः पदार्थः, कुतः ?—सत्त्वस्य
 प्राचिनी नवादेः, व्यवस्थानसिद्धेः व्यवस्थितत्वसिद्धेः, तदपेक्षत्वादाकृत्यपेक्षत्वात्,
 अग्रतश्चो गौरयमित्यादिव्यवहारस्याऽऽकृत्यपेक्षत्वादाकृतिरेव शब्देत्वर्थः ॥ ६५ ॥

अस्तु तर्हि जातिः पदार्थः ?—

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात्प्रोक्षणादीनां मृद्ग-
वके जातिः ॥ ६६ ॥

जातिः पदार्थः । कस्मात् ?—व्यक्ताकृतियुक्तेऽपि मृद्गवके
प्रोक्षणादीनामप्रसङ्गादिति । मां प्रोक्षय, गामानय, मां
देहीति नैतानि मृद्गवके प्रयुज्यन्ते । कस्मात् ?—जातेरभावात् ।
अस्ति हि तत्र व्यक्तिः, अस्त्याकृतिः, यदभावात् तत्रासम्प्रत्ययः,
स पदार्थ इति ॥ ६६ ॥

नाऽऽकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ ६७ ॥

जातेरभिव्यक्तिराकृतिव्यक्ती अपेक्षते, नागृह्यमाणायामाकृतौ
व्यक्ती जातिमात्रं शुद्धं गृह्यते, तस्मान्न जातिः पदार्थः इति ॥ ६७ ॥
न वै पदार्थेन न भवितुं शक्यं, कः खल्विदानीं पदार्थः ?
इति ।—

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६८ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः । किं विशिष्यते ?—प्रधानाङ्गभावस्य
अनियमेन पदार्थत्वमिति । यदा हि भेदविवक्षा, विशेषगतिश्च,

कञ्जतसद्वृथयति ।—मृद्गवके व्यक्त्याकृतियुक्तेऽपि प्रोक्षणादीनामप्रसङ्गाज्जातिः पदार्थः,
इतरथा मृद्गवकस्यापि व्यक्तित्वाद्भाकृतिसत्त्वाच्च वैधप्रोक्षणादिप्रसङ्गादिति भावः ॥ ६६ ॥

केवलव्यक्ताकृतिशक्तिपक्षं निराकृत्य केवलजातिपक्षं निराकरोति ।—न—जातिमात्रं
न पदार्थः, नात्यभिव्यक्तेर्जातिशब्दबोधस्य, आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वात् आकृतिव्यक्तिविषय-
कत्वनियमात्, तथैवपि वाच्यत्वमावश्यकं, शक्तिं विना तज्ज्ञानासम्भवात् । न च
मौल्यप्रकारकतादृशाऽऽकृतिविशिष्टशब्दत्वस्य कार्यताऽवच्छेदकत्वात्तद्भानमिति वाच्यम्;
तथा सति गवादिपदस्य घटत्वादावपि शक्तिप्रसङ्गात्, तस्मात् पदं स्ववाच्यमेवोप-
स्थापयति ॥ ६७ ॥

इत्यत्र त्रयाणामपि वाच्यत्वं सिद्धमित्याह ।—तुशब्देनैककमानपदार्थत्वव्यव-

तदा व्यक्तिः प्रधानम्, अङ्गन्तु जात्याकृतौ । यदा तु भेदोऽविव-
क्षितः, सामान्यगतिः, तदा जातिः प्रधानम्, अङ्गन्तु व्यक्त्या-
कृतौ स्वीकृतं । तदेतदङ्गुलं प्रयोगेषु ; आकृतस्तु प्रधानभावः
उत्प्रेक्षितव्यः ॥ ६८ ॥

कथं पुनर्ज्ञायते नाना व्यक्त्याकृतिजातयः ? इति ।—
लक्षणभेदात्, तत्र तावत्,—

व्यक्तिगुणविशेषाऽऽश्रयो मूर्तिः ॥ ६९ ॥

व्यज्यत इति व्यक्तिरिन्द्रियग्राह्येति, न सर्वं द्रव्यं व्यक्तिः ।
यो गुणविशेषाणां स्पर्शान्तानां गुरुत्वघनत्वद्रवत्वसंस्काराणाम-
व्यापिनः परिमाणस्याऽऽश्रयो यथासम्भवं तद्व्ययम् ; मूर्तिः
मूर्च्छितावयवत्वादिति ॥ ६८ ॥

च्छेदः । पदार्थः इत्येकवचनन्तु तिसृष्वप्येकैव शक्तिरिति सूचनाय ; विभिन्नशक्तौ
कदाचित् कस्यचिदुपस्थितिः स्यात् । शक्तेस्तुल्यत्वेऽपि व्यक्तेर्विशेष्यत्वात् प्राधान्यम् ;
तथैव शक्तिरङ्गात् । न चाऽऽकृत्यादिसाधारणशक्त्याऽवच्छेदकाभावात् शक्तैक्यमिति
वाच्यम् ; तथानियमे मानाभावात् । इदं गवादिपदमभिप्रेत्य, तेन पञ्चादिपदञ्च
जात्यवाचकत्वेऽपि न क्षतिः । जातिपदं वा धर्मपदं, तथैव लक्षणस्य वक्ष्य-
माणत्वात् ॥ ६८ ॥

तत्र के व्यक्तादय इत्याकाङ्क्षायामाह ।—यद्यपि जात्यादेरपि व्यक्तित्वात्
प्रमेयत्वमेव व्यक्तित्वं, तथाऽपि जात्याकृतिशक्तिविषयव्यक्तेरिदं लक्षणम् ; तथा च
गुणविशेषो जात्याकृतिसमानाधिकरणी गुणः सङ्ख्यादिभिन्नः, तदाश्रयः मूर्ति-
व्यक्तिरिति, समानार्थकमित्यर्थः । परे तु,—“गुणा रूपादयः, विशेषाः अविशेषाः
चरन्नेपणादयः, तैः सञ्चित आश्रयो द्रव्यं, तेन जात्याश्रयो व्यक्तिरित्याश्रयः । विशेष-
लक्षणमाह, मूर्तिरिति ।—मूर्तिः संस्थानविशेषः, तद्वान्” इत्याहुः । अत्र च
मध्यपदलोपो समास इत्याशयः । अन्ते तु,—“व्यक्तेर्लक्षणं मूर्तिरिति । सैव का ?
इत्याहुः, गुणविशेषाऽऽश्रयो इति ।—गुणविशेषस्यावच्छिन्नपरिमाणस्य, आश्रय इत्यर्थः,
इत्याहुः ॥ ६९ ॥

आकृतिर्जातिलिङ्गाऽऽख्या ॥ ७० ॥

यया जातिर्जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते, तामाकृतिं विद्यात् ।
सा च नानासत्त्वानां तदवयवानाञ्च नियताद्ब्रूहादिति ।
नियतावयवब्रूहाः खलु सत्त्वावयवा जातिलिङ्गम् । शिरसा
पादेन गामनुमिन्वन्ति । नियते च सत्त्वावयवानां व्यूहे सति
गोत्वं प्रख्यायत इति । अनाकृतिव्यङ्गायां जातौ मृत् सुवर्णं
रजतमित्येवमादिष्वकृतिर्निवर्त्तते, जहाति पदार्थत्वमिति ॥ ७० ॥

समानप्रसवाऽऽत्मिका जातिः ॥ ७१ ॥

या समानां बुद्धिं प्रसृते भिन्नेष्वधिकरणेषु, यया बह्वनीत-
रितरतो न व्यावर्त्तन्ते, योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवर्त्तनिमित्तं,
तत् सामान्यम् ; यच्च केषाञ्चिद्देदं कुतश्चिद्देदं करोति, तत्
सामान्यविशेषो जातिरिति ॥ ७१ ॥

इति वात्स्यायनौये न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तस्यायं द्वितीयोऽध्यायः ।

आकृतिं लक्षयति ।—जातिलिङ्गमित्याख्या । यस्या जातेर्गोत्वादङ्घ्रिं साक्षादि-
संस्थानविशेषो लिङ्गं, तस्य च परम्परया द्रव्यवृत्तित्वम् । “जातिर्द्रव्यसमवायिकारणता-
ऽवच्छेदिका, लिङ्गं धर्मो यस्याः सेत्यर्थः” इति कश्चित् ॥ ७० ॥

जातिं लक्षयति ।—समानाऽऽकारकः प्रसवो बुद्धिजननम्, आत्मा स्वरूपं यस्याः
सा, तथा च समानाऽऽकारबुद्धिजननयोग्यत्वमर्थः । समानाऽऽकारबुद्धिजननयोग्यधर्म-
विशेषो नित्यानेकसमवेतरूपाय इत्यपि वदन्ति । इदं च धोषम्,—एवं सत्याकृत्यविष-
यको गवादिपदात् न शब्दबीधः, अनुभववलेन तथैव कार्यकारणभावकल्पनान् ;
अथवा लाघवाद्वापदस्य गोत्वविशिष्टे शक्तिरेव स्यादिति ॥ ७१ ॥

समाप्तं शब्दशक्तिपरीक्षाप्रकरणम् ।

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

इति श्रीविश्वनाथभट्टाचार्यकृता न्यायसूत्ररत्नी विभागपरीक्षाहारकसाङ्ग

प्रमाणपरीक्षणं नाम द्वितीयाध्यायवृत्तिः समाप्ता ॥ २ ॥

तृतीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

परीक्षितानि प्रमाणानि, प्रमेयमिदानीं परीक्ष्यते, तच्चा-
ऽऽत्मादि, इत्यात्मा विविच्यते । किं देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदना-
सङ्घातमात्रमात्मा ? आहोस्वित्तद्व्यतिरिक्तः ? इति । कुतः
संशयः ?—व्यपदेशस्योभयथासिद्धेः । क्रियाकरणयोः कर्ता
सम्बन्धस्याभिधानं व्यपदेशः । स द्विविधः,—अवयवेन समुदायस्य,
—मूलैर्वृत्तस्तिष्ठति, स्तन्यैः प्रासादो ध्रियत इति । अन्येनान्यस्य
व्यपदेशः,—परशुना वृश्चति, प्रदीपेन पश्यति । अस्ति चायं
व्यपदेशः,—चक्षुषा पश्यति, मनसा विजानाति, बुद्ध्या
विचारयति, शरीरेण सुखदुःखमनुभवतीति । तत्र नावधार्यते
किमवयवेन समुदायस्य देहादिसङ्घातस्य ? अथान्येनान्यस्य
तद्व्यतिरिक्तस्य वा ? इति । अन्येनायमन्यस्य व्यपदेशः ।
कस्मात् ?—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥

दर्शनेन कश्चिदर्थो गृहीतः, स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते,
यमहमद्राक्षच्चक्षुषा, तं स्पर्शनेनापि स्पृशामीति । यच्चास्यार्चं
स्पर्शनेन, तं चक्षुषा पश्यामीति । एकविषयाविमौ प्रत्ययावेक-
कर्तृकौ प्रतिसम्बोध्येते । न च सङ्घातकर्तृकौ, नेन्द्रियैक-

तत्प्रवृत्तितुल्यता भवति यत्कृपासन्तरः ।

बदीयकरुणाकणात्तरति भीहजालं जनः ।

विषाद्य हृदयाभुजे कचिरवाक्प्रचाराय तां

जनामि परदेवतां सततमेव वाणीमहम् ॥

अथावसरतः प्रमेयेषु परीक्षणीयेषु प्रथमोद्दिष्टमात्मादिषट्कं तृतीये परीक्षणीयम् ;
तेनाऽऽत्मादिषट्कपरीक्षेवाध्यायायः । तत्राऽऽत्मादिषट्कपरीक्षा प्रथमाऽऽह्निकायः ।

कर्तृको । तद्योऽसौ चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण चैकार्यस्य सङ्ग-
हीता भिन्ननिमित्तावनन्यकर्तृको प्रत्ययौ समानविषयौ
प्रतिसन्दधाति, सोऽर्थान्तरभूत आत्मा । कथं पुनर्नेन्द्रियैक-
कर्तृको ?—इन्द्रियं खलु स्वं स्वं विषयग्रहणमनन्यकर्तृकं प्रति-
सन्धातुमर्हति, नेन्द्रियान्तरस्य विषयान्तरग्रहणमिति । कथं
न सङ्घातकर्तृको ?—एकः खल्वयं भिन्ननिमित्तौ स्वाऽऽत्मकर्तृको
प्रत्ययौ प्रतिसंहितौ वेदयते, न सङ्घातः ; कस्मात् ?—अनिवृत्तं
हि सङ्घाते प्रत्येकम् ; विषयान्तरग्रहणस्याप्रतिसन्धानमिन्द्रिया-
न्तरेणैवेति ॥ १ ॥

न विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥

न देहादिसङ्घातादन्यचेतनः । कस्मात् ?—विषयव्यवस्थानात् ।
व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि । चक्षुष्यसति रूपं न गृह्यते, सति
च गृह्यते । यच्च यस्मिन्नसति न भवति, सति भवति, तस्य
तदिति विज्ञायते । तस्माद्रूपग्रहणं चक्षुषः, चक्षू रूपं पश्यति ।
एवं घ्राणादिष्वपीति । तानौन्द्रियाणीमानि स्वस्वविषयग्रहणा-
च्चेतनानि, इन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावात् ।
एवं सति किमन्येन चेतनेन ?—सन्दिग्धत्वादहेतुः । योऽयमिन्द्रि-
याणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावः, स किं चेतनत्वा-

तच्च च गव प्रकरणानि । तत्राऽऽदाविन्द्रियभेदप्रकरणम् । तत्रेन्द्रियं ज्ञानवन्न वेति
संशये करणत्वेन सिद्धान्तमिन्द्रियाणां चैतन्यमसु लाघवात् ; तथा चाऽऽत्मशब्दस्य
नानाऽर्थत्वादिन्द्रियाणामभौतिकत्वाच्च न साङ्ख्यमितीन्द्रियचैतन्यवादिनः ;
तन्निराकरणाय सूत्रम् ।—एकस्यैव दर्शनस्पर्शनाभ्यामर्षस्य यद्व्याप्तं, दर्शनस्पर्शने
ज्ञानविशेषौ, (तृतीया च प्रकारे) । तेन चाक्षुषस्याश्रंभोभयवत्त्वेनैकस्य धर्मिणः
प्रतिसन्धानादित्यर्थः । तथा च योऽहं षट्मद्रात्रं, सोऽहं सुश्रामीत्यनुभवादात्मा
इन्द्रियव्यतिरिक्त एक इति ॥ १ ॥

दाहोस्त्रिचेतनोपकरणानां ग्रहणनिमित्तत्वादिति सन्दिह्यते,
चेतनोपकरणत्वेऽपान्द्रियाणां ग्रहणनिमित्तत्वाद्भवितुमर्हति ॥२॥

यच्चाक्तं,—“विषयव्यवस्थानात्” इति,—

तद्वावस्थानादेवाऽऽत्मसङ्गावादप्रतिषेधः ॥३॥

यदि खल्वेकमिन्द्रियमव्यवस्थितविषयं सर्वज्ञं सर्वविषय-
ग्राहि चेतनं स्यात्, कस्ततोऽन्यत् चेतनमनुमातुं शक्नुयात् ?
यस्मात्तु व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि, तस्मात्तेभ्योऽन्यश्चेतनः
सर्वज्ञः सर्वविषयग्राही विषयव्यवस्थितिमतीतोऽनुमीयते ।
तत्वेदमभिज्ञानमप्याख्येयं चेतनवृत्तमुदाक्रियते, रूपदर्शी खल्वयं
रसं गन्धं वा पूर्वगृहीतमनुमिनोति, गन्धप्रतिसंवेदी च रूप-
रसावनुमिनोति । एवं विषयशेषेऽपि वाच्यम् । रूपं दृष्ट्वा
गन्धं जिघ्रति, घ्रात्वा च गन्धं रूपं पश्यति, तदेवमनियत-
पर्यायं सर्वविषयग्रहणमेकचेतनाधिकरणमनन्यकर्तृकं प्रति-
सन्धत्ते, प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमसंशयान् प्रत्ययांश्च नानाविषयान्
स्वाऽऽत्मकर्तृकान् प्रतिसन्धाय वेदयते, सर्वार्थविषयञ्च शास्त्रं
प्रतिपद्यते, अर्थमविषयभूतं श्रोत्रस्य क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्वा
पदवाक्यभावं प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थाञ्च बुध्यमानोऽनेक-
विषयमर्थजातमग्रहणीयमेकैकेनेन्द्रियेण गृह्णाति, सेयं सर्व-
ज्ञस्य ज्ञेया व्यवस्थाऽनुपदं न शक्या परिक्रमितुम् । आकृति-

अत्र शङ्कते,—चक्षुस्त्रगादीनां रूपस्पर्शाऽऽदिदियतविषयत्वाच्चक्षुरादेराचक्षुषादि-
समवायित्वम्, इत्यच्चाभेदप्रत्ययी भ्रान्त इति भावः ॥ २ ॥

समाधत्ते,—उक्तप्रतिषेधो न युक्तः, उक्तविषयव्यवस्थानादेवाऽऽत्मसङ्गावादति-
रिक्ताऽऽत्मकल्पनादित्यर्थः ; अयं भावः,—तच्चदिन्द्रियाणां तच्चविषयकप्रत्यक्षं प्रति
समवायित्वं वाच्यं, न तु प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति ; अनुमित्यादिजनकत्वे तु विनि-
गनकाभावः ; तेन जन्यज्ञानत्वावच्छिन्नजनकताऽवच्छेदकमात्मत्वम् ; चक्षुरादेरनित्यत्वा-

माचन्तूदाहृतम् ; तत्र यदुक्तमिन्द्रियचेतन्ये सति किमन्येन चेतनेन ? तदयुक्तं भवति ॥ ३ ॥

इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा, न देहादिसङ्घातमात्रम् ।—

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥

शरीरग्रहणेन शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनासङ्घातः प्राणिभूतो गृह्यते, प्राणिभूतं शरीरं दहतः प्राणिहिंसाकृतं पापं पातकमित्युच्यते, तस्याभावः तत्फलेन कर्तुरसम्बन्धात् अकर्तुश्च सम्बन्धात् । शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाप्रबन्धे स्वल्पान्यः सङ्घात उत्पद्यतेऽन्यो निरुध्यते, उत्पादनरोधसन्ततोभूतः प्रबन्धो नान्यत्वं बाधते, देहादिसङ्घातस्यान्यत्वाधिष्ठानत्वात्, अन्यत्वाधिष्ठानो ह्यसौ प्रख्यायत इति । एवं सात यो देहादिसङ्घातः प्राणिभूतो हिंसां करोति, नासौ हिंसाफलेन सम्बध्यते ; यश्च सम्बध्यते, न तेन हिंसा कृता । तदेवं सत्त्वमेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते, सति तु सत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे चाकर्म्मनिमित्तं सत्त्वसर्गं प्राप्नोति, तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात् । तद्यदि देहादिसङ्घातमात्रं स्यात्, शरीरदाहे पातकं न भवेत् ; अनिष्टञ्चैतत्, तस्माद्देहादिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मानित्य इति ॥ ४ ॥

दात्मनश्च नित्यताया वक्ष्यमाणत्वाच्चचुरादिनाशेऽपि चरणाच्चचुरहमित्याद्यप्रतीतेश्च नेन्द्रियाऽऽत्मवादो युज्यत इति ॥ १ ॥

समाप्तमिन्द्रियमेदप्रकरणम् ।

ननु गौरीऽहं जानामीत्यादि प्रतीतेरस्तु शरीरमात्मेत्याशङ्क्य दूषयति ।— पातकाभावात् पातकादेरभावप्रसङ्गात्, तथा चीत्तरकालिकं दुःखादिकं न स्यादिति ; यद्वा,—दाहो नाशः, तथा च शरीरनाशे कृते कर्तारं शरीरे विनष्टे पातकं न स्यादित्यर्थः । यद्यपि भूतचेतन्यवादिना पातकादिकं नीपेयते, तथाऽपि तस्य प्रसाध्याह्नकत्वादिकदेष्टव्यः पूर्वपक्षित्वादा न दोष इति भावः ॥ ४ ॥

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥ ५ ॥

यस्यापि नित्येनाऽऽत्मना सात्मकं शरीरं दृश्यते, तस्यापि शरीरदाहे पातकं न भवेद्दुःखः ; कस्मात् ?—नित्यत्वादात्मनः, न जातु कश्चिन्नित्यं हिंसितुमर्हति । अथ हिंस्यते, नित्यत्वमस्य न भवति । सेयमेकस्मिन् पक्षे हिंसा निष्फला, अन्यस्मिंस्त्वनुपपन्नेति ॥ ५ ॥

न कार्याऽऽश्रयकर्तृबधात् ॥ ६ ॥

न ब्रूमो नित्यस्य सत्त्वस्य बधो हिंसा, अपि त्वनुच्छित्ति-धर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याऽऽश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तृणामुपघातः षोडश वैकल्यलक्षणः प्रबन्धोच्छेदो वा प्रमापणलक्षणो वा बधो हिंसेति । कार्यन्तु सुखदुःखसंवेदनं, तस्याऽऽयतनमधिष्ठानमाश्रयः शरीरम् । कार्याऽऽश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तृणामिन्द्रियाणां बधो हिंसा, न नित्यस्याऽऽत्मनः । तत्र यदुक्तं,—“तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्” इत्येतदयुक्तम् ; यस्य सत्त्वोच्छेदो हिंसा, तस्य कृतहानमक्रताभ्यागमश्चेति दोषः । एतावच्चैतत् स्यात् । सत्त्वोच्छेदो वा हिंसा, अनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याऽऽश्रय-

तवापि तुल्यदोष इत्याशङ्कते ।—तदभावः पातकाभावः, सात्मकशरीरस्य प्रदाहेऽपि प्रसक्तः, तन्नित्यत्वात् तस्य आत्मनः, नित्यत्वात्, नित्यत्वेन निर्विकारत्वं ; तेन “जन्मधर्मानाश्रयत्वमभिमतम्” इति केचित् । “तन्नित्यत्वात् शरीरनाशे शरीर-विशिष्टाऽऽत्मनाशस्य नियतत्वात्” इत्यपि कश्चित् । किञ्च, सात्मकशरीरनाशेऽपि हन्तुः पातकाभावः स्यात्, तस्याऽऽत्मनो नित्यत्वेन तन्नाशकत्वाभावात् ॥ ५ ॥

परिहरति ।—कार्याऽऽश्रयस्य चेष्टाऽऽश्रयस्य, कर्तुः कृत्यवच्छेदकस्य शरीरस्यैव, नाशः, न त्वात्मन इति न पातकाभावः ; यद्वा —न हन्तुः पातकाभावः, कार्याऽऽश्रय-कर्तृबधात् शरीरस्य नाशान्, ब्राह्मणत्वादेः शरीरवृत्तित्वात्तन्नाशादेव पापीत्युत्तिरिति

कर्तृबधो वा ; न कल्पान्तरमन्यदस्ति, सत्त्वोच्छेदश्च प्रतिषिद्धः,
तत्र किमन्यच्छेषं यथाभूतमिति । अथवा कार्याऽऽश्रयकर्तृ-
बधादिति, कार्याऽऽश्रयो देहेन्द्रियबुद्धिसङ्घातो नित्यस्याऽऽत्मनः,
तत्र सुखदुःखप्रतिसंवेदनं, तस्याधिष्ठानमाश्रयः, तदायतनं
तद्भवति, न ततोऽन्यदिति, स एव कर्त्ता, तन्निमित्ता हि
सुखदुःखसंवेदनस्य निर्वृत्तिः, न तमन्तरेणेति, तस्य बध
उपघातः पीडा प्रमापणं वा हिंसा, न नित्यत्वेनाऽऽत्मो-
च्छेदः । तत्र यदुक्तं,—“तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्”
एतन्नेति ॥ ६ ॥

इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा ।—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥

पूर्वापरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभि-
ज्ञानं, तमेवैतर्हि पश्यामि, यमज्ञासिषं, स एवायमर्थ
इति । सव्येन चक्षुषा दृष्टस्येतरेणापि चक्षुषा प्रत्यभिज्ञानात्,
यमद्राक्षं, तमेवैतर्हि पश्यामीति । इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्ट-
मन्यः प्रत्यभिज्ञानातीति प्रत्यभिज्ञाऽनुपपत्तिः । अस्ति त्विदं
प्रत्यभिज्ञानं, तस्मादिन्द्रियव्यतिरिक्तस्येतनः ॥ ७ ॥

भावः । वस्तुतस्तु अपूर्वशरीरावच्छिन्नप्राणसंयोगाऽऽत्मकोत्पत्तिवत् शरीरावच्छिन्नप्राण-
संयोगध्वंसविशेषाऽऽत्मक-मरणमप्यात्मनः सम्भवति ; अन्यथा शरीराविनाशिनो बन्धन-
मुखनिरोधादेर्हि सात्वं न स्यात् । पातकानभ्युपगन्तृचार्याकादिमते शरीरभेदसाधनस्तु
वक्ष्यमाणयुक्तिभिरिति ध्येयम् ॥ ६ ॥

समाप्तं देहभेदप्रकरणम् ।

प्रसङ्गाच्चक्षुरद्वैतप्रकरणमारभते ।—वामेन चक्षुषा दृष्टस्य दक्षिणेन चक्षुषा
प्रत्यभिज्ञानात् स्थिराऽऽत्मसिद्धिरिति केषांचिन्मतम् ; तन्निराकरणाद्येतदुप-
न्नासः ॥ ७ ॥

नैकस्मिन्नासाऽस्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ८ ॥

एकमिदं चक्षुः, मध्ये नासाऽस्थिव्यवहितम् ; तस्यान्ती
गृह्यमाणी द्वित्वाभिमानं प्रयोजयतः, मध्यव्यवहितस्य दीर्घ-
स्त्वेव ॥ ८ ॥

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥

एकस्मिन्नुपहते चोदृते वा चक्षुषि द्वितीयमवतिष्ठते चक्षु-
र्विषयग्रहणलिङ्गम् । तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः ॥ ९ ॥

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १० ॥

एकविनाशे द्वितीयाविनाशादित्यहेतुः ; कस्मात् ?—वृक्षस्य
हि कासुचिच्छाखासु क्षिन्नासूपलभ्यत एव वृक्षः ॥ १० ॥

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥

न कारणद्रव्यस्य विभागे कार्यद्रव्यमवतिष्ठते, नित्यत्व-
प्रसङ्गात् । बहुष्ववयवेषु यस्य कारणानि विभक्तानि, तस्य
विनाशः । येषां कारणान्यविभक्तानि, तान्यवतिष्ठन्ते । अथवा
दृश्यमानार्थविरोधो दृष्टान्तविरोधः, मृतस्य हि शिरःकपाले
हाववटौ नासाऽस्थिव्यवहितौ चक्षुषः स्थाने भेदेन गृह्येते, न
चैतदेकस्मिन्नासाऽस्थिव्यवहिते सम्भवति । अथवैकविनाशस्या-

एतदुच्यते ।—मध्यस्थसेतुना तडागरूपेण नासाऽस्थिव्यवहितगोलकान्तराव-
च्छिन्नतया हेतुप्रत्ययो धन इत्यर्थः ॥ ८ ॥

आचिपति ।—चक्षुरेकौ एकचक्षुर्नाशेऽन्तत्वं स्यादिति भावः ॥ ९ ॥

अवैकदेशो परिहरति ।—अवयवस्य शाखादेः, नाशेऽप्यवयवविनो वृक्षस्य, प्रत्यभि-
ज्ञानाद्वावयवनाशे सर्ववायवविनाशनियमः ; तथा चैकनाशेऽपि नान्यत्वमिति ॥ १० ॥

एकदेशिमतस्तत् पूर्वोक्ताऽऽक्षेपस्य च समाधानाय सिद्धान्तिनः सूत्रम् ।—उक्तप्रतिषेधो
न युक्तः, दृष्टान्तस्य विरोधादयुक्तात् । न हि शाखाच्छेदे वृक्षसिष्ठति, तथा सति
वृक्षस्यानाशप्रसङ्गात्, अतोऽवस्थितावयवैस्तत्र खण्डवृक्षोत्पत्तेर्नैकदेशिमतं युक्तम् ।

नियमाद्वाविमावर्थौ, तौ च पृथगावरणोपघातौ अनुमीयेते विभिन्नाविति, अवपीडनाच्चैकस्य चक्षुषो रश्मिविषयसन्नि-
कर्षस्य भेदात् दृश्यभेद इव गृह्यते, तच्चैकत्वे विरुध्यते, अव-
पीडननिवृत्तौ चाभिन्नप्रतिसन्धानांमति, तस्मादेकस्य व्यवधा-
नानुपपत्तिः ॥ ११ ॥

अनुमीयते चायं देहादिसङ्घातव्यतिरिक्तश्चेतन इति ।—

द्वन्द्वियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥

कस्यचिदन्तफलस्य गृहीततद्रससाहचर्ये रूपे गन्धे वा
केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनस्येन्द्रियान्तरस्य विकारः
रसानुसृती रसगर्हिप्रवर्त्तितो दन्तोदकसंज्ञवभूतो गृह्यते, तस्ये-
न्द्रियचैतन्येऽनुपपत्तिः, नान्यदृष्टमन्यः स्मरति ॥ १२ ॥

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥

स्मृतिर्नाम धर्मो निमित्तादुत्पद्यते, तस्याः स्मर्त्तव्यो विषयः,
तत्कृत इन्द्रियान्तरविकारः, नाऽऽत्मकत इति ॥ १३ ॥

एतेनैकनामे द्वितीयाविनाशहेदसाधनमपि प्रयुक्तम् ; चक्षुर्नांशेऽपि गोलका-
न्तरावच्छिन्नावयवैः खण्डचक्षुःसम्भवात् । इत्यस्य लाघवाच्चक्षुरश्चेतमिति टीका-
स्वरससिद्धम् । परे तु,—“चक्षुर्हेतमेव सूत्रार्थं मन्यमाना व्याचक्षते, सिद्धान्तिनः
सूत्रं,—सव्येति । शङ्कते,—नैकस्मिन्निति । समाधत्ते,—एकेति । शङ्कते,—अवयवेति ।
निराकरोति,—दृष्टान्तेति । शाखानां वचनाशाऽऽवश्यकत्वात् दृष्टान्तो न युक्तः ;
इहा,—दृष्टान्तस्य गोलकभेदस्य, विरोधादन्यथाऽनुपपन्नत्वात्, दृष्टं हि नृत्तस्य
अक्षुरधिष्ठानगोलकद्वयं भेदेनैवोपलभ्यत” इति वदन्ति ॥ ११ ॥

आत्मन इन्द्रियभेदे युक्त्यन्तरमाह ।—चिरवित्त्वाद्यस्य दृष्टे तद्रसस्वरणा-
दन्तोदकसंज्ञवरूपरसनेन्द्रियविकारादिन्द्रियव्यतिरिक्त आत्मा सिध्यति ॥ १२ ॥

आचिपति ।—स्मृतिर्हि स्मर्त्तव्यविषयिणीति नियमः, तस्याश्च दर्शनादिना
ज्ञानानाधिकरण्ये ज्ञानाभावात् । अस्य वा विषयतयैव सामानाधिकरण्यामिति
भावः ॥ १३ ॥

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

तस्या आत्मगुणत्वे सति सद्भावादप्रतिषेधः आत्मनः, यदि स्मृतिरात्मगुणः, एवं सति स्मृतिरुपपद्यते, नान्यदृष्टमन्यः स्मर-
तीति । इन्द्रियचैतन्ये तु नानाकर्तृकाणां विषयग्रहणानाम-
प्रतिसन्धानम् ; प्रतिसन्धाने वा विषयव्यवस्थाऽनुपपत्तिः ।
एकस्तु चेतनोऽनेकार्थदर्शी भिन्ननिमित्तः पूर्वदृष्टमर्थम्
अनुस्मरतीति, एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात्
स्मृतेरात्मगुणत्वे सति सद्भावः, विपर्यये चानुपपत्तिः ।
स्मृत्याश्रयाः प्राणभृतां सर्वे व्यवहाराः आत्मलिङ्गम् ।
उदाहरणमात्रमिन्द्रियान्तरविकार इति ॥ १४ ॥

अपरिसङ्ख्यानाञ्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥

अपरिसङ्ख्याय च स्मृतिविषयमिदमुच्यते, न स्मृतेः स्मर्त्तव्य-
विषयत्वादिति । येयं स्मृतिरगृह्यमाणेऽर्थे अज्ञासिषमहममु-
मर्थमिति, एतस्या ज्ञातज्ञानविशिष्टः पूर्वज्ञातोऽर्थो विषयः,
नार्थमात्रम् । ज्ञातवानहममुमर्थम्, असावर्थो मया ज्ञातः,
ज्ञातम्, अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूदिति चतुर्विधमेतदुवाक्यं
स्मृतिविषयप्रापकं समानार्थम् । सर्वत्र खलु ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयञ्च
गृह्यते । अथ प्रत्यवेऽर्थे या स्मृतिः, (न) तया त्रीणि ज्ञानान्ये-
कस्मिन्नर्थे प्रतिसन्धीयन्ते समानकर्तृकाणि, न नानाकर्तृकाणि,
नाकर्तृकाणि । किं तर्हि ?—एककर्तृकाणि । अद्राक्षममुमर्थं,

समाचष्टे ।—उक्तप्रतिषेधो न युक्तः, धर्मिणाहकमानेन स्मृतेरात्मगुणत्वान्यरि-
त्रेवेचाऽऽत्मगुणत्वसिद्धेः च हं करामीत्यनुभवान्, विषयनिष्ठकारण्यकारणभावे चैवस्व
ज्ञानान्यैवस्व अरणाऽऽपत्तेरिति भावः ॥ १४ ॥

विषयाणां स्मर्त्तव्यानां स्मृतिसमवायित्वं सादित्याशङ्क्य समाचष्टे ।—अपरि-

(न) प्रत्यभिज्ञेति यावत् ।

यमेवैतर्हि पश्यामि ; अद्राक्षमिति दर्शनं, दर्शनसंविद्य, न स्वस्व-
संविदिते स्वे दर्शने स्यादेतदद्राक्षमिति । ते स्वस्वेते द्वे ज्ञाने ।
यमेवैतर्हि पश्यामीति तृतीयं ज्ञानम् । एवमेकोऽर्थस्त्रिभिर्ज्ञानै-
र्युज्यमानो नाकर्तृकः, न नानाकर्तृकः ; किं तर्हि ?—एककर्तृक
इति । सोऽयं स्मृतिविषयोऽपरिसङ्ग्रायमानो विद्यमानः
प्रज्ञातोऽर्थः प्रतिषिध्यते, नास्त्यात्मा, स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वादिति ।
न चेदं स्मृतिमात्रं स्मर्तव्यमात्रविषयं वा, इदं खलु ज्ञानप्रति-
सन्धानवत् स्मृतिप्रतिसन्धानम्, एकस्य सर्वविषयत्वात् । एकोऽयं
ज्ञाता सर्वविषयः स्वानि ज्ञानानि प्रतिसन्धत्ते, अमुमर्थं
ज्ञास्यामि, अमुमर्थं विजानामि, अमुमर्थमज्ञासिषम्, अमुमर्थं
जिज्ञासमानश्चिरमज्ञात्वाऽध्यवस्यत्यज्ञासिषमिति । एवं स्मृति-
मपि त्रिकालविशिष्टां सुस्मूर्षीं विशिष्टाञ्च प्रतिसन्धत्ते । संस्कार-
सन्तातमात्रे तु सत्त्वे उत्पद्योत्पद्य संस्कारास्तिरोभवन्ति ; स
नास्वेकोऽपि संस्कारः, यस्त्रिकालविशिष्टं ज्ञानं स्मृतिज्ञानुभवेत् ;
न चानुभवम् अन्तरेण ज्ञानस्य स्मृतेश्च प्रतिसन्धानमहं ममेति
चोत्पद्यते, देहान्तरवत् । अतोऽनुमीयते, अस्त्वेकः सर्वविषयः
प्रतिदेहं स्मृज्ज्ञानप्रबन्धं स्मृतिप्रबन्धञ्च प्रतिसन्धत्ते इति । यस्य
देहान्तरेषु वृत्तेरभावाच्च प्रतिसन्धानं भवतीति ॥ १५ ॥

नाऽऽत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ॥ १६ ॥

न देहादिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा । कस्मात् ?—आत्मप्रति-
पत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् । दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणा-
दित्येवमादीनामात्मप्रतिपादकानां हेतूनां मनसि सम्भवः,

सङ्गानात् नान्व्यात् । तथा च साधवादतिरिक्ताऽऽत्मविधिः । इदं न सत्यं, किन्तु
आत्ममिति केचित् ॥ १५ ॥

समाप्तं चक्षुरद्वैतप्रकरणम् ।

यतः मनो हि सर्वविषयमिति, तस्माच्च शरीरेन्द्रियमनोबुद्धि-
सङ्घातव्यतिरिक्त आत्मेति ॥ १६ ॥

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥ १७ ॥

ज्ञातुः खलु ज्ञानसाधनान्युपपद्यन्ते, चक्षुषा पश्यति, घ्राणेन
जिघ्रति, स्पर्शनेन स्पृशति, एवमन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधन-
मन्तःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते, येनायं मन्यत इति । एवं
सति ज्ञातर्यात्मसंज्ञा न सृष्यते, मनःसंज्ञाऽभ्यनुज्ञायते, मनसि
च मनःसंज्ञा न सृष्यते, मतिसाधनं त्वभ्यनुज्ञायते, तदिदं
संज्ञाभेदमात्रं, नार्थे विवाद इति । * प्रत्याख्याने वा सर्वेन्द्रिय-
विलोपप्रसङ्गः । * अथ मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं सर्वविषयं
प्रत्याख्यायते नास्त्येति । एवं रूपादिविषयग्रहणसाधनान्यपि
न सन्तीति सर्वेन्द्रियविलोपः प्रसज्यत इति ॥ १७ ॥

नियमश्च निरनुमानः ॥ १८ ॥

योऽयं नियम इष्यते, रूपादिग्रहणसाधनान्यस्य सन्ति ;
मतिसाधनं सर्वविषयं नास्त्येति । अयं निरनुमान, नावानु-
मानमस्ति, येन नियमं प्रतिपद्यामहे इति । रूपादिभ्यश्च
विषयान्तरं सुखादयः, तदुपलब्धौ करणान्तरसङ्गावः । यथा
चक्षुषा गन्धो न गृह्यत इति करणान्तरं घ्राणम् ; एवञ्चक्षुः-

ननु मनसो भित्त्यादात्मत्वमस्तित्याशङ्कते ।—नातिरिक्त आत्मा, आत्मसाधक-
मानामां मनसि सम्भवान् मनसो नार्थान्तरमिति भावः ॥ १६ ॥

समाधत्ते ।—यदि मनसो ज्ञातृत्वं, तथा व्यासङ्गाद्युपपादनाय करणान्तरमवश्यं
वाच्यम् ; तथा चेत्को ज्ञाता, ज्ञानसाधनं चेत् सिद्धम् । मन आत्माऽस्त्विति संज्ञा-
भावः ; किञ्च, व्यासङ्गोपपादकतया मनसोऽणुत्वं सिद्धम्, आत्मनश्च प्रत्यक्षोपपादक-
तया महत्त्वमिति भेद आवश्यक इति भावः ॥ १७ ॥

ननु रूपादिप्रत्यक्षं सकारणकमस्य, न तु सुखादिप्रत्यक्षम्, एवं परमाण्वन्तरस्याती-

घ्राणाभ्यां रसो न गृह्यत इति करणान्तरं रसनम् ; एवं शेषेषु ।
तथा चक्षुरादिभिः सुखादयो न गृह्यन्त इति करणान्तरेण
भवितव्यम्, * तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम् ।* यच्च सुखाद्युपलब्धौ
करणं, तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम् ; तस्येन्द्रियमिन्द्रियं प्रति
सन्निधेरसन्निधेर्न युगपज्ज्ञानान्युत्पद्यन्ते । तत्र यदुक्तम्,—
“आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्” इति, तदयुक्तम् ॥१८॥

किं पुनरयं देहादिसङ्घातादन्यो नित्यः, उतानित्यः ? इति ।
कुतः संशयः ?—उभयथा दृष्टत्वात् संशयः । विद्यमानमुभयथा
भवति, नित्यमनित्यञ्च ; प्रतिपादिते चाऽऽत्मसङ्गावे संशया-
निवृत्तेरिति । आत्मसङ्गावहेतुभिरेवास्य प्राग् देहभेदादवस्थानं
सिद्धम् । ऊर्ध्वमपि देहभेदादवतिष्ठते । कुतः ?—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभय-
शोकसम्प्रतिपत्तेः ॥ १९ ॥

जातः स्वस्वयं कुमारकोऽस्मिन् जन्मन्यष्टहोतेषु हर्षभय-
शोकहेतुषु हर्षभयशोकान् प्रतिपद्यते लिङ्गानुमेयान्, ते च
स्मृत्यनुबन्धादुत्पद्यन्ते, नान्यथा, स्मृत्यनुबन्धश्च पूर्वाभ्यासम्
अन्तरेण न भवति, पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि सति, नान्यथा ;
इति सिध्यत्येतत्—अवतिष्ठतेऽयमूर्ध्वं शरीरभेदादिति ॥१९॥

न्द्रियत्वेऽपि मनसः प्रत्यक्षं स्यादत्राऽऽह ।—उक्तो नियमविशेषो निरनुमानः नियमा-
शकः, गौरवाद्दैपरीत्ये च विनिगमकाभावाच्चेति भावः ॥ १८ ॥

समाप्तं मनोभेदप्रकरणम् ।

एवं साधितेऽपि देहादिभिन्ने आत्मनि, विना तन्नित्यतां न परलोकाधिपः
प्रवृत्तिः, अत आत्मनित्यताप्रतिपादनाय सूत्रम् ।—जातस्य बालस्य एतज्ज्ञानानुभूतेषु
अपि हर्षाऽऽदिहेतुषु सन्तु हर्षाऽऽदीनां सम्प्रतिपत्तिः उत्पत्तिः, तस्याः पूर्वपूर्वानुभवा
धीनस्मृतिसम्भवादेव सम्भवात् । इत्थं वेदानीन्तमस्याऽऽत्मनः पूर्वपूर्वसिद्धौ तस्या-
नादित्वम्, अनादेश भावस्य न नाश इति नित्यत्वसिद्धिरिति भावः ॥ १९ ॥

पञ्चाऽऽदिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ॥ २० ॥

यथा पञ्चाऽऽदिष्वनित्येषु प्रबोधसम्मीलनं विकारो भवति, एवमनित्यस्याऽऽत्मनो हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तिर्विकारः स्यात् । हेत्वभावादयुक्तम् । अनेन हेतुना पञ्चाऽऽदिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवर्दान्त्यस्याऽऽत्मनो हर्षाऽऽदिसम्प्रतिपत्तिरिति । नात्रोदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनहेतुर्न वैधर्म्यादस्ति, हेत्वभावात् असम्बद्धार्यकमपायंकमुच्यत इति । * दृष्टान्ताच्च हर्षाऽऽदिनिमित्तस्यानिवृत्तिः * या चेयमासेवितेषु विषयेषु हर्षाऽऽदिसम्प्रतिपत्तिः स्मृत्यनुबन्धकता प्रत्यात्मं गृह्यते, सेयं पञ्चाऽऽदिसम्मीलनदृष्टान्तेन न निवर्त्तते, यथा चेयं न निवर्त्तते, तथा जातस्यापीति । क्रियाजातौ च पर्णविभागसंयोगौ प्रबोधसम्मीलने, क्रियाहेतुश्चानुमेयः । एवञ्च सति किं दृष्टान्तेन प्रतिषिध्यते ॥ २० ॥

अथ निर्निमित्तः पञ्चाऽऽदिषु प्रबोधसम्मीलनविकार इति मतम् ; एवमात्मनोऽपि हर्षाऽऽदिसम्प्रतिपत्तिरिति, तच्च,—

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चाऽऽत्मकविकाराणाम् ॥ २१ ॥

उष्णादिषु सत्सु भावात् असत्सु अभावात् तन्निमित्ताः पञ्चभूतानुग्रहेण निर्वृत्तानां पञ्चाऽऽदीनां प्रबोधसम्मीलनविकाराः, इति न निर्निमित्ताः । एवं हर्षाऽऽदयो विकाराः निमित्ताद्भवितुमर्हन्ति, न निमित्तमन्तरेण ; न चान्यत्

अथ शङ्कते ।—नालस्य हर्षाऽऽदयो मुखविकासायनुमेयाः, न च तत्सम्भवः, पञ्चाऽऽदीनां प्रबोधादिवददृष्टविशेषाधीनक्रियावशादेव तदुपपत्तिरिति भावः ॥ २० ॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।—उक्तं न युक्तं, यतः पञ्चाऽऽत्मकानां पाञ्चभौतिकानां पञ्चाऽऽदीनां,

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् निमित्तमस्तीति । न चोत्पत्ति-
निरोधकारणानुमानमात्मनो दृष्टान्तात्, न हर्षाऽऽदीनां
निमित्तमन्तरेणोत्पत्तिः, नोष्णादिवान्निमित्तान्तरीपादानं हर्षा-
ऽऽदीनां, तस्माद्युक्तमेतत् ॥ २१ ॥

इतश्च नित्य आत्मा,—

प्रेत्याऽऽहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ २२ ॥

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते,
स च नान्तरेणाऽऽहाराभ्यासम् । कया युक्त्या ?—दृश्यते हि
शरीरिणां क्षुधापीड्यमानानामाहाराभ्यासकृतात् स्मरणानु-
बन्धादाहाराभिलाषः, न च पूर्वशरीरमन्तरेणासौ जातमात्र-
स्योपपद्यते ; तेनानुमीयते भूतपूर्वं शरीरं, यत्तानेनाऽऽहारो-
ऽभ्यस्त इति । स खल्वयमात्मा पूर्वशरीरात् प्रेत्य शरीरान्तर-
मापन्नः क्षुत्पीडितः पूर्वाभ्यस्तमाहारमनुस्मरन् स्तन्यमभि-
लषति, तस्मान्न देहभेदादात्मा भिद्यते, भवत्येवोर्द्धं देह-
भेदादिति ॥ २२ ॥

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत् तदुपसर्पणम् ॥ २३ ॥

यथा खलु अयः अभ्यासमन्तरेणायस्कान्तसुपसर्पति, एवम्
आहाराभ्यासमन्तरेण बालः स्तन्यमभिलषति ॥ २३ ॥

ये विकाराः तेषाम्, उष्णकालाऽऽदिनिमित्तत्वात् । मनुष्याऽऽदीनान् हर्षाऽऽदिनिमित्तका
सुखविकासदाय इति न तुल्यतेति भावः ॥ २१ ॥

आत्मनित्यत्वं हेतुन्तरमाह ।—प्रेत्य सत्त्वा, जातमात्रस्य यः स्तन्याभिलाषः, स
तत्त्वदाहाराभ्यासजनितः ; जन्मान्तरीयाऽऽहारैः साधनताधीनस्य जीवनादपीवोचित-
संस्काराधानेऽसाधनतास्मरणेन हि बालः स्तन्यपाने प्रवर्तते इत्यनादित्वमिति ॥ २२ ॥

शङ्कते ।—यथाऽयस्कान्तसन्निहितस्यायसोऽयस्कान्ताभिमुखतया गमनं, तथैव वत्स-
स्यापि कर्तृपसर्पणम् ; न त्विष्टसाधनताज्ञानाधीनप्रवृत्तिजन्यचेष्टेयमित्यर्थः ॥ २३ ॥

किमिदमयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणं निनिमित्तम् ? अथ
निमित्तात् ? इति । निनिमित्तं तावत्,—

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २४ ॥

यदि निनिमित्तं, लोष्टाऽऽदयोऽप्ययस्कान्तमुपसर्पेयुः, न जातु
नियमे कारणमस्तीति । अथ निमित्तात्, तत्केनोपलभ्यते ?
इति । क्रियालिङ्गः क्रियाहेतुः, क्रियानियमलिङ्गश्च क्रिया-
हेतुनियमः, तेनान्यत्र प्रवृत्त्यभावः । बालस्यापि नियतमुपसर्पणं
क्रियोपलभ्यते । न च स्तन्याभिलाषलिङ्गमन्यदाहाराभ्यासकृतात्
स्मरणानुबन्धात् निमित्तं दृष्टान्तेनोपपाद्यते, न चासति
निमित्ते कस्यचिदुत्पत्तिः, न च दृष्टान्तो दृष्टमभिलाषहेतुं
बाधते, तस्मादयसोऽयस्कान्ताभिगमनमदृष्टान्त इति । अयसः
स्त्वपि नान्यत्र प्रवृत्तिर्भवति, न जात्वयो लोष्टमुपसर्पेति, किं
कृतोऽस्य नियम इति, यदि कारणनियमात्, स च क्रिया-
नियमलिङ्गः । एवं बालस्यापि नियतविषयोऽभिलाषः
कारणनियमाद्भवितुमर्हति, तच्च कारणमभ्यस्तस्मरणम् अन्यदेति
दृष्टेन विशिष्यते, दृष्टो हि शरीरिणामभ्यस्तस्मरणादाहाराभि-
लाष इति ॥ २४ ॥

इतश्च नित्य आत्मा । कस्मात् ?—

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २५ ॥

सुरागो जायत इत्यर्थादापद्यते । अयं जायमानो रागानु-
बन्धो जायते । रागस्य पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः, पूर्वानु-

समाधत्ते ।—ज्ञानपान एव बालः प्रवर्त्तते, न त्वन्येति नियमः कथं स्यात् ?
वस्तुतस्तु अन्यत्र चयसि प्रवृत्त्यभावात्, प्रवृत्तिर्हि चेष्टानुमिमा लिङ्गं, न तु क्रिया-
मात्रम्, अतो न व्यभिचार इति भावः ॥ २४ ॥

हेलन्तरमाह ।—वीतरागो रागव्यवहारीत्युच्यते, अपि तु सुरागः, तत्र च

भवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनि शरीरमन्तरेण नोपपद्यते,
सोऽयमात्मा पूर्वशरीरानुभूतान् विषयाननुस्मरन् तेषु तेषु
रज्यते ; तथा चायं द्वयोर्जन्मनोः प्रतिसन्धिः । एवं पूर्वशरीरस्य
पूर्वतरेण पूर्वतरस्य पूर्वतमेनेत्यादिनाऽनादिश्चेतनस्य शरीर-
योगः ; अनादिश्च रागानुबन्धः, इति सिद्धं नित्यत्वमिति ॥ २५ ॥

कथं पुनर्जायते पूर्वविषयानुचिन्तनजनितो जातस्य रागः ?
न पुनः,—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत् तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

यथोत्पत्तिधर्मकस्य द्रव्यस्य गुणाः कारणत उद्यन्ते,
तथोत्पत्तिधर्मकस्याऽऽत्मनो रागः कुतश्चिदुत्पद्यते, अत्रायमुदि-
तानुवादो निदर्शनार्थः ॥ २६ ॥

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्वागादीनाम् ॥ २७ ॥

न खलु सगुणद्रव्योत्पत्तिवदुत्पत्तिरात्मनो रागस्य च ।
कस्मात् ?—सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्वागादीनाम् । अयं खलु प्राणिनां
विषयान् आसेवमानानां सङ्कल्पजनितो रागो गृह्यते । सङ्कल्पश्च
पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनयोनिः, तेनानुमोयते,—जातस्यापि
पूर्वानुभूतार्थचिन्तनकृतो राग इति । आत्मोत्पादाधिकरणान्तु
रागोत्पत्तिर्भवन्तो सङ्कल्पादन्यस्मिन् रागकारणे सति वाच्या,
कार्यद्रव्यगुणवत् ; न चाऽऽत्मोत्पादः सिद्धः, नापि सङ्कल्पादन्य-
द्वागकारणमस्ति ; तस्मादयुक्तं सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तयोरुत्पत्ति-

जन्मान्तरीयेष्टसाधनताज्ञानाधीनस्मरणं हेतुरिति पूर्वैः सन्ध्याभिज्ञाप उक्तः ; सम्प्रति तु
पतन्याऽऽदीनां कणादिभञ्जणभिक्षावसाधारणं रागमात्मनित्वपीनरुक्तम् ॥ २५ ॥

इत्युक्ते ।—द्रव्यस्य घटादेः, यथा रुक्मस्य रूपादिविशिष्टस्य, उत्पत्तिः ; यथा
घटादिः स्वत एव रूपादिमान् भवति, तथेवाऽऽत्माऽपि स्वत एव सरागो भवतीत्य-
प्रयोजकत्वं त्वदीयहेतुत्वमिति भावः ॥ २६ ॥

समाधत्ते ।—सङ्कल्पो ज्ञानम्, इष्टसाधनताज्ञानम् इति यावत्, तन्निमित्तका हि

रिति । अथापि सङ्ख्यादन्यद्वागकारणं धर्माधर्मलक्षणमदृष्ट-
मुपादीयते, तथाऽपि पूर्वशरीरयोगोऽप्रत्याख्येयः । तत्र हि
तस्य निर्वृत्तिः, नास्मिन् जन्मनि, तन्मयत्वाद्वाग इति । विषया-
भ्यासः खल्वयं भावनाहेतुः तन्मयत्वमुच्यत इति । जातिविशेष-
षाच्च रागविशेष इति । कर्म खल्विदं जातिविशेषनिर्वर्तकम् ;
तादर्थ्यात्ताच्छब्दं विज्ञायते, तस्मादनुपपन्नं सङ्ख्यादन्य-
द्वागकारणमिति ॥ २७ ॥

“अनादिश्चेतनस्य शरीरयोगः” इत्युक्तम् । स्वकृतकर्मनिमित्तं
चास्य शरीरं सुखदुःखाधिष्ठानम् ; तत् परीक्ष्यते,—किं
प्राणादिवदेकप्रकृतिकम् ? उत नानाप्रकृति ? इति । कुतः
संशयः ?—विप्रतिपत्तेः संशयः ; पृथिव्यादीनि भूतानि सङ्ख्या-
विकल्पेन शरीरप्रकृतिरिति प्रतिजानत इति । किं तत्र तत्त्वम् ?—

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥

तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम् । कस्मात् ?—गुणान्तरोपलब्धेः ।
गन्धवती पृथिवी, गन्धवच्छरीरम्, अबादीनामगन्धवत्वात्
तत्प्रकृत्यगन्धं स्यात् ; न त्विदमबादिभिरसम्पृक्तया पृथिव्याऽऽरब्धं
चेष्टेन्द्रियार्थाऽऽश्रयभावेन कल्पते, इत्यतः पञ्चानां भूतानां संयोगे
सति शरीरं भवति, भूतसंयोगो हि मिथः पञ्चानां न निषिद्ध
इति । आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि, तेष्वपि
भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्र इति । स्थाल्यादिद्रव्यनिष्पत्तावपि
निःसंशया नाबादिसंयोगमन्तरेण निष्पत्तिरिति । * पार्थिवा-
ऽऽप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः । * निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेऽनुभूति-
रागादयः, तथा चेतसाधनताज्ञानत्वेन च्छात्वादिना कार्यकारणभावात्, प्रवृत्तित्वेन
चेष्टात्वेन च कार्यकारणभावान्नाप्रयोजकत्वमिति भावः ॥ २७ ॥

समाप्तमनादिनिधनप्रकरणम् ।

कामप्राप्ते शरीरपरीक्षणे मानुषाऽदिशरीरं पाञ्चभौतिकमित्येके । तत्र सिद्धान्त-

कम् । * * गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ।*
त इमे सन्दिग्धा हेतव इत्युपेक्षितवान् सूत्रकारः । कथं
सन्दिग्धाः ?—सति च प्रकृतिभावे भूतानां धर्मोपलब्धिः, असति
च संयोगाप्रतिषेधात् सन्निरुद्धितानामिति ; यथा स्थाल्यामुदक-
तेजोवाय्वाकाशानामिति । तदिदमनेकभूतप्रकृतिशरीरम् (भ)
अगन्धमरसमरूपमस्पर्शश्च प्रकृत्यनुविधानात् स्यात्, न त्विद-
मित्यभूतं, तस्मात् पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥

पार्थिवाऽऽप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ॥ २८ ॥ क ॥

निश्वासीच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ॥ २८ ॥ ख ॥

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौति-
कम् ॥ २८ ॥ ग ॥

सूत्रम् ।—मातृषाऽऽदिशरीरं पार्थिवं पृथिवीसमवायिकारणकं, गुणान्तरस्य गन्ध-
नीलाऽऽदिरूपकाठिन्यादेः, उपलब्धेरिति ॥ २८ ॥

मतान्तराभिधानाय त्रिसूत्री ।—तद्गुणानां पृथिव्यतेजोगुणानां गन्धस्पर्शोष्ण-
स्पर्शानाम्, उपलब्धेः । एतावता त्रिभौतिकत्वे सिद्धे निश्वासादितथातुर्भौतिकत्वम् ।
निश्वासीच्छ्वासो प्राणवायोर्व्यापारविशेषौ । क्लेदो जलविशेषः, जलमिश्रितपृथिवी वा,
इत्युभयथाऽपि जलमावश्यकम् । भुक्तान्नादेर्जठरानलैः पाकस्य तेजःसंयोगाचीनत्वात्तेजः-
सिद्धिः । व्यूहा निश्वासादिः । अवकाशदानं छिद्रम् । एतानि मतानि सुवक्तृणां
तुच्छत्वान्न दूषितानि । तथा हि, एकस्मिन् शरीरे पृथिवीलादिनामानाजतेः सङ्कराः
ऽऽपत्तेरसम्भवात्, न वा मानोपादानकत्वं, विज्ञातोद्यमानानारम्भकत्वात् ; तथात्वे वा
जलाद्यादरव्यस्य न पृथिवीत्वं, व्यभिचारात् ; न वा चिबद्रव्यं, गन्धवस्त्वविरोधान् ;
गन्धादीनामानाश्रयनपायाश्च पार्थिवत्वमित्युक्तप्रायम् ; यदा पार्थिवत्वे कथं जलादि-
सम्बन्धः ? इत्याशङ्क्या जलादिनिमित्तवशाच्चैर्भौतिकत्वादिव्यपदेश इत्याशयेन
त्रिसूत्री ॥ २८ ॥ क ॥ ख ॥ ग ॥

इति वृत्तिसम्मतानि अधिकसूत्राणि ।

(भ) भूतानां परस्पररोपनदं क्लेनेति यावत् ।

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ २६ ॥

“सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छतात्” इत्यत्र मन्त्रे “पृथिवीन्ते शरीरम्” इति श्रूयते, तदिदं प्रकृतौ विकारस्य प्रलयाभिधानमिति । “सूर्यं ते चक्षुः स्मृणोमि” इत्यत्र मन्त्रान्तरे “पृथिवीन्ते शरीरम्” इति श्रूयते, सेयं कारणाद्विकारस्य स्मृतिरभिधीयत इति । स्थाव्यादिषु च तुल्यजातीयानामेककार्याऽऽरम्भदर्शनात् भिन्नजातीयानामेककार्याऽऽरम्भानुपपत्तिः ॥ २६ ॥

अथेदानीमिन्द्रियाणि प्रमेयक्रमेण विचार्यन्ते, किमाव्यक्तिकानि ? आहोस्विद्भौतिकानि ? इति । कुतः संशयः ?—

कृष्णसारं सत्युपलम्भाद्वातिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥ ३० ॥

कृष्णसारं भौतिकं, तस्मिन्ननुपहते रूपोपलब्धिः, उपहते चानुपलब्धिरिति । व्यतिरिच्य कृष्णसारमवस्थितस्य विषय-स्योपलम्भः, न कृष्णसारप्राप्तस्य, न चाप्राप्यकारित्वमिन्द्रि-

पार्थिवत्वे युक्त्यन्तरमाह ।—“सूर्यन्ते चक्षुः स्मृणोमि” इति मन्त्रान्ते “पृथिवीं ते शरीरम्” इत्यभिधानात्, एवं प्रकृतौ विकारस्य लयाभिधाने “सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छतात्” इति मन्त्रान्ते “पृथिवीं ते शरीरम्” इति । इमां चतुःसूत्रीं केचन भाष्यतया वर्णयन्ति, तत्र ; तथा सत्येकसूत्रस्य प्रकरणत्वानुपपत्तेः ; अत एव चतुर्थे सूत्रमेवेत्यपरे । अन्ये तूक्तयेवानुपपत्त्या “आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरशरीराणि, तेष्पि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्रः” इति भाष्यं सूत्रतया वर्णयन्ति ; तदर्थस्तु,—आप्यादीनि लोकान्तरेषु वरुणलोकादिषु, प्रसिद्धानि शरीराणि । जलादिरूपत्वे कथमुपभोगक्षमता ? इत्यत्र तेक्षपीति ।—भूतसंयोगः पृथिव्युपलम्भः, पुरुषार्थतन्त्र उपभोगसम्पादकः ॥ २६ ॥

समाप्तं शरीरपरीक्षाप्रकरणम् ।

अथेन्द्रियं परीक्षणीयम् । तत्र लक्षणसूत्रीक्त-भौतिकत्वमिन्द्रियाणां परीक्षितं श्रयमाह ।—कृष्णसारं चक्षुर्गोलके, सति घटाद्युपलम्भाद्गोलकस्थेन्द्रियत्वमिति बौद्धाः । व्यतिरिच्य विषयं प्राप्य, उपलम्भात् उपलम्भजननात्, गोलकातिरिक्तानीत्यपरे । तत्र

याणाम् ; तदिदमभौतिकत्वे विभुत्वात् सम्भवति । एवमुभय-
धर्मोपलब्धेः संशयः ॥ ३० ॥

अभौतिकानि इत्याह । कस्मात् ?—

महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥

महदिति महत्तरं महत्तमं चोपलभ्यते ; यथा,—न्यग्रोध-
पर्वतादि । अखिल्यणुतरमणुतमञ्च गृह्यते ; यथा,—न्यग्रोध-
धानादि । तदुभयमुपलभ्यमानं चक्षुषो भौतिकत्वं बाधते,
भौतिकं हि यावत्, तावदेव व्याप्नोति, अभौतिकान्तु विभुत्वात्
सर्वव्यापकमिति ॥ ३१ ॥

न महदणुग्रहणमात्रादभौतिकत्वं विभुत्वञ्चेन्द्रियाणां शक्यं
प्रतिपत्तुम् । इदं खलु,—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् ॥ ३२ ॥

तयोर्महदखोर्यग्रहणं चक्षुरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद्
भवति ; यथा,—प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति । रश्म्यर्थसन्निकर्षश्चा-
ऽऽवरणलिङ्गः, चाक्षुषो हि रश्मिः कुक्षादिभिरावृतमर्थं न
प्रकाशयति ; यथा,—प्रदीपरश्मिरिति ॥ ३२ ॥

इन्द्रियाणि गोलकातिरिक्तानि न वेति संशयः । गोलकातिरिक्तानि न वेति नैयायिकाऽऽदयः ।
तत्राप्यतीतिकान्याहङ्कारिकाणीति साङ्ख्याः, भौतिकान्तोत्परे ॥ ३० ॥

तत्र साङ्ख्यमतेन बौद्धमतमुदत्तप्राह ।—गोलकं चेन्द्रियम्, अप्राप्यकारित्वेऽति-
प्रसङ्गात् ; इत्यस्य गोलकातिरिक्तं भौतिकमिति वाच्यम्, तदप्यसङ्गतम् । अक्षुषा हि
न्यूनपरिमाणं महत्परिमाणञ्च गृह्यते । न च न्यूनं महतो व्यापं सम्भवति, न च
अव्याप्य गृह्यतम्, अतोऽभौतिकानोन्द्रियाण्याहङ्कारिकाणीति ॥ ३१ ॥

साङ्ख्य निरस्यति ।—रश्मिर्गोलकावच्छिन्न तेजः, तेनाथस्य सटादेः, यः सन्निकर्ष-
विशेषः संयोगविशेषः, तच्चात्, तयोर्महदखोः, यदणुमुपपद्यते ; भौतिकेऽपि प्रदीषादी
महदणुप्रकाशकत्वं दृष्टम्, अभौतिकत्वे तु पुरःपश्चादतिनां सर्वेषामेव मह-
त्त्वात् ॥ ३२ ॥

आवरणानुमेयत्वे सतीदमाह,—

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३३ ॥

रूपस्पर्शवदि तेजः, महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वादूपवत्त्वाच्चोप-
लब्धिरिति । प्रदीपवत् प्रत्यक्षत उपलभ्येत, चक्षुषो रश्मिर्यदि
स्यादिति ॥ ३३ ॥

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेर-
भावहेतुः ॥ ३४ ॥

सन्निकर्षप्रतिषेधार्थेनाऽऽवरणेन लिङ्गेनानुमीयमानस्य
रश्मेर्या प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिः, नासावभावं प्रतिपादयति ;
यथा,—चन्द्रमसः परभागस्य, पृथिव्याश्चाधोभागस्य ॥ ३४ ॥

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३५ ॥

भिन्नः स्वत्वयं द्रव्यधर्मो गुणधर्मश्च, महदनेकद्रव्यवच्च विभ-
क्तावयवमाप्यं द्रव्यं प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते, स्पर्शस्तु शीतो गृह्यते,
तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् हेमन्तशिशिरौ कल्पेते । तथाविध-
मेव च तेजसं द्रव्यमनुभूतरूपं सह रूपेण नोपलभ्यते, स्पर्श-
स्त्वस्योष्ण उपलभ्यते, तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् श्रौणवसन्तौ
कल्पेते ॥ ३५ ॥

तेजसि चक्षुष्यनुपलब्धिबाधं बौद्धः शङ्कते ।—रश्मयंसन्निकर्षो न हेतुः, गोलकाति-
रिक्तस्य रश्मेरनुपलब्धेः ॥ ३३ ॥

समाधत्ते ।—रूपोपलब्धेः सुकरणकत्वादिनाऽनुमीयमानस्य चक्षुषः प्रत्यक्षतोऽनुप-
लब्धिनभावनिर्वाधिकेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

कथं तर्हि नोपलब्धः ? इत्यत आह ।—द्रव्यस्य धर्मभेदो महत्त्वादिः, गुणस्य धर्म-
भेदः उज्ज्वलत्वं, तदधीनत्वात् प्रत्यक्षस्य द्रव्यभावे उपलब्धिर्न नियमः, यतोऽनुभूतरूपं
महत्त्वादिकं, तस्य प्रत्यक्षं, तदभावाच्चक्षुरादेरप्रत्यक्षम् ॥ ३५ ॥

यत त्वेषा भवति,—

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ३६ ॥

यत्र रूपञ्च द्रव्यञ्च तदाश्रयः प्रत्यक्षत उपलभ्यते रूप-
विशेषस्तु, यद्भावात् कचिद्रूपोपलब्धिः, यदभावाच्च द्रव्यस्य
कचिदनुपलब्धिः, स रूपधर्मोऽयमुद्भवसमाख्यात इति । अनुद्भूत-
रूपस्यार्थं नायनो रश्मिः, तस्मात्प्रत्यक्षतो नोपलभ्यत इति ।
दृष्टञ्च तेजसो धर्ममेदः । उद्भूतरूपस्यार्थं प्रत्यक्षं तेजः ; यथा,—
आदित्यरश्मयः । उद्भूतरूपमनुद्भूतस्यार्थञ्च प्रत्यक्षम् ; यथा,—
प्रदीपरश्मयः । उद्भूतस्यार्थमनुद्भूतरूपमप्रत्यक्षम् ; यथा,—
अन्नादिसंगुक्तं तेजः । अनुद्भूतरूपस्यार्थोऽप्रत्यक्षः,—चाक्षुषो
रश्मिरिति ॥ ३६ ॥

कर्मकारित्येन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ३७ ॥

यथा चेतनस्यार्थो विषयोपलब्धिभूतः सुखदुःखोपलब्धि-
भूतश्च कल्पयते, तथेन्द्रियाणि व्यूहानि । विषयप्राप्त्यर्थञ्च रश्मे-
श्चाक्षुषस्य व्यूहः, रूपस्यार्थानभिव्यक्तिश्च व्यवहारप्रकृत्यर्था,
द्रव्यविशेषे च प्रतीघातादावरणोपपत्तिर्व्यवहारार्था, सर्व-
द्रव्याणां विश्वरूपो व्यूह इन्द्रियवत्कर्मकारितः पुरुषार्थतन्त्रः ।
कर्म तु धर्माधर्मभूतं चेतनस्योपभोगार्थमिति ॥ ३७ ॥

अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः ॥ ३८ ॥

यथाऽऽवरणोपलब्ध्यादिन्द्रियस्य द्रव्यविशेषे प्रतीघातः, स
भौतिकधर्मो न भूतानि व्यभिचरति, नाभौतिकं प्रतिघात-
धर्मकं दृष्टमिति । अप्रतिघातस्तु व्यभिचारी, भौतिकाभौति-

चक्षुरादावुद्भूतरूपमेव न कुतः ? इत्याशङ्कायां भाष्यम् ।—अदृष्टविशेषाधीन
इन्द्रियाणां व्यूहो रचनाविशेष उपभोगसाधनमिति । स्वमेवेदमिति केचित् ॥ ३७ ॥

कयोः समानत्वादिति । यदपि मन्यते प्रतिघाताङ्गीतिकानीन्द्रियाणि, अप्रतिघातादभीतिकानीति प्राप्तम् ; दृष्टश्चाप्रतिघातः काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः, तन्न युक्तम् ; कस्मात् ?—यस्माङ्गीतिकमपि न प्रतिहन्यते काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितप्रकाशात् प्रदीपरश्मीनाम् ; स्याद्व्यादिषु पाचकस्य तेजसोऽप्रतिघातः ॥ ३८ ॥

उपपद्यते चानुपलब्धिः कारणभेदात् ।—

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥ ३९ ॥

यथाऽनेकद्रव्येण समवायादूपविशेषाच्चोपलब्धिरिति, सत्युपलब्धिकारणे मध्यन्दिनोल्काप्रकाशो नापलभ्यते आदित्यप्रकाशेनाभिभूतः ; एवं सहदनेकद्रव्यवत्त्वादूपविशेषाच्चोपलब्धिरिति । सत्युपलब्धिकारणे चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते निमित्तान्तरतः, तच्च व्याख्यातम्, अनुद्भूतरूपस्यार्शद्रव्यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरिति । अत्यन्तानुपलब्धिसाभावकारणम् ॥ ३९ ॥

यो हि ब्रवीति लोष्टप्रकाशो मध्यन्दिने आदित्यप्रकाशाभिभवाक्षोपलभ्यत इति, तस्यैतत् स्यात्,—

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४० ॥

अप्यनुमानतोऽनुपलब्धिरिति । एवमत्यन्तानुपलब्धेर्लोष्टप्रकाशो नास्ति, न त्वेवं चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ४० ॥

सहती रूपवतोऽनुपलब्धौ दृष्टान्तमाह ।—सहती रूपवतश्चोल्काप्रकाशश्च सौराऽऽलोकेनाभिभवात्तन्मध्यन्दिनेऽनुपलब्धिवदनुद्भूतरूपवत्त्वाच्चक्षुषोऽप्यनुपलब्धः सत्त्वतीति भावः ॥ ३९ ॥

नन्वेवं चटादेरपि रश्मिः जातः, सौराऽऽलोकेनाभिभवात् पुनरप्यह इत्यवाऽऽह ।—नित्यं चटादी रश्मिरिति श्रेष्ठः ॥ ४० ॥

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४३ ॥

दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनां,
तेन शेषस्यानुमानमिति । जातिभेदवदिन्द्रियभेद इति चेत्, धर्ममात्रं
चानुपपन्नम् । आवरणस्य प्राप्तिप्रतिषेधार्थस्य दर्शनादिति ॥ ४३ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वानुपपत्तिः । कस्मात् ?—

अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्त-

रितोपलब्धिः ॥ ४४ ॥

दृष्टादिसर्पदृश्यं काचेऽभ्रपटले वा प्रतिहतं दृष्टम्, अव्यव-
हितेन सन्निकृत्यते, व्यवहृत्यते वै प्राप्तिसर्ववधानेनेति । यदि च
रश्मयर्थसन्निकर्षो ग्रहणहेतुः स्यात्, न व्यवहितस्य सन्निकर्ष
इत्यग्रहणं स्यात् । अस्ति चेयं काचाभ्रपटलस्फटिकान्त-
रितोपलब्धिः, सा ज्ञापयत्यप्राप्यकारौणि इन्द्रियाणि, अत एवा-
भौतिकानि ; प्राप्यकारित्वं हि भौतिकधर्म इति ॥ ४४ ॥

न कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४५ ॥

अप्राप्यकारित्वे सतीन्द्रियाणां कुड्यान्तरितस्यानुपलब्धिर्न
स्यात् ॥ ४५ ॥

अनुपपि प्रमाथान्तरमपि ।—नक्तञ्चराणां वृषदंशाऽऽदीनां गोलके रश्मिदर्शनात्
तद्वृष्टानेन परेवानपि रश्मानुमानमिति भावः ; अन्यथा तमसि तस्य प्रत्यक्षं न
जादिति वदयन् ॥ ४३ ॥

अप्राप्यकारित्वं अनुपपि स्यादित्याशङ्कते ॥ ४४ ॥

समाधत्ते ।—परे तु उक्तस्य पूर्वपक्षपरत्वं नान्यमानस्य सप्राप्यकारित्वावतरणिका
अप्राप्यग्रहणमिति ; वस्तुतः सिद्धान्तमेव । तत्रदौषट्टान्तेन काचाद्यन्त-
रितप्रकाशकत्वेन तेजसत्वं सिध्यतीति । नन्वप्राप्यकारित्वं किं न स्यात् ? अत्राऽऽह,
कुड्येति ।—उक्तस्य तेजसत्वं प्रतिषेधो गोलकाऽऽत्मकत्वं न सम्भवति, कुड्यान्तरित-
स्यानुपलब्धेरित्याहुः ॥ ४५ ॥

प्राप्यकारित्वेऽपि तु काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोप-
लब्धिर्न स्यात् ।—

अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४६ ॥

न च काचोऽभ्रपटलं वा नयनरश्मिं विष्टभाति, सोऽप्रति-
हृत्यमानः सन्निकृत्यत इति ॥ ४६ ॥

यश्च मन्यते न भौतिकस्याप्रतीघात इति, तच्च,—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरेऽपि दाहोऽवि-
घातात् ॥ ४७ ॥

आदित्यरश्मेरविघातात्, स्फटिकान्तरेऽप्यविघातात्,
दाहोऽविघातात् । अविघातादिति च पदाभिसम्बन्धभेदाद्वाक्य-
भेद इति । यथा वाक्यस्वार्थभेद इति । प्रतिवाक्यं वाक्यार्थभेदः ।
आदित्यरश्मिः कुम्भादिषु न प्रतिहृत्यते, अविघातात् कुम्भास्थ-
मुदकं तपति, प्राप्नोति हि द्रव्यान्तरगुणस्य उष्णस्पर्शस्य
ग्रहणं, तेन च शीतस्पर्शाभिभव इति । स्फटिकान्तरेऽपि
प्रकाशनौये प्रदीपरश्मीनामप्रतिघातः, अप्रतिघातात् प्राप्तस्य
ग्रहणमिति । भर्जनकपालादिस्थस्य द्रव्यमाग्नेयेन तेजसा दह्यते,
तत्राविघातात् प्राप्तिः, प्राप्नोति तु दाहः, नाप्राप्यकारि तेज इति ।
अविघातादिति च केवलं पदमुपादौयते । कोऽयमविघातो
नाम ? अव्यूह्यमानावयवेन व्यवधायकेन द्रव्येण सर्वतो द्रव्य-
स्याविष्टम्, क्रियाहेतोरप्रतिबन्धः, प्राप्तेरप्रतिषेध इति । इष्टं
हि कलशनिषक्तानामपां वह्निः शीतस्पर्शस्य ग्रहणम् ; न च

ननु कुम्भाकारित इव काचान्तरेऽपि सन्निकर्षो न सम्भवतीति तत्र प्राप्य-
कारित्वम् ? इत्याशङ्क्यामाह ।— काचादिना सन्निकृत्योच्चाप्रतिघातादप्रतिबन्धान्ते,
सन्निकर्ष उपपद्यत इति भावः ॥ ४६ ॥

इन्द्रियेणासन्निकृष्टस्य द्रव्यस्य स्पर्शोपलब्धिः ; दृष्टौ च प्रत्यन्द-
परिस्रवौ, तत्र काचाभ्रपटलादिभिर्नयनरश्मेरप्रतिघाताद्विभि-
द्यार्थेन सह सन्निकर्षादुपपदं ग्रहणमिति ॥ ४७ ॥

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥

काचाभ्रपटलादिवद्वा कुड्यादिभिरप्रतिघातः, कुड्यादि-
वद्वा काचाभ्रपटलादिभिः प्रतिघातः, इति नियमे कारणं
वाच्यमिति ॥ ४८ ॥

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोप-
लब्धिवत् तदुपलब्धिः ॥ ४९ ॥

आदर्शोदकयोः प्रसादो रूपविशेषः स्वो धर्मो नियमदर्श-
नात्, प्रसादस्य वा स्वो धर्मो रूपोपलब्धनम् ; यथाऽऽदर्श-
प्रतिहतस्य परावृत्तस्य नयनरश्मेः स्वेन मुखेन सन्निकर्षे
सति स्वमुखोपलब्धनं प्रतिविम्बग्रहणाऽऽख्यमादर्शरूपानुग्रहात्
तन्निमित्तं भवति, आदर्शरूपोपघाते तदभावात् कुड्यादिषु च
प्रतिविम्बग्रहणं न भवति ; एवं काचाभ्रपटलादिभिरविघातश्चक्षू-
रश्मेः कुड्यादिभिश्च प्रतिघातो द्रव्यस्वभावनियमादिति ॥ ४९ ॥

तत्र दृष्टान्तमाह ।—दाह्य इति वस्तुमात्रोपलक्षणम् ; परे तु दाह्ये कपालादौ
वज्रादेरविघातपरं तदित्याहुः ॥ ४७ ॥

आचिपति ।—अप्रतिघातो न युक्तः, इतरस्य स्फटिकादेः, इतरस्य कुड्यादेः, यो
धर्मः प्रतिघातकत्वं, तत्रप्रसङ्गात् ; स्फटिकादिकमपि कुड्यादिवत्प्रतिबन्धकं भवे-
दित्यर्थः ॥ ४८ ॥

समाधत्ते ।—आदर्शे उदके च प्रसादस्वाभाव्यात् स्वच्छस्वभावत्वात्, सुखादि-
रूपोपलब्धिः, न तु भित्त्यादौ, एवं स्फटिकाद्यन्तरितस्थोपलब्धिः, न तु कुड्याद्यन्त-
रितस्थेति स्वाभाव्यान् दोषः । एतेन वज्रादेर्वटादिनाऽप्रतिघातवच्चक्षुषोऽपि प्रतिघातो
न स्यादिति प्रयुक्तम् ; वज्राद्यप्रतिबन्धेऽपि दीपाऽऽलोकादेः प्रतिबन्धसम्भवादिति
भावः ॥ ४९ ॥

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तः ॥ ५० ॥

प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वात् न खलु भोः ! परीक्षमाणेन
दृष्टानुमिता अर्थाः शक्या नियोक्तुमेवं भवतेति, नापि प्रति-
षेद्धमेवं मा भवतेति । न हीदमुपपद्यते रूपवद्बन्धोऽपि चानुषो-
भवत्विति ; गन्धवद्वा रूपञ्चानुषं मा भूदिति । अग्निप्रतिपत्ति-
वद्भूमेनोदकप्रतिपत्तिरपि भवत्विति, उदकाप्रतिपत्तिवद्वा धूमे-
नाग्निप्रतिपत्तिरपि मा भूदिति । किं कारणम् ?—यथा खल्वर्थ्या
भवन्ति, य एषां स्त्रो भावः स्त्रो धर्म इति, तथाभूताः प्रमाणेन
प्रतिपद्यन्त इति, तथाभूतविषयकं हि प्रमाणमिति । इमौ खलु
नियोगप्रतिषेधौ भवतादेशितौ, काचाभ्रपटलादिवद्वा कुड्या-
ऽऽदिभिरप्रतिघातो भवतु, कुड्याऽऽदिवद्वा काचाभ्रपटलादिभि-
रप्रतिघातो मा भूदिति । न दृष्टानुमिताः खल्विमे द्रव्यधर्माः,
प्रतिघाताप्रतिघातयोर्ह्युपलब्ध्यानुपलब्धौ व्यवस्थापिके ; व्यव-
हितानुपलब्ध्याऽनुमीयते कुड्यादिभिः प्रतिघातः, व्यवहितोप-
लब्ध्याऽनुमीयते काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघात इति ॥ ५० ॥

अथापि खल्वेकमिदमिन्द्रियम् ? बहूनीन्द्रियाणि वा ?
 कृतः संशयः ?—

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च
संशयः ॥ ५१ ॥

बह्विनि द्रव्याणि नानास्थानानि दृश्यन्ते, नानास्थानव

चक्षुषस्तादृशत्वकल्पने किं मानम् ? इत्यत्राऽऽह ।— हि यस्मात्, दृष्टानामनुमितानां वा पदार्थानां, दृष्टेयानुमितानामिति वाऽर्थः, तेषामेवं भवतेति निबोधः, एवं न भवतेति प्रतिषेधो वा बोधपद्यते ; युक्त्यनुसाराच्च हि कल्पनेति भावः ॥ ५० ॥

सुमाप्तमिन्द्रियपरीक्षाप्रवरणम् ।

दर्शनस्पर्शनाभ्यामित्यादिकमिन्द्रियनानात्वे युज्यते, इत्युपोद्घातेनेन्द्रियनानात्वं

सन्नेकोऽवयवी चेति । तेनेन्द्रियेषु भिन्नस्थानेषु संशय
ज्ञाते ॥ ५१ ॥

एकमिन्द्रियम्,—

त्वगव्यतिरेकात् ॥ ५२ ॥

त्वगेकमिन्द्रियमित्याह । कस्मात् ?—अव्यतिरेकात् । न
त्वचा किञ्चिदिन्द्रियाधिष्ठानं न प्राप्तम् । न चासत्यां त्वचि
किञ्चिद्विषयग्रहणं भवति । यथा सर्वेन्द्रियस्थानानि व्याप्तानि,
यस्याश्च सत्यां विषयग्रहणं भवति, सा त्वगेकमिन्द्रियमिति ॥ ५२ ॥

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ॥ ५३ ॥

स्पर्शोपलब्धिलक्षणायां सत्यां त्वचि गृह्यमाणे त्वगिन्द्रियेण
स्पर्शे इन्द्रियान्तरार्था रूपाऽऽदयो न गृह्यन्ते अन्धादिभिः, न
स्पर्शग्राहकादिन्द्रियान्तरमस्तौति स्पर्शवदन्धादिभिर्गृह्येरन्
रूपादयः, न च गृह्यन्ते, तस्मान्नैकमिन्द्रियं त्वगिति ॥ ५३ ॥

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ ५४ ॥

यथा त्वचोऽवयवविशेषः कश्चिच्चक्षुषि सन्निकटो धूमस्पर्शं
गृह्णाति, नान्यः, एवं त्वचोऽवयवविशेषो रूपादिग्राहकः,
तेषामुपघातादन्धादिभिर्न गृह्यन्ते रूपादय इति ॥ ५४ ॥

व्याहतत्वादहेतुः ॥ ५५ ॥

त्वगव्यतिरेकादेकमिन्द्रियमित्युक्त्वा त्वगवयवविशेषेण
धूमोपलब्धिवद्रूपोपलब्धिरित्युच्यते ; एवञ्च सति नानाभूतानि

परीक्षणीयम् ; तत्र संशयमाह ।—स्थानान्यत्वे स्थानभेदे, घटपटाऽऽदीनां मानात्वदर्श-
नामानाऽवयवस्थितस्यावयविन एकत्वदर्शनाच्च इन्द्रियाणां मानात्वमेकत्वं वेति
संशयः ॥ ५५ ॥

पूर्वपक्षसम्बन्धम् ।—सर्वेन्द्रियप्रदेशेष्वव्यतिरेकात् सत्त्वात्, त्वगेवैकमिन्द्रिय-
मस्य ॥ ५५ ॥

विषयग्रहणाणि विषयव्यवस्थानात्, तद्भावे विषयग्रहणस्य
भावात् तदुपघाते चाभावात् ; तथा च पूर्वं वाद उत्तरेण
वादेन व्याहन्यत इति । सन्दिग्धस्याव्यतिरेकः । पृथिव्यादिभि-
रपि भूतैरिन्द्रियाधिष्ठानानि व्याप्तानि, न च तेष्वसत्त्वं
विषयग्रहणं भवतीति । तस्मान्न त्वगन्यद्वा सर्वविषयकमेक-
मिन्द्रियमिति ॥ ५५ ॥

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५६ ॥

आत्मा मनसा सम्बध्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं सर्वार्थैः
सन्निकष्टमिति, आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षेभ्यो युगपद्ग्रहणानि
स्युः, न च युगपद्रूपाऽऽदयो गृह्यन्ते, तस्मान्नैकमिन्द्रियं
सर्वविषयमस्तीति । असाहचर्याच्च विषयग्रहणानां नैकमिन्द्रियं
सर्वविषयकं, साहचर्यं हि विषयग्रहणानामन्याद्यनुपपत्ति-
रिति ॥ ५६ ॥

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५७ ॥

न खलु त्वगेकमिन्द्रियं, व्याघातात् ; त्वचा रूपाण्यप्राप्तानि
गृह्यन्ते इति । अप्राप्यकारित्वे स्पर्शाऽऽदिष्वप्येवं प्रसङ्गः । स्पर्शा-
दीनाञ्च प्राप्तानां ग्रहणाद्रूपादीनामप्राप्तानामग्रहणमिति
प्राप्तम् । * प्राप्याप्राप्यकारित्वमिति चेत्, आवरणानुपपत्ते-
र्विषयमात्रस्य ग्रहणम् * अथापि मन्येत, प्राप्ताः स्पर्शाऽऽदयस्त्वचा
गृह्यन्ते, रूपाणि त्वप्राप्तानीति । एवं सति नास्यावरणम्,
आवरणानुपपत्तेश्च रूपमात्रस्य ग्रहणं व्यवहितस्य चाव्यव-
हितस्य चेति । * दूरान्तिकानुविधानञ्च रूपोपलब्ध्यानुपलब्धयोर्न

उत्तरयति ।—युगपत् एकदा, अर्थानां मन्वद्रूपाऽऽदीनाम्, अनुपलब्धेर्न त्वगे-
केकमिन्द्रियम्, अन्यथा तस्य व्यापकत्वाच्चानुपादिकाखे प्राप्याऽऽदिकमपि सादृश्या-
भावः ॥ ५६ ॥

स्यात् * अप्राप्तं त्वचा गृह्यते रूपमिति दूरे रूपस्याग्रहण-
मन्तिके च ग्रहणमित्येतन्न स्यादिति ॥ ५७ ॥

एकत्वप्रतिषेधाच्च नानात्वसिद्धौ स्थापनाहेतुरप्युपादीयते,—

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥ ५८ ॥

अर्थः प्रयोजनम् ; तत् पञ्चविधमिन्द्रियाणां, स्पर्शनेनेन्द्रि-
येण स्पर्शग्रहणे सति न तेनैव रूपं गृह्यते, इति रूपग्रहण-
प्रयोजनं चक्षुरनुमीयते । स्पर्शरूपग्रहणे च ताभ्यामेव गन्धो
न गृह्यते, इति गन्धग्रहणप्रयोजनं घ्राणमनुमीयते । त्रयाणां
ग्रहणे न तैरेव रसो गृह्यते, इति रसग्रहणप्रयोजनं रसनमनु-
मीयते । न चतुर्णां ग्रहणे तैरेव शब्दः श्रूयते, इति शब्दग्रहण-
प्रयोजनं श्रोत्रमनुमीयते । एवमिन्द्रियप्रयोजनस्यानितरेतर-
साधनसाध्यत्वात् पञ्चैवेन्द्रियाणि ॥ ५८ ॥

न तदर्थबहुत्वात् ॥ ५९ ॥

न खल्विन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणीति सिध्यति ।
कस्मात् ?—तेषामर्थानां बहुत्वात् ; बहवः खल्विमे इन्द्रियार्थाः,
स्पर्शास्तावच्छीतोष्णानुष्णशीता इति ; रूपाणि शुक्लहरिता-
दीनि ; गन्धा इष्टानिष्टोपेक्षणीयाः ; रसाः कटुकादयः ; शब्दाः
वर्णाऽऽत्मानो ध्वनिमात्राश्च भिन्नाः ; तद्यस्येन्द्रियार्थपञ्चत्वात्पञ्चे-
न्द्रियाणि, तस्येन्द्रियार्थबहुत्वाद्बह्वीन्द्रियाणि प्रसज्यन्ते
इति ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां नानात्वे कार्यभेदमानमाह ।—इन्द्रियार्थानामिन्द्रियग्राह्याणां रूपा-
ऽऽदीनां, पञ्चत्वात् पञ्चविधत्वात्, रूपाऽऽदीनां हि चक्षुराद्येकैकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्दे-
वचक्षणं, तच्चैकेन्द्रियपक्षे न सम्भवति, अस्याऽऽदीनां रूपाद्युपलब्धिप्रसङ्गश्चेति भावः ॥ ५८ ॥

शङ्कते ।—इन्द्रियार्थानां नीलपीताऽऽदीनां बहुत्वाद्विन्द्रियाणां बहुत्वप्रसङ्गा-
द्विन्द्रियार्थपञ्चत्वाद्विन्द्रियभेदो न युक्तः ॥ ५९ ॥

गन्धत्वादव्यतिरेकात् गन्धाऽऽदीनामप्रतिषेधः ॥ ६० ॥

गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्थानां गन्धाऽऽदीनां यानि गन्धाऽऽदिग्रहणानि, तान्यसमानसाधनसाध्यत्वाद्ग्राहकान्तराणि प्रयोजयन्ति । अर्थसमूहोऽनुमानसूक्तः, नार्थकदेशः, अर्थैकदेशश्चाऽऽश्रित्य विषयपञ्चत्वमात्रं भवान् प्रतिषेधति, तस्मादयुक्तोऽयं प्रतिषेध इति । कथं पुनर्गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था गन्धादयः ? इति ।—स्पर्शः स्वस्वयं त्रिविधः, शीत उष्णोऽनुष्णशीतश्च स्पर्शत्वेन स्वसामान्येन सङ्गृहीतः, गृह्यमाणे च शीतस्पर्शं नोष्णस्यानुष्णाशीतस्य वा ग्रहणं ग्राहकान्तरं प्रयोजयति, स्पर्शभेदानामेकसाधनसाध्यत्वात् ; येनैव शीतस्पर्शो गृह्यते, तेनैवेतरावप्रीति । एवं गन्धत्वेन गन्धानां, रूपत्वेन रूपाणां, रसत्वेन रसानां, शब्दत्वेन शब्दानामिति । गन्धादिग्रहणानि पुनरसमानसाधनसाध्यत्वात् ग्राहकान्तराणां प्रयोजकानि, तस्मादुपपन्नमिन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणीति ॥ ६० ॥

यदि सामान्यं सङ्ग्राहकं, प्राप्तमिन्द्रियाणाम्,—

विषयत्वादव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ६१ ॥

विषयत्वेन हि सामान्येन गन्धादयः सङ्गृहीता इति ॥ ६१ ॥

समाधत्ते ।—उक्तप्रतिषेधो च, गन्धाऽऽदीनां सौरभाऽऽदीनां, गन्धत्वादव्यतिरेकात् गन्धत्वाऽऽदिसत्तात् ; तथा च गुणविभाजकगन्धत्वावच्छिन्नग्राहकत्वमभिप्रेतं, न त्वान्तराधर्मावच्छिन्नग्राहकत्वमिति भावः ॥ ६० ॥

यदि गन्धत्वाऽऽदिना सुरभादीनामेकं, तदा विषयत्वेन गन्धरसाऽऽदीनामप्येकादिन्द्रियैकं स्यादिति शङ्कते ।—विषयत्वादव्यतिरेकात् विषयत्वेनैकात् ॥ ६१ ॥

न बुद्धिलक्षणाधिष्ठान-गत्याकृति-जातिपञ्च-
त्वेभ्यः ॥ ६२ ॥

न खलु विषयत्वेन सामान्येन कृतव्यवस्था विषया ग्राह-
कान्तरनिरपेक्षा एकसाधनग्राह्या अनुमीयन्ते ; अनुमीयन्ते
च पञ्च गन्धाऽऽदयो गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृत-व्यवस्था
इन्द्रियान्तरग्राह्याः, तस्मादसम्बद्धमेतत् । अयमेव चार्थोऽनूद्यते
बुद्धिलक्षणपञ्चत्वादिति ।—बुद्ध्य एव लक्षणानि विषयग्रहण-
लिङ्गत्वादिन्द्रियाणाम् ; तदेतदिन्द्रियार्थपञ्चत्वादित्येतस्मिन्
सूत्रे कृतभाष्यमिति । तस्माद्बुद्धिलक्षणपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि ।
अधिष्ठानान्यपि खलु पञ्च इन्द्रियाणाम् ; सर्वशरीराधिष्ठानं
स्पर्शनं स्पर्शग्रहणलिङ्गम् ; कृष्णसाराधिष्ठानं चक्षुर्वर्हिर्निःसृतं
रूपग्रहणलिङ्गम् ; नासाऽधिष्ठानं घ्राणम् ; जिह्वाऽधिष्ठानं
रसनम् ; कर्णच्छिद्राधिष्ठानं श्रोत्रम् ; गन्धरसरूपस्पर्शशब्दग्रहण-
लिङ्गत्वादिति । गतिभेदादपीन्द्रियभेदः ; कृष्णसारोपनिबद्धं
चक्षुर्वर्हिर्निःसृत्य रूपाधिकरणानि द्रव्याणि प्राप्नोति । स्पर्शना-
द्रीनि त्विन्द्रियाणि विषया एवाश्रयोपसर्पणात् प्रत्यासीदन्ति ।
सन्तानवृत्त्या शब्दस्य श्रोत्रप्रत्यासत्तिरिति । आकृतिः खलु परि-
माणमियत्ता ; सा पञ्चधा ;—स्वस्थानमात्राणि घ्राणरसनस्पर्श-
नानि विषयग्रहणेनानुमेयानि । चक्षुः कृष्णसाराऽऽश्रयं
वर्हिर्निःसृतं विषयव्यापि । श्रोत्रं नान्यदाकाशात्, तच्च विभु
शब्दमात्रानुभवानुमेयं पुरुषसंस्कारोपग्रहाच्चाधिष्ठाननियमेन

सत्तरयति ।—इन्द्रियाणामैकं न । हेतुमाह, बुद्धीत्यादि ।—बुद्धेश्चक्षुषादेः,
ग्रहणं चाक्षुषत्वादि, तत्पक्षत्वेन तदवच्छिन्नकरणानां पञ्चत्वम्, एवमधिष्ठानं रूपादि-
विषयः, तत्पञ्चत्वात्, गतिः दूरादौ वसनम्, इदं चक्षुरधिष्ठित्य ; यद्वा,—गतिः प्रकारः,
तस्मात् च प्रकाराणां पञ्चत्वात् चक्षुर्निःसृत्य गत्या गृह्णाति, लब्धेऽवच्छेदेन, शीघ्रं

शब्दस्य व्यञ्जकमिति । जाविरिति योनिं प्रचक्षते, पञ्च
स्वास्तिन्द्रिययोनयः पृथिव्यादीनि भूतानि, तस्मात् प्रकृति-
प्रज्ञत्वादपि पञ्चेन्द्रियाणीति सिद्धम् ॥ ६२ ॥

कथं पुनर्ज्ञायते भूतप्रकृतौ नोन्द्रियाणि, नाव्यक्तप्रकृतौ ?
इति ।—

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ ६३ ॥

दृष्टो हि वायवादीनां भूतानां गुणविशेषाभिव्यक्तिनियमः,
वायुः स्पर्शव्यञ्जकः, आयो रसव्यञ्जिकाः, तेजो रूपव्यञ्जकं,
यार्थिवं किञ्चिद्द्रव्यं कस्यचिद्द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम् । अस्ति
चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः, तेन भूतगुण-
विशेषोपलब्धेर्मन्यामहे भूतप्रकृतौ नोन्द्रियाणि, नाव्यक्तप्रकृतौ-
नीति ॥ ६३ ॥

गन्धादयः पृथिव्यादिगुणा इत्युपदिष्टम्, उद्देशश्च पृथि-
व्यादीनामेकगुणत्वे समानः ; इत्यत आह,—

**गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः
अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याऽऽकाशस्योत्तरः ॥ ६४ ॥**

स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिविपरिणामः, आकाशस्योत्तरः
शब्दः स्पर्शपर्यन्तेभ्य इति । कथं तरपनिर्देशः ?—सतन्त्रविनि-

कर्षावच्छेदेनेत्यादिप्रकारभेदात्, अक्षयिः शीतलाऽऽदीनां संस्थानविशेषः, जातिः
पृथिवीत्वादिः, वस्तुतो जातिः धर्मः, तेन शीतलसङ्गः ॥ ६२ ॥

प्राणादेः पृथिवीत्वादिसत्त्वे मानमाह ।—भूतानां पृथिव्यादीनां, ये गुणविशेषा
गन्धाऽऽदयः, तदुपलब्धकत्वम् कुक्षुमगन्धामिव्यञ्जकतादिदृष्टान्तेन पृथिवीत्वादिसाधन-
मिति भावः ॥ ६१ ॥

समाप्तमिन्द्रियानालप्रकरणम् ।

कस्यप्राप्तिपरीक्षणाय सिद्धान्तसूत्रम् ।—स्पर्शपर्यन्तेषु मध्ये पूर्वं पूर्वं व्यञ्जना-

योगसामर्थ्यात् ; तेनोत्तरशब्दस्य परार्थाभिधानं विज्ञायते ।
उद्देशसूत्रे हि स्पर्शपर्यन्तेभ्यः परः शब्द इति । तन्न वा,
स्पर्शस्य विवर्चितत्वात् स्पर्शपर्यन्तेषु नियुक्तेषु योऽन्यस्तदुत्तरः
शब्द इति ॥ ६४ ॥

न सर्वगुणानुपलब्धिः ॥ ६५ ॥

नायं गुणनियोगः साधुः । कस्मात् ?—यस्य भूतस्य ये
गुणाः, न ते तदात्मकेनेन्द्रियेण सर्वे उपलभ्यन्ते, पार्थिवेन हि
घ्राणेन स्पर्शपर्यन्ता न गृह्यन्ते, गन्ध एवैको गृह्यते, एवं शेषेष्व-
पीति ॥ ६५ ॥

कथं तर्हि मे गुणाः विनियोक्तव्या इति ?—

एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसङ्गावादुत्तरोत्तराणां
तदनुपलब्धिः ॥ ६६ ॥

गन्धाऽऽदीनामेकैको यथाक्रमं पृथिव्यादीनामेकैकस्य गुणः,
अतस्तदनुपलब्धिः तेषां तयोस्तस्य चानुपलब्धिः, घ्राणेन रस-
रूपस्पर्शानां, रसनेन रूपस्पर्शयोः, चक्षुषा स्पर्शस्येति ॥ ६६ ॥

अतेजोवायूनां गुणा ज्ञातव्याः, उत्तरः शब्दः, आकाशस्य गुणः, तथा च स्पर्शानां
पृथिव्याः, रसरूपस्पर्शां जलस्य, रूपस्पर्शी तजसः, स्पर्शी वायोः, शब्द आकाशस्य ॥ ६४ ॥

आक्षिपति ।—उक्तो गुणनियमो न युक्तः, पृथिव्यादेर्गुणत्वाभिमतानां
सर्वेषां घ्राणाऽऽदियाच्चत्वाभावात् पार्थिवत्वादिकम् ; घ्राणेन पृथिव्या रसाद्य-
यङ्गत्वात् वहिरिन्द्रियाणां स्पर्शकृतिर्वात्तयोग्याशेषविशेषगुणग्राहकत्वनियमो भव्येतेति
भावः ॥ ६५ ॥

इत्यत्र पृथिव्यादावुपलभ्यमानानां रसाऽऽदीनां का गतिः ? इत्यत्र स्वमतमाह ।—
उत्तरोत्तराणाम् अवादीनाम्, एकैकश्येन एकैकक्रमेण, तदुत्तरोत्तरगुणसङ्गावात्
रसाऽऽदिगुणसङ्गावात्, तदनुपलब्धिस्तेषां रसाऽऽदीनां घ्राणादिनाऽनुपलब्धिः
इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

कथं तद्भेदेनैकगुणानि भूतानि गृह्यन्ते इति ?—

संसर्गाच्चानैकगुणग्रहणम् ॥ ६७ ॥

अबादिसंसर्गाच्च पृथिव्यां रसाऽऽदयो गृह्यन्ते, एवं शेषेष्व-
पीति ॥ ६७ ॥

नियमस्तर्हि न प्राप्नोति, संसर्गस्यानियमात् ; चतुर्गुणा
पृथिवी, त्रिगुणा आपः, द्विगुणं तेजः, एकगुणो वायुरिति
नियमश्चोपपद्यते कथम् ?—

विष्टं ह्यपरम्परेण ॥ ६८ ॥

पृथिव्यादीनां पूर्वं पूर्वमुत्तरेणोत्तरेण विष्टम्, अतः संसर्ग-
नियम इति । तच्चैतद्भूतसृष्टौ वेदितव्यं, नैतर्हीति ॥ ६८ ॥

न पार्थिवाऽऽप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६९ ॥

नेति त्रिसूत्रीं प्रत्याचष्टे । कस्मात्,—पार्थिवस्य द्रव्यस्या-
ऽऽप्यस्य च प्रत्यक्षत्वात् । महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वादूपाच्चोपलब्धि-
रिति तैजसमेव द्रव्यं प्रत्यक्षं स्यात्, न पार्थिवमाप्यं वा,
रूपाभावात् ; तैजसवत्तु पार्थिवाऽऽप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् न
संसर्गादनेकगुणग्रहणं भूतानामिति । भूतान्तररूपकृतञ्च
पार्थिवाऽऽप्ययोः प्रत्यक्षत्वं ब्रुवतः प्रत्यक्षो वायुः प्रसज्यते ।
नियमे वा कारणमुच्यताम् इति । रसयोर्वा पार्थिवाऽऽप्ययोः
प्रत्यक्षत्वात्, पार्थिवो रसः षड्विधः, आप्यो मधुर एव, न
चैतत् संसर्गाद्भवितुमर्हति । रूपयोर्वा पार्थिवाऽऽप्ययोः
प्रत्यक्षत्वात् तैजसरूपानुगृहीतयोः, संसर्गे हि व्यञ्जकमेव

तर्हि कथं पृथिव्यादौ रसादियग्रहणम् ? तत्राऽऽह ।—अपरं पृथिव्यादि, परेण
असाऽऽदिना, हि यस्मात्, विष्टं सन्त्यहम् ; तथा च पृथिव्याद्यवच्छिन्नजसाऽऽदिना
रसनासंयोगाद्रसाऽऽदियग्र इति भावः ॥ ६९ ॥

विज्ञानमुक्तम् ।—उक्ती गुणनियमो न युक्तः ; कुतः ?—पार्थिवस्याऽऽप्यस्य च

रूपं, न व्यङ्ग्यमस्तीति । एकानेकविधत्वे च पार्थिवाऽऽप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् रूपयोः, पार्थिवं हरितलोहितपीताद्यनेकविधं रूपम् आप्यन्तु शुक्लमप्रकाशकम् ; न चैतदेकगुणानां संसर्गे सत्यपलभ्यत इति । उदाहरणमात्रञ्चैतत् । अतः परं प्रपञ्चः । स्पर्शयोर्वा पार्थिवतैजसयोः प्रत्यक्षत्वात् पार्थिवोऽनुष्णाशीतः स्पर्शः, उष्णस्तैजसः प्रत्यक्षः ; न चैतदेकगुणानामनुष्णाशीतस्पर्शेन वायुना संसर्गोपपद्यत इति । अथवा पार्थिवाऽऽप्ययोर्द्रव्ययोर्व्यवस्थितगुणयोः प्रत्यक्षत्वात् चतुर्गुणं पार्थिवं द्रव्यं त्रिगुणमाप्यं प्रत्यक्षम् ; तेन तत्कारणमनुमीयते तथाभूतमिति । तस्य कार्यं लिङ्गम् ; कारणभावाद्वि कार्यभाव इति । एवं तैजसवायव्ययोर्द्रव्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् गुणव्यवस्थायाः तत्कारणे द्रव्ये व्यवस्थाऽनुमानमिति । दृष्टञ्च विवेकः पार्थिवाऽऽप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्, पार्थिवं द्रव्यमवादिभिर्वियुक्तं प्रत्यक्षतो गृह्यते, आप्यञ्च पराभ्यां, तैजसञ्च वायुना ; न चैकैकगुणं गृह्यत इति । निरनुमानन्तु विष्टं ह्यपरं परेणेत्येतदिति ; नात्र लिङ्गमनुमापकं गृह्यत इति, येनैतदेवं प्रतिपद्येमहि । यच्चोक्तं,—“विष्टं ह्यपरं परेण” इति भूतसृष्टौ वेदितव्यं न साम्प्रतमिति नियमकारणाभावादयुक्तम् ; दृष्टञ्च साम्प्रतमपरम्परेण विष्टमिति, वायुना च विष्टं तेज इति । विष्टत्वं संयोगः, स च द्वयोः समानः, वायुना च विष्टत्वात् स्पर्शवत्तेजः, न तु तेजसा विष्टत्वादूपवान् वायुः, इति नियमे कारणं नास्तीति । दृष्टञ्च तैजसेन स्पर्शेन वायव्यस्पर्शस्याभिभवादग्रहणमिति, न च तेनैव तस्याभिभव इति ॥ ६८ ॥

द्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वादूपस्पर्शसिद्धेः, तस्य रूपस्पर्शशून्यत्वे चनुषा त्वचा च ग्रहणं न स्यात्, रूपादेशं क्वचित्साक्षात्सम्बन्धेन क्वचित् परम्परया हेतुत्वे गौरवमिति भावः ॥ ६९ ॥

तदेवं न्यायविरुद्धं प्रवादं प्रतिषिध्य “न सर्वगुणानुपलब्धेः”
इति चोदितं समाधीयते ।—

पूर्वं पूर्वं गुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥ ७० ॥

तस्मान्न सर्वगुणोपलब्धेः, प्राणाऽऽदीनां पूर्वं पूर्वं गन्धादेर्गुण-
स्योत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम् । का प्रधानता ?—विषयग्राहकत्वम् ;
को गुणोत्कर्षः ?—अभिव्यक्तौ समर्थत्वम् । यथा वाङ्मानां
पार्थिवाऽऽप्यतैजसानां द्रव्याणां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न
सर्वगुणव्यञ्जकत्वं, गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूप-
व्यञ्जकत्वम्, एवं प्राणरसनचक्षुषां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां
न सर्वगुणग्राहकत्वं, गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूप-
ग्राहकत्वम् ; तस्मात् प्राणाऽऽदिभिर्न सर्वेषां गुणानामुपलब्धि-
रिति । यस्तु प्रतिजानीते गन्धगुणत्वादप्राणं गन्धग्राहकम्,
एवं रसनादिष्वपीति, तस्य यथागुणयोगं प्राणाऽऽदिभिर्गुणग्रहणं
प्रसज्यत इति ॥ ७० ॥

किं कृतं पुनर्व्यवस्थानम् ?—किञ्चित् पार्थिवमिन्द्रियं,
न सर्वाणि ; कानिचिदाप्यतैजसवायव्यानीन्द्रियाणि, न
सर्वाणीति ।—

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ॥ ७१ ॥

अर्थनिर्वृतिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गः पुरुष-
संस्कारकारितं भूयस्त्वम् ; दृष्टो हि प्रकर्षे भूयस्त्वशब्दः, प्रकृत्यो

रसाऽऽदेः पृथिव्यादिगुणत्वे प्राणादिनाऽपि तद्व्यवस्थाप्रसङ्ग इत्यत्र नियामकमाह ।—
पूर्वं पूर्वं प्राणादि, तत्तत्प्रधानं गन्धाऽऽदिप्रधानम् । प्राधान्ये बीजमाह ।—गुणोत्कर्षात्
गुणस्य गन्धाऽऽदेः, उत्कर्षात् तद्व्यवस्थापकत्वात्, तथा च गन्धाऽऽदिषु मध्ये
स्वव्यवस्थापकगुणस्यैव ग्राहकत्वं प्राणाऽऽदीनामिति ॥ ७० ॥

ननु पृथिव्यन्तरस्यापि गन्धप्राधान्यात् किमिन्द्रियं किमिन्द्रियम् ? इत्यत्राऽऽह ।—

यथा,—विषयो भूयानित्युच्यते । यथा पृथगर्थक्रियासमर्थानि पुरुषसंस्कारवशाद्विषयार्थानि प्रभृतानि द्रव्याणि निर्वर्त्यन्ते, न सर्वं सर्वार्थम् ; एवं पृथग्विषयग्रहणसमर्थानि प्राणाऽऽदौर्न निर्वर्त्यन्ते, न सर्वविषयग्रहणसमर्थानौति ॥ ७१ ॥

स्वगुणान्नोपलभन्ते इन्द्रियाणि कस्मात् ? इति चेत्,—

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७२ ॥

स्वान् गन्धादीन्नोपलभन्ते प्राणाऽऽदौर्न । केन कारणेन ? इति चेत्, स्वगुणैः सह प्राणाऽऽदौर्नामिन्द्रियभावात्, प्राणं स्वेन गन्धेन समानार्थकारिणा सह बाह्यं गन्धं गृह्णाति, तस्य स्वगन्धग्रहणं सहकारिवैकल्यात् न भवति, एवं श्रेयःणामपि ॥ ७२ ॥

यदि पुनर्गन्धः सहकारी च स्यात्, प्राणस्य बाह्यत्वेत्यत आह,—

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ ७३ ॥

न गुणोपलब्धिर्निन्द्रियाणाम् । यो ब्रूते, यथा बाह्यद्रव्यं चक्षुषा गृह्यते, तथा तेनैव चक्षुषा तदेव चक्षुर्गृह्णातामिति, तादृगदम् ; तुल्यो ह्युभयत्र प्रतिपत्तिहेत्वभाव इति ॥ ७३ ॥

भूयस्मात् नचाऽऽयविशिष्टपृथिव्यादारभ्यत्वात्, तद्व्यवस्थानं प्राणादौन्द्रियत्ववस्थितिः ॥ ७१ ॥

प्राणाऽऽदौर्नां गन्धाऽऽदिगुणवत्त्वे मानमाह ।—सगुणानां गन्धाऽऽदिविशिष्टानां प्राणाऽऽदौर्नाम्, इन्द्रियभावात् गन्धाऽऽदिसाक्षात्कारकत्वात्, कुटुम्बगन्धमिच्छक-हृताऽऽदौ तथैव दर्शनात् ॥ ७२ ॥

इत्यत्र गन्धाऽऽदिसिद्धावप्रत्यक्षत्वादनुभूतत्वकल्पनमित्याशयेनाऽऽह ।—तेन इन्द्रियेण, तस्य सगुणस्वेन्द्रियस्य, अग्रहणादनुभूतकल्पनमिति ॥ ७३ ॥

न शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७४ ॥

स्वगुणान्नोपलभन्ते इन्द्रियाणीत्येतत् न भवति, उपलभ्यते
हि स्वगुणः शब्दः श्रोत्रेणेति ॥ ७४ ॥

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७५ ॥

न शब्देन गुणेन सगुणमाकाशमिन्द्रियं भवति, न शब्दः
शब्दस्य व्यञ्जकः, न च घ्राणादीनां स्वगुणग्रहणं प्रत्यक्षं, नाप्य-
नुमीयते, अनुमीयते तु श्रोत्रेणाऽऽकाशेन शब्दस्य ग्रहणं, शब्द-
गुणत्वञ्चाऽऽकाशस्येति ; परिशिष्यश्चानुमानं वेदितव्यम्, आत्मा
तावत् श्रोता, न करणम् ; मनसः श्रोत्रत्वे बधिरत्वाभावः,
पृथिव्यादीनां घ्राणाऽऽदिभावे सामर्थ्यं, श्रोत्रभावे चासामर्थ्यम् ।
अस्ति चेदं श्रोत्रम्, आकाशञ्च शिष्यते, परिशिष्यादाकाशं
श्रोत्रमिति ॥ ७५ ॥

इति वात्स्यायनोपनिषद् न्यायभाष्ये तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

नन्विन्द्रियगुणानामप्रत्यक्षत्वमियमी नेत्याशङ्कते ।—उक्तमियमी न युक्तः, शब्दस्य
श्रोत्रगुणस्य, उपलब्धेः ॥ ७४ ॥

समाधत्ते ।—द्रव्यगुणानां रूपशब्दऽऽदीनां, परस्परं वैधर्म्याच्छब्दोपलब्धिः, न
चक्षुरूपऽऽदीनां शब्दऽऽश्रयस्य लाघवेनैकसिद्धेरिति भावः ॥ ७५ ॥

समाप्तमर्थपरीक्षाप्रकरणम् ।

इति तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् आत्मादिप्रमेयचतुष्कपरीक्षणं नाम ।

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ।

परीक्षितानोन्द्रियाख्यार्थाश्च । बुद्धेरिदानीं परीक्षाक्रमः ।
सा किमनित्या ? नित्या वा ? इति । कुतः संशयः ?—

कर्माऽऽकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥

अस्पर्शवत्त्वं ताभ्यां समानो धर्म उपलभ्यते बुद्धौ, विशेष-
चोपजनापायधर्मवत्त्वं, विपर्ययश्च यथास्मनित्यनित्ययोस्तस्यां
बुद्धौ नोपलभ्यते, तेन संशय इति ॥ १ ॥

अनुपपन्नरूपः खल्वयं संशयः । सर्वशरीरेणां हि प्रत्यात्म-
वेदनीयाऽनित्या बुद्धिः सुखादिवत्, भवति च संवित्तिर्ज्ञास्यामि
जानामि अज्ञासिष्यामि ; न चोपजनापायी अन्तरेण तैकात्म्य-
व्यक्तिः, ततश्च तैकात्म्यव्यक्तेरनित्या बुद्धिरित्येतत् सिद्धम् ।
प्रमाणसिद्धचेदम् । शास्त्रेऽप्युक्तम्,—“इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं
युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्” इत्येवमादि । तस्मात् संशय-
प्रक्रियाऽनुपपत्तिरिति । दृष्टिप्रवादोपालभ्यार्थन्तु प्रकरणम् ।
एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति साङ्ख्याः पुरुषस्यान्तःकरणभूता
नित्या बुद्धिरिति ; साधनञ्च प्रचक्षते ।—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥

किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानम् ?—यं पूर्वमज्ञासिषमर्थं, तमिमं

अथ क्रमप्राप्ततया बुद्धेर्मनसश्च परीक्षा सप्तभिः प्रकरणैः, तत्परीचैव चाऽऽङ्गिकायः ;
परे तु शरीरावच्छेदव्याप्यभोगानुकूलसम्बन्धवत्परीक्षा, शरीरास्तवर्त्तनमियपरीचैवाऽऽङ्गि-
कायं इति । तदसत्, इन्द्रियपरीक्षायामतिव्याप्तिः ; तत्र च बुद्धिपरीक्षा पञ्चभिः
प्रकरणैः, तत्राऽऽदौ बुद्ध्यानित्यताप्रकरणम् ; तत्र संशयदर्शनाय सूत्रम् ।—कर्माश्च
आकाशश्च च साधर्म्यान्निस्पर्शत्वात्, बुद्धिपदार्थं नित्यत्वसंशयः ; बुद्धिपदं नित्यं न वा ?
इति संशयः पर्यवसन्नः ॥ १ ॥

तत्र बुद्धेर्नित्यत्वं साङ्ख्यः साधयति ।—बुद्धिर्नित्येति शेषः, योऽहं घटमद्राचं, सोऽहं

जानामोति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।
एतच्चावस्थिताया बुद्धेरुपपन्नम् । नानात्वे तु बुद्धिभेदेषूत्पन्नाप-
वर्गिषु प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः, नान्यज्ञातमन्यः प्रत्यभिजाना-
तोति ॥ २ ॥

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥

यथा खलु नित्यत्वं बुद्धेः साध्यम्, एवं प्रत्यभिज्ञानमपीति ।
किं कारणम् ?—चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः, पुरुषधर्मः खल्वयं
ज्ञानं दर्शनमुपलब्धिर्बोधः प्रत्ययोऽध्यवसाय इति, चेतनो हि
पूर्वज्ञातमर्थं प्रत्यभिजानातोति तस्यैतस्माद्धेतोर्नित्यत्वं युक्तमिति ।
* करणचेतन्याभ्युपगमे तु चेतनस्वरूपं वचनीयम्, * नानिर्दिष्ट-
स्वरूपमात्माऽन्तरं शक्यमस्तीति प्रतिपत्तुम् ; ज्ञानश्चेत् बुद्धेरन्तः-
करणस्याभ्युपगम्यते, चेतनस्येदानीं किं स्वरूपम् ? को धर्मः ?
किं तत्त्वम् ? ज्ञानेन च बुद्धौ वर्तमानेनायं चेतनः किं करोति ?
इति । * चेतयत इति चेत्, न ज्ञानादर्थान्तरवचनम् । *
पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानातोति नेदं ज्ञानादर्थान्तरमुच्यते ; चेतयते
जानोति बुध्यते पश्यत्युपलभ्यत इत्येकोऽयमर्थः इति ।
बुद्धिर्ज्ञापयतीति चेत्, अज्ञा जानीते पुरुषः, बुद्धिर्ज्ञापयतीति ।
सत्यमेतत्, एवञ्चाभ्युपगमे ज्ञानं पुरुषस्येति सिद्धं भवति, न
बुद्धेरन्तःकरणस्य इति । * प्रतिपुरुषश्च शब्दान्तरव्यवस्था-
प्रतिज्ञाने प्रतिषेधहेतुवचनम् । * यश्च प्रतिजानीते, कश्चित्
पुरुषश्चेतयते, कश्चिदबुध्यते, कश्चिदुपलभते, कश्चित् पश्यतीति ;
पुरुषान्तराणि खल्विमानि, चेतनो बोद्धोपलब्धश्च द्रष्टेति, नैकस्यैते
घटं स्पृशतीति प्रत्यभिज्ञानमेकं हस्तिमन्तं विषयीकरोति, न चाऽऽत्मा तथा, तस्य जन्म-
धर्मानधिकरणस्य कूटस्थत्वात्, तथात् हस्तिमती बुद्धिरेव । हस्तिस्तु तस्याः परिणामः,
बुद्धेरप्याविर्भावतिरोभावादेव, न तूत्यादविनाशविति ॥ २ ॥

परिहरति ।—साध्यसमत्वात् षष्ठित्वात्, प्रतिसन्धातत्वं न हेतुः, यदं जानामो-

धर्मा इति । अत्र कः प्रतिषेधहेतुः ? इति । * अर्थस्याभेद इति चेत्, समानम्, अभिन्नार्था एते शब्दा इति । तत्र व्यवस्थाऽनुपपत्तिरित्येवं चेत् मन्यसे, समानं भवति ; पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानीते इत्यत्राप्यर्थो न भिद्यते, तत्रोभयोश्चेतनत्वादन्यतरलोप इति । यदि पुनर्बुध्यतेऽनयेति बोधनं बुद्धिर्मन एवोच्यते, तच्च नित्यम् । अस्वेतदेवं, न तु मनसो विषयप्रत्यभिज्ञानाच्चित्यत्वम् । दृष्टं हि कारणभेदे ज्ञातुरेकत्वात् प्रत्यभिज्ञानम् ; सव्यदृष्टस्येतरिण प्रत्यभिज्ञानात्, इति चक्षुर्वत् । प्रदीपवच्च, प्रदीपान्तरदृष्टस्य प्रदीपान्तरेण प्रत्यभिज्ञानमिति । तस्माज्ज्ञातुरयं नित्यत्वे हेतुरिति ॥ ३ ॥

यच्च मन्यते, बुद्धेरवस्थिताया यथाविषयं वृत्तयो ज्ञानानि निश्चरन्ति, वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति ।—

न युगपदग्रहणात् ॥ ४ ॥

वृत्तिवृत्तिमतोरन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तीनामवस्थानमिति ; यानीमानि विषयग्रहणानि, तान्यवतिष्ठन्त इति युगपद्विषयाणां ग्रहणं प्रसज्यत इति ॥ ४ ॥

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥

अतीते च प्रत्यभिज्ञाने वृत्तिमानप्यतीत इत्यन्तःकरणस्य विनाशः प्रसज्यते, विपर्यये च नानात्वमिति ॥ ५ ॥

न्यादिना आत्मन एव प्रतिसन्धादप्रत्ययात् । अनादिनिघनत्वमेव तस्य कौटस्थ्यम्, अनादृशं त्वत्तिवमिति भावः ॥ ३ ॥

बुद्धेरिव स्वाधिव्या यथाविषयं ज्ञानाऽऽत्मिका वृत्तयो वृत्तिमदभिज्ञा वज्जेरिव स्फुटिज्ञा निःसरन्तीति साङ्गमतं निरखति ।—वृत्तिवृत्तिमतोरभेदे वृत्तिमदवस्थित्या वृत्तिमदवस्थितिर्वाचा ; तथा च सर्वपदार्थग्रहणं युगपत् स्यात्, न चैवं, तस्मान्नाभेद इति ॥ ४ ॥

अथ वृत्तीनामवस्थायित्वमुच्यते, तत्राऽऽह ।—अप्रत्यभिज्ञाने प्रत्यभिज्ञानस्य अभावे, विनाशे, वृत्तिमतोऽपि विनाशः स्यात्, अतो न द्वयोरेक्यम् ॥ ५ ॥

अविभु चैकं मनः पर्यायेणोद्भूतैः संयुज्यत इति ।—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्गृहणम् ॥ ६ ॥

इन्द्रियार्थानां वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वमिति, एकत्वे च प्रादुर्भावतिरोभावयोरभाव इति ॥ ६ ॥

अप्रत्यभिज्ञानञ्च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥

अप्रत्यभिज्ञानमनुपलब्धिः ; अनुपलब्धिश्च कस्यचिदर्थस्य विषयान्तरव्यासङ्गे मनस्युपपद्यते, वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वात् । एकत्वे ह्यनर्थको व्यासङ्गः इति ॥ ७ ॥

विभुत्वे चान्तःकरणस्य पर्यायेणोद्भूतैः संयोगः,—

न गत्यभावात् ॥ ८ ॥

प्राप्तानौन्द्रियाण्यन्तःकरणेनेति प्राप्त्यर्थस्य गमनस्य अभावः, तत्र क्रमवृत्तित्वाभावादयुगपद्गृहणानुपपत्तिरिति । गत्यभावाच्च प्रतिषिद्धं विभुनोऽन्तःकरणस्यायुगपद्गृहणं न लिङ्गान्तरणानुमीयते । यथा चक्षुषो गतिः प्रतिषिद्धा सन्नि-
कृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्यकालग्रहणात् पाणिचन्द्रमसोर्व्यवधानप्रती-
घातेनानुमीयत इति । सोऽयं नान्तःकरणे विवादः, न तस्य नित्यत्वे, सिद्धं हि मनोऽन्तःकरणं नित्यञ्चेति । क्व तर्हि विवादः ?—तस्य विभुत्वे, तच्च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः प्रतिषिद्ध-

अयुगपद्गृहणं समते व्युत्पादयति, मनस इत्यादि ।—मनसोऽणुत्वादिन्द्रियैः
सह क्रमेण सम्बन्धात् ज्ञानानां क्रमिकत्वम् ; तथा च,—“अविभु चैकं मनः पर्यायेण
सर्वैरिन्द्रियैः सम्बध्यते” इत्यवतारभाष्यम् ; तच्चदिन्द्रियमनःसंयोगे सति ज्ञानमुप-
पद्यते ॥ ६ ॥

तद्व्यतिरेके ज्ञानाभावमुपपादयति ।—अप्रत्यभिज्ञानं तत्तदिन्द्रियजज्ञानासाधः,
विषयान्तरेण इन्द्रियान्तरेण, मनसः सम्बन्धादित्यर्थः ॥ ७ ॥

त्वन्मते चेदं नोपपद्यत इत्याह ।—त्वन्मते मनसः क्रमेणोद्भूतसम्बन्धः, न, मनसः

मिति । एकचान्तःकरणं, नाना चैता ज्ञानाऽऽत्मिका वृत्तयः, चक्षुर्विज्ञानं, घ्राणविज्ञानं, रूपविज्ञानं, गन्धविज्ञानम् ; एतच्च वृत्तिवृत्तिमतोरैकत्वेऽनुपपन्नमिति । एतेन विषयान्तरव्यासङ्गः प्रत्युक्तः । विषयान्तरग्रहणलक्षणो विषयान्तरव्यासङ्गः पुरुषस्य, नान्तःकरणस्येति । केनचिदिन्द्रियेण सन्निधिः केनचिदसन्निधिरिति ; अयन्तु व्यासङ्गोऽनुज्ञायते मनस इति ॥ ८ ॥

एकमन्तःकरणं, नाना वृत्तयः (ज) इति सत्यभेदे वृत्तेरिदमुच्यते ।—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥

तस्यां वृत्तौ नानात्वाभिमानः, यथा—द्रव्यान्तरोपहिते स्फटिके अन्यत्वाभिमानो नीलो लोहित इति । एवं विषयान्तरोपधानादिति ॥ ९ ॥

न हेत्वभावात् ॥ १० ॥

स्फटिकान्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमानो गौणः, न पुनर्गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदिति हेतुर्नास्ति, हेत्वभावादनुपपन्न इति । समानो हेत्वभाव इति चेत्, न, ज्ञानानां क्रमेणोपजननापायदर्शनात्, क्रमेण 'हीन्द्रियार्थेषु ज्ञानान्युपजायन्ते

विभुत्वेन गत्यभावात् ; परे तु नकारो न स्वान्तर्गतः, किन्तु विभुत्वे चान्तःकरणस्य प्रत्यक्षेन्द्रियैः संयोगो नेति भाष्यावतरणिकायाम् इत्याहुः ॥ ८ ॥

वृत्तिवृत्तिमतोर्वस्तुतोऽभेदेऽपि भेदप्रत्ययप्रतिपादनाय शङ्कते ।—यथा जवाकुसुमाऽऽदिसन्निधानादेकस्यापि स्फटिकस्य तत्तद्रूपाभिमानः, तथा वृत्तिमदभिज्ञाऽपि वृत्तिस्तत्तद्विषयसन्निकर्षवशाज्ज्ञानेन प्रतिभासत इति ॥ ९ ॥

दूषयति ।—अमले साधकाभावात्तत्तं युक्तमित्यर्थः, केचित्तु न हेत्वभावादिति

(ज) "जीवभाष्यमेतत्" इति तात्पर्यटीका ।

चापयन्ति चेति दृश्यते ; तस्माद्वन्वाद्यन्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु
ज्ञानात्वाभिमान इति ॥ १० ॥

स्फटिकान्यत्वाभिमानवदित्येतदमृश्यमाणः क्षणिक-
वाद्याह,—

**स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्वाक्ती-
नामहेतुः ॥ ११ ॥**

स्फटिकस्याभेदेनावस्थितस्योपधानभेदाज्ञानात्वाभिमान इत्यय-
मविद्यमानहेतुकः पक्षः । कस्मात् ?—स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः ;
स्फटिकेऽप्यन्या व्यक्तय उत्पद्यन्ते, अन्या निरुध्यन्ते इति ।
कथम् ?—क्षणिकत्वाद्वाक्तीनाम् ; क्षणश्चात्पीयान् कालः,
क्षणस्थितिकाः क्षणिकाः । कथं पुनर्गम्यते क्षणिका व्यक्तयः ?
इति ।—उपचयापचयप्रबन्धदर्शनाच्छरीरादिषु ; पक्षिनिर्वृत्तस्था-
ऽऽहाररसस्य शरीररुधिराऽऽदिभावेनोपचयोऽपचयश्च प्रबन्धेन
प्रवर्तते, उपचयाद्वाक्तीनामुत्पादः, अपचयाद्वाक्तीनिरोधः ।
एवञ्च सत्यवयवपरिणामभेदेन वृद्धिः शरीरस्य कालान्तरे गृह्यते
इति, सोऽयं व्यक्तिमात्रे वेदितव्य इति ॥ ११ ॥

भाष्यमिति, टीकाऽदर्शनाभेदं सूचं, किन्तु तुच्छतया स्वकृताऽदृष्ट्याज्ञानतापरि-
हाराय भाष्यकृता तदुक्तमिति मन्यन्ते ॥ १० ॥

समाप्तं बुद्धानित्यताप्रकरणम् ।

स्फटिके इव नानात्वधन इत्यसद्विमानः सौमत्तः ब्रह्मते ।—स्फटिकान्यत्वाभि-
मानवदित्यहेतुः । कुतः ?—स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः विस्मयविस्मयस्फटिकोत्पत्तेः ।
तत्र मानमाह, व्यक्तीनां भावानां, क्षणिकत्वात् । तस्माद्वन्वाद्य भाष्यम्,—“उपचयाप-
चयप्रबन्धदर्शनाच्छरीराऽऽदिषु” प्रतिचक्षं शरीरेषूपचयापचयदर्शनाज्ञानात्त्वम् ;
न ह्येकस्मिन्नवयविनि परिमाणद्वयसमावेश इति भावः । इदं सूचमेवेति
केचित् ॥ ११ ॥

नियमहेत्वभावादयथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ १२ ॥

पदार्थानां सर्वासु व्यक्तिषूपचयापचयप्रबन्धः शरीरवदिति नायं नियमः । कस्मात् ?—हेत्वभावात् । नात्र प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रतिपादकमस्तीति । तस्मादयथादर्शनमभ्यनुज्ञा । यत्र यत्रापचयापचयप्रबन्धो दृश्यते, तत्र तत्र व्यक्तीनामपरापरोत्पत्तिरूपचयापचयप्रबन्धदर्शननाभ्यनुज्ञायते, यथा शरीराऽऽदिषु । यत्र यत्र न दृश्यते, तत्र तत्र प्रत्याख्यायते, यथा श्रावप्रभृतिषु । स्फटिकेऽप्युपचयापचयप्रबन्धो न दृश्यते, तस्मादयुक्तं स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तिरिति । यथा चार्कस्य कटुकिन्ना सर्वद्रव्याणां कटुकिमानमापादयेत्, तादृगेतदिति ॥ १२ ॥

यथाशेषनिरोधेनापूर्वोत्पादं निरन्वयं द्रव्यसन्ताने क्षणिकानां मन्यते, तस्यैतत्,—

न, उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ १३ ॥

उत्पत्तिकारणं तावदुपलभ्यते, अवयवोपचयो बल्लोकादीनाम् । विनाशकारणञ्चोपलभ्यते, घटादीनामवयवविभागः । यस्य त्वनपचितावयवं निरुध्यते, अनुपचितावयवञ्चोत्पद्यते, तस्याशेषनिरोधे निरन्वये वाऽपूर्वोत्पादे न कारणमुभयत्राप्युपलभ्यत इति ॥ १३ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।—पदार्थानां विनाशसामर्थ्यवैशिष्ट्यनियमे मानाभावान् अभ्युपेत्याऽऽह, यथादर्शनमिति ।—यदि कस्यचिद्विनाशसामर्थ्यवैशिष्ट्ये मानं स्यात्, तदा क्षणिकत्वं तस्याभ्यनुज्ञायत एव, यथाऽन्यत्र इति ॥ १२ ॥

सुबन्तरसाह ।—न स्फटिकादेः क्षणिकत्वम् ; यत्र उत्पत्तिविनाशकारणान्युपलब्ध्या निर्णीतान्यवयवोपचयापचयादीनि ; न च स्फटिके विनाशकारणमुपलभ्यते, किं पूर्वाविनाशोऽपरोत्पत्तिश्च स्यादिति भावः ॥ १३ ॥

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्ध्युत्पत्तिवच्च
तदुपपत्तिः ॥ १४ ॥

यथाऽनुपलभ्यमानं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिकारणञ्चा-
भ्यनुज्ञायते, तथा स्फटिकेऽपरापरासु व्यक्तिषु विनाशकारण-
मुत्पत्तिकारणञ्चाभ्यनुज्ञेयमिति ॥ १४ ॥

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १५ ॥

क्षीरविनाशलिङ्गं क्षीरविनाशकारणम् । दध्युत्पत्तिलिङ्गं
दध्युत्पत्तिकारणञ्च गृह्यते, अतो नानुपलब्धिः । विपर्ययस्तु
स्फटिकाऽऽदिषु द्रव्येषु, अपरापरोत्पत्तौ व्यक्तीनां न लिङ्गमस्ती-
त्यनुवृत्तिरेवेति ॥ १५ ॥

अत्र कश्चित् परिहारमाह ।—

न पयसः परिणामो गुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ १६ ॥

पयसः परिणामो न विनाश इत्येक आह । परिणाम-
श्चावस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिरिति ।
गुणान्तरप्रादुर्भाव इत्यपर आह । गुणान्तरप्रादुर्भावश्च सतो
द्रव्यस्य पूर्वगुणनिवृत्तौ गुणान्तरमुत्पद्यत इति, स खल्वेकपक्षो-
भाव इव ॥ १६ ॥

आक्षिपति ।—दध्युत्पत्तिवद्ध्युत्पत्तिकारणानुपलब्धिवत् तदुपपत्तिः । पूर्व-
स्फटिकविनाशकारणानुपलब्धेस्तस्फटिकोत्पत्तिकारणानुपलब्धेशोपपत्तिः स्यादिति
भावः ॥ १४ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।—दध्नः क्षीरविनाशस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वात्कारणं कल्प्यते, न त्वेवं
स्फटिकविनाशोत्पादानुपलब्ध्येते, येन तत्कारणकल्पनम् ॥ १५ ॥

सौगतमते साङ्ख्यदूषणमुपन्यस्यति ।—न क्षीरस्य नाशो दध्नोत्पत्तिः, किन्तु
क्षीरस्य परिणामः, परिणामशब्दार्थो गुणान्तरप्रादुर्भावः, विद्यमानस्य क्षीरस्य पूर्व-
रसतिरोभावोऽस्मरसाऽऽत्मकगुणान्तरस्याऽऽविर्भावादित्यर्थः ॥ १६ ॥

अत्र तु प्रतिषेधः ।—

व्यूहान्तराद्व्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्य-
निवृत्तेरनुमानम् ॥ १७ ॥

समूहानलक्षणादवयवव्यूहात् द्रव्यान्तरे दध्नात्पक्षे गृह्य-
माणे पूर्वं पयोद्रव्यमवयवविभागेभ्यो निवृत्तमित्यनुमीयते,
यथा सृष्टवयवानां व्यूहान्तराद्व्यान्तरे स्यात्वामुत्पन्नायां
पूर्वं सृष्टिण्ड्रव्यं सृष्टवयवविभागेभ्यो निवर्त्तत इति ।
* सृष्ट्वाऽवयवान्वयः । * पयोदध्नाऽर्नाशिषनिरोधे निरन्वयो
द्रव्यान्तरोत्पादो घटत इति, अभ्यनुज्ञाय च निष्कारणं
क्षीरविनाशं दध्युत्पादश्च प्रतिषेध उच्यते इति ॥ १७ ॥

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिन्नोपलब्धे-
रनेकान्तः ॥ १८ ॥

क्षीरदधिवन्निष्कारणो विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्ती-
नामिति नायमेकान्त इति । कस्मात् ?—हेत्वभावात् । नात्र
हेतुरस्ति, अकारणो विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तोनां क्षीर-
दधिवत्, न पुनर्यथा विनाशकारणभावात् कुम्भस्य विनाशः,
उत्पत्तिकारणभावाच्चोत्पत्तिः ; एवं स्फटिकाऽऽदिव्यक्तोनां विना-
शोत्पत्तिकारणभावाद्दिनाशोत्पत्तिभाव इति । * निरधिष्ठानञ्च
दृष्टान्तवचनम्, * गृह्यमाणयोर्विनाशोत्पादयोः स्फटिकाऽऽदिषु
स्यादयमाश्रयवान् दृष्टान्तः, क्षीरविनाशकारणानुपलब्धिवद्दध्युत्प-

एतन्निराकरोति सूत्रकारः ।—व्यूहान्तरात् रचनाऽन्तरात्, पूर्वावयवसंयोगनाशो
द्रव्यान्तरोत्पादाऽऽनुभविक इति भावः ॥ १७ ॥

दोषान्तराभिधानाय सिद्धान्तिनां सूत्रम् ।—क्षीरदधिदृष्टान्तेन विनाशोत्पादा-
न्कारणत्वावेति न युक्तम् ;—घटाऽऽदौ सकारणकत्वोपलब्धेर्बहिष्कारात् । बन्धुतः

त्तिवच्चेति, तौ तु न गृह्येते, तस्मान्निरधिष्ठानोऽयं दृष्टान्त इति । अभ्यनुज्ञाय च स्फटिकस्योत्पादविनाशौ योऽत्र साधकः, तस्याभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः । कुम्भवन्न निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकाऽऽदौनामित्यभ्यनुज्ञेयोऽयं दृष्टान्तः प्रतिषेद्धमशक्यत्वात् । क्षीरदधिवत्तु निष्कारणौ विनाशोत्पादाविति शक्योऽयं प्रतिषेद्धं कारणतो विनाशोत्पत्तिदर्शनात् । क्षीरदध्नोर्विनाशोत्पत्तौ पश्यता तत्कारणमनुमेयम् ; कार्यलिङ्गं हि कारणमित्युपपन्नमनित्या बुद्धिरिति ॥ १८ ॥

इदन्तु चिन्त्यते, कस्येयं बुद्धिः आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां गुण इति ?—प्रसिद्धोऽपि च खल्वयमर्थः परीक्षाशेषं प्रवर्त्तयामौति प्रक्रियते, सोऽयं बुद्धौ सन्निकर्षोत्पत्तेः संशयः, विशेषस्याग्रहणादिति । तत्रायं विशेषः,—

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १९ ॥

नेन्द्रियाणामर्थानां वा गुणो ज्ञानम् ; तेषां विनाशे ज्ञानस्य भावात् । भवति खल्विदमिन्द्रियेऽर्थे च विनष्टे ज्ञानमद्राक्षमिति, न च ज्ञातरि विनष्टे ज्ञानं भवितुमर्हति । अन्यत् खलु चैतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानं, यदिन्द्रियार्थविनाशे न भवति ; इदमन्यदात्मनःसन्निकर्षजं, तस्य युक्तो भाव इति । स्मृतिः खल्वयमद्राक्षमिति पूर्वदृष्टविषया, न च विज्ञातरि नष्टे

क्षीरविनाशेऽस्मद्भवसंयोगस्य हेतुत्वादस्मरसवत्परमाशुभिश्च दध्न चारम्भाद्वाकारणको क्षीरविनाशदष्ट्युत्पादाविति ॥ १८ ॥

समाप्तं खण्डप्रकरणम् ।

बुद्धेरात्मगुणत्वं यद्यप्यात्मपरीक्षात एव सिद्धप्रायं, तथाऽपि विशिष्य व्युत्पादनाय बुद्धेरात्मगुणत्वप्रकरणम् ; तत्र चेन्द्रियार्थसन्निकर्षाधीनत्वाद्विज्ञादिनिष्ठत्वमेवास्तु, भेदव्याकाशसंयोगाधीनशब्दस्याऽऽकाशनिष्ठत्ववदिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तसूत्रम् ।—बुद्धिः

पूर्वोपलब्धेः स्मरणं युक्तम् ; न चान्यदृष्टमन्यः स्मरति, न च मनसि ज्ञातव्यभ्युपगम्यमाने शक्यमिन्द्रियार्थयोर्ज्ञातृत्वं प्रतिपादयितुम् ॥ १९ ॥

अस्तु तर्हि मनोगुणो ज्ञानम् ?—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेः न मनसः ॥ २० ॥

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिरन्तःकरणस्य लिङ्गम् ; तत्र युगपज्ज्ञेयानुपलब्ध्याऽनुमीयते अन्तःकरणम् ; न तस्य गुणो ज्ञानम् ; कस्य तर्हि ?—ज्ञस्य, वसित्वात् । वशी ज्ञाता, वश्यं करणम् ; ज्ञानगुणत्वे च करणभावनिरासः । घ्राणाऽऽदिसाधनस्य च ज्ञातुर्गत्याऽऽदिज्ञानभावादनुमीयते, अन्तःकरणसाधनस्य सुखाऽऽदिज्ञानं स्मृतिश्चेति । तत्र यज्ज्ञानगुणं, स आत्मा ; यत्तु सुखाद्युपलब्धिसाधनमन्तःकरणं, मनस्तत्, इति संज्ञामेदमात्रं, नार्थमेद इति । युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेः चायागिन इति चार्थः । योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां त्रिकरणधर्मान् निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु तेषु युगपज्ज्ञेयानुपलभते, तच्चैतद्विभौ ज्ञातव्युपपद्यते, नाणौ मनसोति । विभुत्वे वा मनसो ज्ञानस्य नाऽऽत्मगुणत्वप्रतिषेधः । विभु मनः, तदन्तःकरण-भूतमिति, तस्य सर्वेन्द्रियैर्युगपत् संयोगाद्युगपज्ज्ञानान्युत्पद्येरन्निति ॥ २० ॥

नेन्द्रियस्य न वार्यस्य गुणः, तन्नाशेऽपि ज्ञानस्य स्मरणस्य, अवस्थानात् उत्पत्तेः, न ह्यनुभावतुरभावे स्मरणमुपपद्यतेऽतिप्रसङ्गादिति भावः ॥ १९ ॥

मनोगुणत्वं निरस्यति ।—युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेर्हेतोः सिद्धस्य मनसो न कर्तृत्वम् ;—धर्मिणाहकमानेन करणत्वेनैव सिद्धेः । वस्तुतो युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेरित्यनेन मनसोऽणुत्वं सूचितम् ; तथा च तद्वत्सुखाद्यप्रत्यक्षता स्यात्, एवं कायबूहे यत्तद्देहावच्छेदेन ज्ञानाऽऽदिकं न स्यादिति ॥ २० ॥

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २१ ॥

विभुरात्मा सर्वेन्द्रियैः संयुक्तः, इति युगपज्ज्ञानोत्पत्ति-
प्रसङ्ग इति ॥ २१ ॥

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः ॥ २२ ॥

गन्धाद्युपलब्धेरिन्द्रियार्थसन्निकर्षवदिन्द्रियमनःसन्निकर्षोऽपि
कारणं, तस्य चायौगपद्यमणुत्वात् मनसः; अयौगपद्यादनु-
त्पत्तिर्युगपज्ज्ञानानामात्मगुणत्वेऽपीति ॥ २२ ॥

यदिपुनरात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्राज्ञानादिज्ञानमुत्पद्यते,—
नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २३ ॥

आत्मेन्द्रियसन्निकर्षमात्राज्ञानाऽऽदिज्ञानमुत्पद्यते, इति
नात्रोत्पत्तिकारणमपदिश्यते, येनैतत् प्रतिपद्येमहीति ॥ २३ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व-
प्रसङ्गः ॥ २४ ॥

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यमित्येतदनेन समुच्चीयते । द्विविधो
हि गुणनाशहेतुः,—गुणानामाश्रयाभावः, विरोधी च गुणः ;
अभावो नित्यत्वादात्मनोऽनुपपन्नः, विरोधी च बुद्धेर्गुणो न
गृह्यते, तस्मादात्मगुणत्वे सति बुद्धेर्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥ २४ ॥

शङ्कते ।—तस्या बुद्धेरात्मगुणत्वेऽपि ज्ञानयौगपद्यं तुल्यम्, आत्मनः सर्वेन्द्रिय-
संयोगात् ; तथा च स दोषस्तदवस्थ एवेति कथं तथा युक्त्या मनःसिद्धिरिति भावः ॥ २१ ॥

उत्तरयति ।—युगपन्नानेन्द्रियैः सह मनसः सन्निकर्षाभावान्न युगपन्नानाविषयोप-
लब्धिरिति भावः ॥ २२ ॥

आक्षिपति ।—बुद्ध्यात्यन्तौ कारणस्थानपदेशात् अकथनात्, नाऽऽत्मगुणो बुद्धिः,
आत्ममनःसंयोगस्य कारणत्वे ज्ञानस्य सार्वदिकप्रसङ्ग इति भावः ॥ २३ ॥

बुद्धेरात्मगुणत्वे दोषमप्याह ।—बुद्धेरात्मन्यवस्थाने विनाशकारणस्याऽऽश्रयनाशदे-
रबुद्धपञ्चस्य बुद्धेर्नित्यता-प्रसङ्गः ॥ २४ ॥

अनित्यत्वग्रहादुद्बुद्धान्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ २५ ॥

अनित्या बुद्धिरिति सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत्, गृह्यते च बुद्धिसन्तानः, तत्र बुद्बुद्धान्तरं विरोधो गुण इत्यनुमीयते; यथा शब्दसन्ताने शब्दः शब्दान्तरविरोधीति । असङ्ख्येषु ज्ञानकारितेषु संस्कारेषु स्मृतिहेतुष्वात्ममनसोश्च सन्निकर्षं समाने स्मृतिहेतौ सति न कारणस्यायोगपक्षमस्तीति युगपत् स्मृतयः प्रादुर्भवेयुः, यदि बुद्धिरात्मगुणः स्यादिति ॥ २५ ॥

तत्र कश्चित् सन्निकर्षस्यायोगपक्षमुपपादयिष्यन्नाह,—

ज्ञानसमवेताऽऽत्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

ज्ञानसाधनः संस्कारो ज्ञानमित्युच्यते, ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः पर्यायेण मनः सन्निकृत्यते, आत्ममनःसन्निकर्षात् स्मृतयोऽपि पर्यायेण भवन्तीति ॥ २६ ॥

नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २७ ॥

सदेहस्याऽऽत्मनो मनसा संयोगो विपच्यमानकर्माऽऽश्रय-
सहितो जीवनमिष्यते । तत्रास्य प्राक् प्रायणादन्तःशरीरे

उत्तरयति ।—बुद्धरनित्यत्वस्य गृह्यतां उत्पादनाशयोरानुभवि कत्वात् तत्कारणे कल्पनीये आत्ममनोयोगादेरुत्पादकत्वमनन्तरोत्पन्नबुद्धेः संस्कारादेर्वा नाशकत्वं कल्प्यते; अरमबुद्धेस्तु सदृष्टनाशात् कालाद्वा नाशः । बुद्बुद्धान्तरनाशत्वेऽनुरूपं दृष्टान्तमाह, शब्दवदिति ।—शब्दस्य यथा शब्दान्तरान्नाशश्चरमशब्दस्य निमित्तनाशनाशत्वं, तथा प्रकृतेऽपीति भावः ॥ २५ ॥

ननु बुद्धेरात्मगुणत्वे संस्काराऽऽत्ममनोयोगयोः सत्त्वात् स्मृतीनां योगपक्षं स्यात्, अत्रैकदेशिनः परिहारमाशङ्कते ।—ज्ञानं संस्कारकारणं समवेतं यदवच्छेदेन, तदवच्छेदेन मनःसन्निकर्षस्य स्मृत्युत्पादकत्वात् तस्य च क्रमिकत्वान्न स्मृतीयोगपक्ष-
मित्यर्थः । ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या ज्ञानपदं संस्कारपरमित्यन्ये ॥ २६ ॥

तन्मत्तं दूषयति ।—उक्तं न युक्तम्;—मनसः अन्तःशरीरवृत्तित्वात् अन्तःशरीरे

वर्तमानस्य मनसः शरीराद्विज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः संयोगो
नोपपद्यत इति ॥ २७ ॥

साध्यत्वादहेतुः ॥ २८ ॥

विपच्यमानकर्माऽऽशयमात्रं जीवनम् ; एवञ्च सति साध्य-
मन्तःशरीरवृत्तित्वं मनस इति ॥ २८ ॥

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

सुसम्प्रेया खल्वयं मनः प्रणिदधानः चिरादपि कश्चिदर्थं
स्मरति, स्मरतश्च शरीरधारणं दृश्यते ; आत्ममनःसन्निकर्षजश्च
प्रयत्नो द्विविधः,—धारकः, प्रेरकश्च ; निःसृते च शरीराद्वि-
र्मनसि धारकस्य प्रयत्नस्याभावात् गुरुत्वात्पतनं स्यात् शरीरस्य
स्मरत इति ॥ २९ ॥

न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ ३० ॥

आशुगति मनः, तस्य वह्निः शरीरादात्मप्रदेशेन ज्ञानसंस्कृ-
तेन सन्निकर्षः, प्रत्यागतस्य च प्रयत्नोत्पादनम्, उभयं युज्यत
इति । उत्पाद्य वा धारकं प्रयत्नं शरीरान्निसरणं मनसः,
अतस्तत्रोपपन्नं धारणमिति ॥ ३० ॥

वृत्तिज्ञानजनकौभूतो व्यापारी यस्य तत्त्वान्, शरीरातिरिक्तावच्छेदेनाऽऽत्ममनोयोगस्य
ज्ञानाहेतुत्वाच्छरीरावच्छिन्नस्य हेतुत्वे तद्दीपतादवस्थामिति भावः ॥ २७ ॥

एकदेशी शङ्कते ।—शरीरावच्छिन्नाऽऽत्ममनोयोगो न हेतुः ; साध्यत्वात् असिद्ध-
त्वात्, मानाभावादिति भावः ॥ २८ ॥

सिद्धान्तसूक्ष्मम् ।—उक्तप्रतिषेधो न युक्तः, स्मरतः शरीरधारणरूपाया उपपत्ते-
र्युक्तेः, अन्यथा मनसो वह्निभावे शरीरावच्छिन्नाऽऽत्ममनोयोगाभावेन प्रयत्नाभावे शरीर-
धारणं न स्यादिति भावः ॥ २९ ॥

पुनः शङ्कते ।—शरीरधारणं न मनसः, आशुगतित्वाच्छीघ्रमेव शरीरे
परावृत्तेः ॥ ३० ॥

न स्मरणकालानियमात् ॥ ३१ ॥

किञ्चित् क्षिप्रं स्मर्यते, किञ्चिच्चिरेण ; यदा चिरेण, तदा सुसूक्ष्मया मनसि धार्यमाणे चिन्ताप्रबन्धे सति कस्यचिदर्थस्य लिङ्गभूतस्य चिन्तनमाराधितं स्मृतिहेतुर्भवति, तत्रैतच्चिरनिश्चरिते मनसि नोपपद्यते इति । शरीरसंयोगानपेक्षयाऽऽत्मनः संयोगो न स्मृतिहेतुः, शरीरस्य भोगाऽऽयतनत्वात्, उपभोगाऽऽयतनं पुरुषस्य ज्ञातुः शरीरम् ; न ततो निश्चरितस्य मनस आत्मसंयोगमात्रं ज्ञानसुखाऽऽदौनामुत्पत्तौ कल्पार्तं, क्लृप्तौ वा शरीरवैयर्थ्यमिति ॥ ३१ ॥

आत्मप्रेरणयदृच्छा-ज्ञताभिश्च न संयोग-
विशेषः ॥ ३२ ॥

आत्मप्रेरणेन वा मनसो वह्निः शरीरात् संयोगविशेषः स्यात्, यदृच्छया वाऽऽकस्मिकतया, ज्ञतया वा मनसः, सर्वथा चानुपपत्तिः । कथम् ?—* स्मर्त्तव्यत्वादृच्छातः स्मरणज्ञाना-
सम्भवाच्च, * यदि तावदात्मा “अमुथार्थस्य स्मृतिहेतुः संस्कारः
अमुष्मिन्नात्मप्रदेशे समवेतः, तेन मनः संयुज्यताम्” इति मनः
प्रेरयति, तदा स्मृत एवासावर्थो भवति, न स्मर्त्तव्यः । न

दूषयति ।—मनसः शीघ्रमागतनं न युक्तम् ;—स्मरणे कालनियमाभावात् ;
कदाचिच्छीघ्रं स्मर्यते, कदाचित् प्रणिधानात् विलम्बेनापीति । न च प्रणिधानं
शरीरान्तर्गतमनस एव, वह्निर्निर्गमस्तु स्मरणव्यवहितपूर्वमेवेति वाच्यम् ; वह्नि-
निर्गमान्न प्रविशानुकूलक्रियाविभागाऽऽदिकालकलापं यावच्छरीरधारणं न स्यादिति
भावः ॥ ३२ ॥

एकदेशिन्नतमन्त्र एकदेशी दूषयति ।—वह्निःप्रदेशविशेषे मनःसंयोगविशेषो न
भवति, स हि न स्मृत्वत्वात्प्रेरणेन, तस्य स्मरणीयज्ञानपुष्कतया प्रागेव स्मृत-
मन्त्राः सन्ति यदृच्छया चकजान्, आत्मककलशं निवेद्यात् । नापि अमन्त्रो

चाऽऽत्मप्रत्यक्ष आत्मप्रदेशः संस्कारो वा ; तत्रानुपपन्नाऽऽत्म-
प्रत्यक्षेण संवित्तिरिति । सुस्मृषया चायं मनः प्रणिदधानश्चिरा-
दपि कश्चिदर्थं स्मरति, नाकस्मात् । ज्ञत्वञ्च मनसो नास्ति,
ज्ञानप्रतिषेधादिति ॥ ३२ ॥

एतच्च—

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण
समानम् ॥ ३३ ॥

यदा खल्वयं व्यासक्तमनाः कचिद्देशे शर्करया कण्टकेन वा
पादव्यथनमाप्नोति, तदाऽऽत्ममनःसंयोगविशेष एषितव्यः ; दृष्टं
हि दुःखं दुःखवेदनञ्चेति । तत्रायं समानः प्रतिषेधः । यदृच्छया
तु विशेषः, नाऽऽकास्मिका क्रिया, नाऽऽकास्मिकः संयोगः इति ।
* कर्मादृष्टमुपभोगार्थं क्रियाहेतुरिति चेत्, समानम् ; * कर्मा-
दृष्टं पुरुषस्यं पुरुषोपभोगार्थं मनसि क्रियाहेतुः । एवं दुःखं
दुःखसंवेदनञ्च सिध्यतीत्येवञ्चेन्नान्यसे, समानम् ; स्मृति-
हितावपि संयोगविशेषो भवितुमर्हति । तत्र यदुक्तम्,—
“आत्मप्रेरणयदृच्छा-ज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः” इत्ययम-
प्रतिषेध इति ; पूर्वस्तु प्रतिषेधः,—“नान्तःशरीरवृत्तित्वान्नमनसः”
इति ॥ ३३ ॥

नतया ज्ञातयया, मनसो ज्ञातत्वात्पुनरागमात् । प्रेरणयदृच्छा-ज्ञताभिः प्रयत्नेच्छा-
ज्ञानैरित्यर्थः इति कश्चित्, तत्र ; प्रयत्नेनैव चरितव्यत्वाऽऽपत्तेः ॥ ३२ ॥

एतन्निराकरोति ।—श्रुत्यादिकं प्रकृतः कण्टकाऽऽदिना पादव्यथनेन तदवच्छेदेन
मनःसंयोगो यदा जायते, तथैतदपीति भावः । इतरथा तत्र मनःसंयोगो-
ऽप्युक्तोपाया, कुः । अदृष्टविशेषाद्येन कर्मावभावात्तद्विज्ञातव्यं चेत्, तस्य प्रकृतोपाया
भावः ॥ ३३ ॥

कः खल्विदानीं कारणयोगपदसङ्गावे युगपदस्मरणस्य हेतुरिति ?—

प्रणिधानलिङ्गाऽऽदिज्ञानानामयुगपद्भावात्
युगपदस्मरणम् ॥ ३४ ॥

यथा खल्व्वात्ममनसोः सन्निकर्षः संस्कारस्य स्मृतिहेतुः, एवं प्रणिधानं लिङ्गाऽऽदिज्ञानानि, तानि च न युगपद्भवन्ति, तत् कृता स्मृतीनां युगपदनुत्पत्तिरिति ॥ ३४ ॥

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्त्ते यौग-
पदप्रसङ्गः ॥ ३५ ॥

यत् खल्विदं प्रातिभमिव ज्ञानं प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्त्त-
मुत्पद्यते, कदाचित् तस्य युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गो हेत्वभावात्,
* सतः स्मृतिहेतोरसंवेदनात् प्रातिभेन समानाभिमानः, *
बह्वर्थविषये वै चिन्ताप्रवन्धे कश्चिदेवार्थः कस्यचित् स्मृतिहेतुः,
तस्यानुचिन्तनात् तस्य स्मृतिर्भवति, न चायं स्मार्त्ता सर्वं
स्मृतिहेतुं संवेदयते, एवं मे स्मृतिरुत्पद्येत्यसंवेदनात्; प्रातिभमिव
ज्ञानमिदं स्मार्त्तमिति । * प्रातिभे कथमिति चेत्, पुरुषकर्म-
विशेषादुपभोगवन्नियमः । * प्रातिभमिदानीं ज्ञानं युगपत्
कस्मात् नोत्पद्यते ?—यथोपभोगार्थं कर्म युगपदुपभोगं न
करोति, एवं पुरुषकर्मविशेषः प्रातिभाहेतुर्न युगपदेकं
प्रातिभं ज्ञानमुत्पादयति । * हेत्वभावादयुक्तमेतदिति चेन्न,

स्मरणयोगपदं स्वयमुपपादयति ।—प्रणिधानं चिन्तेकांशं, सुखपूर्वेति यावत्,
लिङ्गज्ञानम् उद्दीपकम्, उद्दीपकानामानन्त्यादादिपदं ज्ञानाव्यरतो योजनीयम्; तस्य
कृतात् स्मरणकर्मः । तदि च युगपदुद्दीपकानि, तदा तावदुद्दीपकस्मरणमिष्यत एव,
तथा पदज्ञानादाविति मन्वन्त्यम् ॥ ३४ ॥

करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यात् * उपभोगवन्नियम इत्यस्ति
दृष्टान्तः । हेतुर्नास्तीति चेन्नन्यसे, न, करणस्य प्रत्ययपर्याये
सामर्थ्यात् ; नैकस्मिन् ज्ञेये युगपदनेकं ज्ञानमुत्पद्यते, न
चानेकस्मिन्, तदिदं दृष्टेन प्रत्ययपर्यायेणानुमेयं करणसामर्थ्य-
मित्यभूतमिति । न ज्ञातुः, विकरणधर्मिणो देहनानात्वे
प्रत्यययोगपद्यादिति, अथच्च द्वितीयः प्रतिषेधः । * अवस्थित-
शरीरस्य चानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपदनेकार्थस्मरणं
स्यात् * क्वचिदेवावस्थितशरीरस्य ज्ञातुरिन्द्रियार्थप्रबन्धेन
ज्ञानमनेकमेकस्मिन्नात्मप्रदेशे समवेति, तेन यदा मनः
संयुज्यते, तदा ज्ञातपूर्वस्यानेकस्य युगपत् स्मरणं प्रसज्यते,
प्रदेशस्य संयोगपर्यायाभावादिति । * आत्मप्रदेशानरमद्रव्या-
न्तरत्वादेकार्थसमवायस्याविशेषे स्मृतियोगपक्षप्रतिषेधानुप-
पत्तिः ; * शब्दसन्ताने तु श्रोत्राधिष्ठानप्रत्यासत्त्वा शब्द-
श्रवणवत् संस्कारप्रत्यासत्त्वा मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्ति-
प्रसङ्गः । पूर्वं एव तु प्रतिषेधः, नानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे
युगपत् स्मृतिप्रसङ्ग इति ॥ ३५ ॥

यत् पुरुषधर्मो ज्ञानम्, अन्तःकरणस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुख-
दुःखानि धर्मा इति कस्यचिद्दर्शनं, तत् प्रतिषिध्यते,—

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥ ३६ ॥

अयं खलु जानीते तावत्—इदं मे सुखसाधनम्, इदं मे
दुःखसाधनमिति ; ज्ञातं सुखसाधनमाप्तुमिच्छति, दुःखसाधनं
हातुमिच्छति, प्राप्तुम् इच्छाप्रयुक्तस्यास्य सुखसाधनावामये
समीहाविशेष आरम्भः, जिहासाप्रयुक्तस्य दुःखसाधनपरिवर्जनं

नविच्छाऽऽदीनां मनोधर्मत्वात्तेषां ज्ञानजन्यत्वात् ज्ञानानाधिपत्येन च तत्र
कार्यकारणभावान् कथं ज्ञानस्याऽऽत्मगुणत्वम् ? इत्याशङ्कानां सिद्धान्तसूत्रम् ।—अथ

निवृत्तिः ; एवं ज्ञानेच्छाप्रयत्नसुखदुःखानामेकेनाभिसम्बन्धः,
एककर्तृकत्वं, ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानाऽऽश्रयत्वञ्च । तस्माज्ज्ञ-
स्येच्छादेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्माः, नाचेतनस्येति ; आरम्भ-
निवृत्त्योश्च प्रत्यगात्मनि दृष्टत्वात् परवानुमानं वेदितव्यमिति ॥ ३६ ॥

अत्र भूतचेतनिक आह,—

तस्मिङ्गत्वादिच्छादेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥ ३७ ॥

आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छादेषाविति यस्याऽऽरम्भनिवृत्ती,
तस्येच्छादेषौ, तस्य ज्ञानमिति प्राप्तं पार्थिवाऽऽप्यतैजसवाय-
वीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छादेषज्ञानैर्योग
इति चेतन्यम् ॥ ३७ ॥

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३८ ॥

शरीरे चेतन्यनिवृत्तिः । आरम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छादेषज्ञानै-
र्योग इति प्राप्तं परश्वादेः करणस्याऽऽरम्भनिवृत्तिदर्शनाच्चेतन्य-
मिति । अथ शरीरस्येच्छाऽऽदिभिर्योगः, परश्वादेस्तु करणस्या-
ऽऽरम्भनिवृत्ती व्यभिचरतः, न तर्ह्यभयं हेतुः, पार्थिवाऽऽप्यतैजस-
वायवीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छादेषज्ञानैर्योग
इति । अयं तर्ह्यन्योऽर्थः, “तस्मिङ्गत्वादिच्छादेषयोः पार्थिवा-

ज्ञानवत् आत्मनः, इच्छाऽऽदयः । हेतुमाह,—आरम्भनिवृत्त्योरिच्छादेषनिमित्तत्वादिति
वृत्तिनिवृत्त्योरिच्छादेषजन्यत्वात्, तत्र सामानाधिकरण्येन ज्ञानस्य हेतुत्वमिति भावः ;
वडा,—अस्य ज्ञानवत्, अविच्छादेषौ, तस्मिन्निमित्तत्वादित्यर्थः, तथा च ज्ञानेच्छाप्रयत्नानां
ज्ञानाधिकरण्यं नास्ति ॥ ३६ ॥

नन्वस्तु तेषां सामानाधिकरण्यं, परन्तु तेषामधिकरणं कायाकारः पार्थिवादि-
परमाणुपुञ्ज एवेति चावाक्यः शङ्कते ।—पार्थिवाद्येषु देहेषु ज्ञानादेर्न प्रतिषेधः ।
कृतः ?—इच्छादेषयोस्तस्मिङ्गत्वादारम्भनिवृत्तिलिङ्गकत्वात् तयोः चेष्टाविशेषलिङ्गकत्वा-
च्चेष्टायाश्च शरीरे प्रत्यक्सिद्धत्वादिति भावः ॥ ३७ ॥

वनाधिक्यः प्रविशन्निमाह ।—आरम्भनिवृत्त्यनुमापकक्रियाविशेषदर्शनात् परश्वा-

द्येऽप्यप्रतिषेधः” । पृथिव्यादीनां भूतानामारम्भस्तावत् तस- (ट)-
स्थावरशरीरेषु, तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषः, लोष्टाऽऽदिषु
च लिङ्गाभावात् प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः, आरम्भनिवृत्ति-
लिङ्गाविच्छादेषाविति, पार्थिवाऽऽप्येष्वणुषु तद्दर्शनादिच्छा-
देषयोस्तदयोगाज्ज्ञानयोग इति सिद्धं भूतचैतन्यमिति ॥ ३८ ॥

कुम्भाऽऽदिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३९ ॥

कुम्भाऽऽदिमृदवयवानां व्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेष आरम्भः,
सिकताऽऽदिषु प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः, न च सृष्टिकर्तृणां-
मारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छादेषप्रयत्नज्ञानैर्योगः, तस्मात् तस्मिन्
त्वादच्छादेषयोरित्यहेतुरिति ॥ ३९ ॥

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ४० ॥

तयोरिच्छादेषयोर्नियमानियमौ विशेषकौ भेदकौ, ज्ञानेच्छा-
देषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्तौ, न स्वाऽऽश्रये ; किं तर्हि ?—
प्रयोज्याऽऽश्रये । तत्र प्रयुज्यमानेषु भूतेषु प्रवृत्तिनिवृत्तौ स्तः,
न सर्वेषु, इत्यनियमोपपत्तिः । यस्य तु ज्ञानाद्भूतानामिच्छादेष-
निमित्ते आरम्भनिवृत्तौ स्वाऽऽश्रये, तस्य नियमः स्यात् ; यथा
भूतानां गुणान्तरनिमित्ता प्रवृत्तिगुणप्रतिबन्धाच्च निवृत्ति-
भूतमात्रे अवति नियमेन, एवं भूतमात्रे ज्ञानेच्छादेषनिमित्ते
प्रवृत्तिनिवृत्तौ स्वाऽऽश्रये स्याताम् । तस्मात् प्रयोजकाऽऽश्रिता
ज्ञानेच्छादेषप्रयत्नाः, प्रयोज्याऽऽश्रये तु प्रवृत्तिनिवृत्तौ इति
सिद्धम् । * एकशरीरे तु ज्ञातृबहुत्वं निरनुमानम् । * भूतचैत-

दिषु ज्ञानाऽऽदिसिद्धिप्रसङ्गः । तस्मात् क्रियाविशेषाणां प्रयत्नादिजन्यत्वं सम्बन्धान्तरेण,
न तु समवायेन, व्यभिचारादिति भावः ॥ ३८ ॥

स्वमते व्युत्पादयति ।—तद्विशेषकौ तयोस्तेनाचेतनयोः, विशेषकौ इतरव्यावर्तकौ,
नियमानियमौ समवायेन अन्यतानियमतदभावात्, समवायेन ज्ञानेच्छाऽऽदीनां चेतन-

(ट) तस्यशब्दस्य अङ्गम इत्यर्थः, अङ्गमस्थावरशरीरेष्वित्यर्थः ।

निकपदार्थस्यैकशरीरे बह्वनि भूतानि ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नगुणानोति ज्ञातबहुत्वं प्राप्तम्, ओमिति कुवतः प्रमाणं नास्ति; यथानाना शरीरेषु नाना ज्ञातारो बुद्ध्यादिगुणव्यवस्थानात्, एवमेकशरीरेऽपि बुद्ध्यादिव्यवस्थाऽनुमानं स्यात् ज्ञातबहुत्वस्येति ।
 * दृष्टान्यगुणानिमित्तः प्रवृत्तिविशेषो भूतानाम् ; सोऽनुमानमन्यत्रापि * दृष्टः करणलक्षणेभ्यु भूतेषु परश्वादिषूपदानलक्षणेभ्यु च स्वप्नभृतिष्वन्यगुणानिमित्तः प्रवृत्तिविशेषः ; सोऽनुमानम् अन्यत्रापि च त्वसंस्थावरशरीरेषु तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषो भूतानामन्यगुणानिमित्त इति ; स च गुणः प्रयत्नसमानाऽऽश्रयः संस्कारो धर्माधर्मसमाख्यातः सर्वार्थः पुरुषार्थाऽऽराधनाय प्रयोजको भूतानां प्रयत्नवदिति । आत्मास्तित्वहेतुभिरात्मनित्यत्वहेतुभिश्च भूतचैतन्यप्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः, नेन्द्रियार्थयोः ; तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानादिति च समानः प्रतिषेध इति । क्रियामात्रं क्रियोपरममात्रञ्च प्रवृत्तिनिवृत्तौ इत्यभिप्रेत्योक्तं,—“तन्निङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः” ; अन्यथा त्वमे आरम्भनिवृत्तौ आख्याति ; न च तथाविधे पृथिव्यादिषु दृश्येते, तस्मादेयुक्तं “तन्निङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः” इति ॥ ४० ॥

भूतेन्द्रियमनसां समानः प्रतिषेधः, मनस्तूदाहरणमात्रम्,—

यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च

न मनसः ॥ ४१ ॥

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमित्यतः प्रभाति

धर्मत्वात् अवच्छेदकतया च शरीरे तेषां जन्यजनकभावः । परश्वादौ यत्नविषय-
 तथा क्रिया, वस्तुतस्तु चेदेव परश्वादिक्रियाजनिका, यत्नादेकहेतुत्वे मानाभावः ॥ ४० ॥

इच्छाऽऽदीनां मनोगुणत्वाभावे युक्त्यनुरमाह ।—इच्छादय इति शेषः, यथोक्त-

यथोक्तं मङ्गलान्ते, तेन भूतेन्द्रियमनसाच्चैतन्यप्रतिषेधः । पार-
तन्त्र्यात्—परतन्त्राणि भूतेन्द्रियमनांसि धारणप्रेरणव्यूहन-
क्रियासु प्रयत्नवशात् प्रवर्तन्ते, चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि
स्युरिति । अकृताभ्यागमाच्च—प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीराऽऽरम्भ इति
चैतन्ये भूतेन्द्रियमनसां परकृतं कर्म पुरुषेण भुज्यत इति स्यात्,
अचैतन्ये तु तत्साधनस्य स्वकृतकर्मफलोपभोगः पुरुषस्येत्युप-
पद्यत इति ॥ ४१ ॥

अथायं सिद्धोपसङ्ग्रहः,—

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ४२ ॥

आत्मगुणो ज्ञानमिति प्रकृतम् । परिशिषो नाम प्रसक्तप्रति-
षेधेऽन्यत्वाप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः ; भूतेन्द्रियमनसां प्रतिषेधे
द्रव्यान्तरं न प्रसज्यते, शिष्यते चाऽऽत्मा, तस्य गुणो ज्ञानमिति
ज्ञायते । यथोक्तहेतूपपत्तेश्चेति ।—दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ-

हेतुत्वात् ज्ञानेच्छाऽऽदीनां सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावात्, पारतन्त्र्यात्
मनस्येतनमङ्गकारित्वान्, इच्छाऽऽदयो न तद्गुणाः, वस्तुतस्तु इच्छाऽऽदीनां पारतन्त्र्यात्
पराधीनविषयताशालित्वात् ; इच्छाऽऽदीनां हि सामानाधिकरण्यजनकज्ञानविषयतैव
विषयता, ज्ञानवैयधिकरण्ये च तन्न स्यादिति भावः । स्वकृतात् स्वयंकृतात्, कर्मण्य
अभ्यागमो भोगः, स मनसो यत्नाऽऽदिसत्त्वे न स्यात्, न ह्यन्यकृतात्कर्मणो भोगः, न
वा भोगोऽपि मनसः, भोक्तृव्यन्वमीचाऽऽदिभागिन एवाऽऽत्मत्वात्, तद्विज्ञे आत्मनि
मानाभावात्, आत्मनः सुखाऽऽदिसाक्षात्कारानुरोधान्महत्त्वम् ; मनसश्च धर्मिणाङ्ग-
मानादनुत्तमम्, अतोऽपि नैकम् । न च मनसः परमाणुत्वाद्वाघवाच्च नित्यत्वं त्वन्मतम् ;
तथा चाऽऽत्ममनसोर्नित्यत्वात् सदा ज्ञानाऽऽदिप्रसङ्गादनित्योक्तः स्यात्, अतोऽन्तःकरण-
स्यानित्यत्वं, तन्नाशश्च मोक्ष इति वाच्यम् ; अदृष्टाद्यभावेन नित्यधीरपि वस्यधीरिव
क्लृप्ताजनकत्वात् । न च ज्ञानाऽऽदिद्रुं प्रक्रम्य इत्येतत्सर्वं मन एवेति श्रुतेर्मनस एव
ज्ञानादिकम्, अभेदमुखिनीपादानोपादेयभावकथनादिति वाच्यम् ; “अन्नं वै प्राणाः”
इत्यादौ निमित्तेऽपि अभेदोल्लेखदर्शनात् कारणत्वमात्रे तात्पर्यादिति तत्त्वम् ॥ ४१ ॥

आत्मगुणत्वमुपसंहरति ।—इच्छाऽऽदिकमात्मगुण इत्यादि । हेतुमाह,—परि-

ग्रहणादित्येवमादीनामात्मप्रतिपत्तिहेतूनामप्रतिषेधादिति, परि-
शेषज्ञापनार्थं प्रकृतस्थापनाऽऽदिज्ञानार्थञ्च यथोक्तहेतूपपत्ति-
वचनमिति । अथवोपपत्तेश्चेति हेत्वन्तरमेवेदम् ;—नित्यः
खल्वयमात्मा यस्मादेकस्मिन् शरीरे धर्मञ्चरित्वा कायभेदात्
स्वर्गे देवेषूपपद्यते, अधर्मञ्चरित्वा देहभेदान्नरकेषूपपद्यत इति
उपपत्तिः शरीरान्तरप्राप्तिलक्षणा ; सा सति सत्त्वे नित्ये
चाऽऽश्रयवती, बुद्धिप्रबन्धमात्रे तु निरात्मके निराश्रया नोपपद्यत
इति । एकसत्त्वाधिष्ठानश्चानेकशरीरयोगः संसार उपपद्यते,
शरीरप्रबन्धोच्छेदश्चापवर्गो मुक्तिरित्युपपद्यते, बुद्धिसन्ततिभावे
त्वेकसत्त्वानुपपत्तेर्न कश्चिद्दीर्घमध्वानं सन्धावति, न कश्चिच्छरीर-
प्रबन्धादिमुच्यत इति संसारापवर्गानुपपत्तिरिति । बुद्धिसन्तति-
मात्रे च सत्त्वभेदात् सर्वमिदं प्राणिव्यवहारजातमप्रतिसंहित-
मव्यावृत्तमपरिनिष्ठञ्च (ठ) स्यात्, ततः स्मरणाभावान्नान्यदृष्ट-
मन्यः स्मरतीति ; स्मरणञ्च खलु पूर्वज्ञातस्य समानेन ज्ञात्वा
ग्रहणम्, अज्ञासिषममुमर्थं ज्ञेयमिति ; सोऽयमेको ज्ञाता
पूर्वज्ञातमर्थं गृह्णाति, तच्चास्य ग्रहणं स्मरणमिति, तत् बुद्धि-
प्रबन्धमात्रे निरात्मके नोपपद्यते ॥ ४२ ॥

स्मरणत्वात्मनो ज्ञास्वाभाव्यात् ॥ ४३ ॥

उपपद्यत इति । आत्मन एव स्मरणं, न बुद्धिसन्ततिमात्र-
स्येति । तुशब्दोऽवधारणे । कथम् ?—ज्ञस्वभावत्वात् ; ज्ञ इत्यस्य
स्वभावः स्वी धर्मः, अयं खलु ज्ञास्यति जानाति अज्ञासी-

शेषात् शरीराऽऽदिहेतुनिरासात्, यथोक्तहेतूनां दर्शनस्पृशनाभ्यामेकार्थग्रहणादित्या-
दीनाम्, उपपत्तेः उपपन्नत्वात् ॥ ४२ ॥

स्मृतेरात्मगुणत्वमर्थसिद्धिमपि शिष्यबुद्धिवैशद्याय पृथग्व्याख्यायति ।—तुरत्यर्थे ।
ज्ञास्वाभाव्यात् ज्ञानवत्स्वाभाव्यात्, ज्ञानत्वावच्छिन्नवत्त्वं ज्ञात्मनः स्वभावः, स्मृतेश्च

(ठ) “अपरिनिष्ठानञ्च” इत्यपि पाठः ।

दिति त्रिकालविषयेणानेकेन ज्ञानेन सम्बध्यते, तच्चास्य त्रिकालविषयं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनौयं ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिषमिति वर्त्तते, तत् यस्यायं स्त्री धर्मः, तस्य स्मरणं, न बुद्धिप्रबन्धमात्रस्य निरात्मकस्येति ॥ ४३ ॥

स्मृतिहेतूनामयोगपद्धात् युगपदस्मरणमित्युक्तम् । अथ केभ्यः स्मृतिरुत्पद्यते इति ?—स्मृतिः खलु,—

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्य-
परिग्रहाऽऽश्रयाऽऽश्रितसम्बन्धाऽऽनन्तव्यवियोगैक-
कार्यविरोधातिशयप्राप्तियवधानमुखदुःखेच्छाद्वेष-
भयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः ॥ ४४ ॥

सुसूक्ष्मया मनसो धारणं—प्रणिधानं, सुसूक्ष्मतलिङ्गचिन्तन-
स्मार्थस्मृतिकारणम् । निबन्धः खलु—एकग्रन्थोपपन्नोऽर्थानाम्,

ज्ञानत्वावच्छिन्नत्वात् तद्धर्मत्वमर्थात् सिद्धम् ; यद्वा,—ज्ञात्वाभावात् स्मृतिहेतुज्ञानसा-
ऽऽत्मवृत्तिले सिद्धे स्मृतेरात्मवृत्तित्वमपि सिद्धम् ; परे तु,—“ज्ञानस्याऽऽश्रयिनाशित्वात्कथं
स्मृतिहेतुतेल्यन्ताऽऽह, स्मरणमित्यादि ।—ज्ञानवतः स्वभावः संस्कारः तच्चादिव्यर्थः”
इत्याहुः ॥ ४३ ॥

स्मृतेर्योगपद्यसमाधानाय प्रणिधानाऽऽदीनामुद्बोधकानां क्रमो हेतुरुक्तः, तत्र
प्रणिधानाऽऽदीनि दर्शयति ।—आहुणमित्यनुवसन्ते । निमित्तशब्दस्य दम्भात्परं युतस्य
प्रत्येकममेदेनान्वयः । प्रणिधानं मनसो विषयान्तरसंस्कारवारणम् ; निबन्ध एकग्रन्थोप-
निबन्धनम् ; यथा प्रमाद्येन प्रमेयाऽऽदिस्मरणम् । चम्भासः संस्कारबाहुल्यम् ; एतस्य
यद्यपि बोद्बोधकत्वं, तथापि तादृशे शीघ्रमुद्बोधकसमवधानं सादित्याशयेन तदुपन्यासः ।
अभ्यासो दृढतरसंस्कार उद्बोधकत्वेनोक्त इति केचित् । लिङ्गं व्याप्यम् ; व्यापकस्य
स्मरणम् ; लक्षणं यथा कपिभ्रजाऽऽदि भर्जुनादेः । सादृश्यं देहादेः । परिग्रहः
स्वीकारः, तस्य स्वस्वामिभावोऽर्थः ; तदेकतरेणान्यतरस्मरणम् । आश्रयाऽऽश्रितौ
राजाऽऽदित्यपरिजनौ परस्परस्मरणकौ । सम्बन्धो गुरुशिष्यभावादिः, गोवृषभ्यामात्
प्रवृत्तः । ज्ञानान्तर्गते प्रोक्तत्वावघातादेः । वियोगो यथा दारादेः । एककार्या

एकग्रन्थोपयताः खल्वर्था अन्योऽन्यस्मृतिहेतव आनुपूर्व्यातरथा वा भवन्तीति । धारणाशास्त्रकृतो वा प्रज्ञातेषु वस्तुषु स्मर्त्तव्यानामुपनिक्षेपो निबन्ध इति । अभ्यासस्तु—समाने विषये ज्ञानानामभ्यासितिरभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणोऽभ्यासशब्देनोच्यते, स च स्मृतिहेतुः समान इति । लिङ्गं पुनः,—संयोगि-समवायेकार्यसमवायि-(ङ)-विरोधि चेति । संयोगी यथा,—धूमोऽग्नेः, गोर्विषाणं, पाणिः पादस्य, रूपं स्पर्शस्य, अभूतं भूतस्येति । लक्षणं—पञ्चवयवस्थं गोत्रस्य स्मृतिहेतुः ; विदाना-मिदं, गर्गाणामिदमिति । सादृश्यं—चित्रगतं प्रतिरूपकम् ; देवदत्तस्येत्येवमादि । परिग्रहात्—स्वेन वा स्वामौ स्वामिना वा स्वं स्मर्यते । आश्रयात्—ग्रामस्था तदधौनं स्मरति । आश्रितात्—तदधौनेन ग्रामस्थमिति । सम्बन्धात्—अन्तेवासिना गुरुं स्मरति, ऋत्विजा याज्यमिति । आनन्तर्यात् इति—करणौ-येष्वर्थेषु । वियोगात्—येन विप्रयुज्यते, तद्वियोगप्रतिसंवेदौ भृशं स्मरति । एककार्यात्—कर्त्तृन्तरदर्शनात् कर्त्तृन्तरे स्मृतिः । विरोधात्—विजिगीषमाणयोरन्यतरदर्शनादन्यतरः स्मर्यते । अतिशयात्—येनातिशय उत्पादितः । प्राप्तेः,—यतो येन किञ्चित्

अन्तेवासिप्रभृतयः परस्परस्मारकाः । विरोधश्चिद्विनकुलादेरन्यतरेषापरस्मरणम् । अतिशयः संस्कार उपनयनाऽऽदिरावाप्याऽऽदिस्मारकाः । प्रातिघर्षनाऽऽदेतांसारं स्मारयति । व्यवधानावरणम् ; यथा खड्गाऽऽदेः कोषाऽऽदि । सुखदुःखयोरन्यतरेषापरस्य, ताभ्यां तत्प्रयोजकस्य वा स्मरणम् । इच्छाषेधौ यद्विषयकतया गृहीतौ, तस्य स्मारकौ । अयं वरणादिर्भवेतोर्वा स्मरणम् । अर्थित्वं दातुः । क्रिया प्राखादेः बाधुदेः । रागात् प्रीतेः, पुत्रादेः स्मरणम् । धर्माधर्माभ्यां जन्मान्तरागुभूतसुखदुःखासाधनयोः

(ङ) अत्र षष्ठीतत्पुरुषसप्तमीतत्पुरुषसमासौ बोध्यौ ; यदा,—षष्ठीतत्पुरुष-षडुभौहिंसमासौ ।

प्राप्तमाप्त्यं वा भवति, तमभीष्टं स्मरति । व्यवधानात्—
 कोशाऽऽदिभिरसिप्रभृतीनि स्मर्यन्ते । सुखदुःखाभ्यां—तद्भेदः
 स्मर्यते । इच्छादेषाभ्यां—यमिच्छति, यच्च द्वेष्टि, तं स्मरति ।
 भयात्—यतो विभेति । अर्थित्वात्—येनार्थो भोजनेनाऽऽच्छा-
 दनेन वा । क्रियायाः—रथेन रथकारं स्मरति । रागात्—यस्यां
 स्त्रियां रक्तो भवति, तामभीष्टं स्मरति । धर्मात्—जात्यन्तर-
 स्मरणम्, इह चाधीतश्रुतावधारणमिति । अधर्मात्—
 प्रागनुभूतदुःखसाधनं स्मरति । न चैतेषु निमित्तेषु युगपद्वेद-
 नानि भवन्तीति युगपदस्मरणमिति । निदर्शनश्चेदं स्मृतिहेतूनां,
 न परिसङ्ख्यानमिति ॥ ४४ ॥

अनित्यायाञ्च बुद्धावुत्पन्नाऽपवर्गित्वात् कालान्तरावस्थानाच्चा-
 नित्यानां संशयः,—किमुत्पन्नाऽपवर्गिणौ बुद्धिः शब्दवत् ?—
 आहोस्वित् कालान्तरावस्थायिनी कुम्भवदिति ? उत्पन्नाऽपवर्गि-
 णीति पक्षः परिगृह्यते । कस्मात् ?—

(ठ) कर्मानवस्थायित्वग्रहणात् ॥ ४५ ॥

कर्माणोऽनवस्थायिनो ग्रहणादिति । क्षिप्तस्थोरापतनात्
 क्रियासन्तानो गृह्यते, प्रत्यर्थनियमाच्च बुद्धीनां क्रियासन्तानवत्
 बुद्धिसन्तानोपपत्तिरिति । * अवस्थितग्रहणे च व्यवधीय-
 मानस्य प्रत्यक्षनिवृत्तेः । * अवस्थिते च कुम्भे गृह्यमाणेन
 प्रागनुभूतसुखादेश्च स्मरणमिति । उक्तेषु च किञ्चित्सकृपं सत्किञ्चित् ज्ञातमुद्बोधकं,
 शिष्यव्युत्पादनाय चार्थं प्रपञ्चः ॥ ४४ ॥

समाप्तं बुद्ध्यात्मगुणत्वप्रकरणम् ।

बुद्धेर्बुद्धाज्जरादिनाश उक्तः, स च तृतीयचक्षवर्त्तिध्वंसप्रतियोगित्वसिद्धौ स्यात्,
 जतो बुद्धेरुत्पन्नापवर्गित्वं व्युत्पादनीयम् ; तत्र निदानसूत्रम् ।—अरीराऽऽदिकर्म-

(ठ) स्थिरमोचराः बुद्धयः क्षणिक्यः, बुद्धित्वात् ; कर्माऽऽदिवुद्धिवत् इति
 तावद्येटीका ।

सन्तानेनैव बुद्धिर्वर्त्तते, प्राग्व्यवधानात् ; तेन व्यवहिते प्रत्यक्षं ज्ञानं निवर्त्तते । कालान्तरावस्थाने तु वृद्धेर्दृश्यव्यवधानेऽपि प्रत्यक्षमवतिष्ठतेति । स्मृतिश्चालिङ्गं बुद्ध्यावस्थाने, संस्कारस्य बुद्धिजन्यस्य स्मृतिहेतुत्वात् । यच्च मन्येतावतिष्ठते बुद्धिः, दृष्टा हि बुद्धिविषये स्मृतिः, सा च बुद्धावनित्यायां कारणाभावाच्च स्यादिति ; तदिदमलिङ्गम् । कस्मात् ?—बुद्धिर्ज्ञो हि संस्कारो गुणान्तरं स्मृतिहेतुः, न बुद्धिरिति ॥ ४५ ॥

हेत्वभावादयुक्तमिति चेत्,—

बुद्ध्यावस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः ॥ ४६ ॥

यावदवतिष्ठते बुद्धिः, तावदसौ बोधव्योऽर्थः प्रत्यक्षः, प्रत्यक्षे च स्मृतिरनुपपन्नेति ॥ ४६ ॥

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वात् विद्युत्सम्पाते
रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥ ४७ ॥

यद्युत्पन्नाऽपवर्गिणी बुद्धिः, प्राप्तमव्यक्तं बोधव्यस्य ग्रहणम् ; यथा विद्युत्सम्पाते वैद्युतस्य प्रकाशस्यानवस्थानादव्यक्तं रूप-ग्रहणमिति । व्यक्तं तद्व्याणां ग्रहणं, तस्मादयुक्तमेतदिति ॥ ४७ ॥

हेतूपादानात् प्रतिषेधव्याभ्यनुज्ञा ॥ ४८ ॥

उत्पन्नाऽपवर्गिणी बुद्धिरिति प्रतिषेधव्यं, तदेवाभ्यनुज्ञायते, विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवदिति । * यत्राव्यक्तं ग्रहणं,

धाराया अनवस्थायित्वाः प्रत्यक्षधाराऽपि वाच्या, न चाऽऽद्यबुद्धेरनन्तरावस्थाने, विरस्य व्यापाराभावात् ; पूर्वपूर्वस्य च परपरतोऽनन्तभावादिनाऽसिद्धावाग्रयनाद्यादे रभावादिरोधिगुणस्येव नाशकत्वमिति ; कर्मबुद्धेरनवस्थायित्वग्रहणादिति वाऽर्थः ॥ ४७ ॥

प्रकृते ।—बुद्धिर्यथाशक्तिनाशिनी स्यात्, योग्याशक्तिविषयस्यैव शक्तिनाशिनाशिनी न स्यात्, विद्युत्सम्पातकालीदवस्तुग्रहणवत् ; न चैव, तस्मात्प्रतिषेधव्यः ॥ ४८ ॥

उपपन्नमिति ।—प्रतिषेधव्यस्य बुद्धेरशक्तिनाशित्वं न युक्तं । यथा । कृता,

तत्रोत्पन्नाऽपवर्गिणौ बुद्धिरिति ग्रहणहेतुविकल्पाद्ग्रहणविकल्पः,
 न बुद्धिविकल्पात्, * यदिदं कचिदव्यक्तं ग्रहणम्, अयं विकल्पो
 ग्रहणहेतुविकल्पात् ; यत्नानवस्थितो ग्रहणहेतुः, तत्राव्यक्तं
 ग्रहणं, यत्नावस्थितः, तत्र व्यक्तं, न तु बुद्धेरवस्थानानवस्था-
 नाभ्यामिति । कस्मात् ?—अर्थग्रहणं हि बुद्धिः, यत्तदर्थग्रहण-
 मव्यक्तं व्यक्तं वा, बुद्धिः सेति । विशेषाग्रहणे च सामान्यग्रहण-
 मात्रमव्यक्तग्रहणम् ; तत्र विषयान्तरे बुद्धन्तरानुत्पत्तिर्निमित्ता-
 भावात् । यत्र समानधर्मयुक्तञ्च धर्मी गृह्यते, विशेषधर्मयुक्तञ्च,
 तद्व्यक्तं ग्रहणम् ; यत्र तु विशेषेऽगृह्यमाणे सामान्यग्रहणमात्रं
 तदव्यक्तं ग्रहणम् । समानधर्मयोगाच्च विशिष्टधर्मयोगो विषया-
 न्तरं, तत्र यत् ग्रहणं न भवति, तत् ग्रहणनिमित्ताभावात्, न
 बुद्धेरनवस्थानादिति । यथाविषयञ्च ग्रहणं व्यक्तमेव, प्रत्यर्थ-
 नियतत्वाच्च बुद्धोनाम् ; सामान्यविषयञ्च ग्रहणं स्वविषयं
 प्रति व्यक्तं, विशेषविषयञ्च प्रत्यव्यक्तम् ; विशेषविषयञ्च ग्रहणं
 स्वविषयं प्रति व्यक्तम् ; प्रत्यर्थनियता हि बुद्धयः, तदिदमव्यक्त-
 ग्रहणं देशितं क्व विषये बुद्धनवस्थानकारितं स्यादिति ।
 धर्मिणस्तु धर्मभेदे बुद्धिनानात्वस्य भावाभावाभ्यां तदुपपत्तिः,
 धर्मिणः स्वरूपस्य समानाच्च धर्माविशिष्टाश्च, तेषु प्रत्यर्थनियता
 नानाबुद्धयः, ता उभयो यदा धर्मिणि वर्तन्ते, तदा व्यक्तं ग्रहणं
 धर्मिणमभिप्रेत्य, यदा तु सामान्यग्रहणमात्रं तदाऽव्यक्तं ग्रहण-
 मिति । एवं धर्मिणमभिप्रेत्य व्यक्ताव्यक्तयोरग्रहणयोरुपपत्ति-
 रिति ; न चेदमव्यक्तं ग्रहणं बुद्धेर्बुद्धव्यस्य वाऽनवस्थायित्वादुप-
 पद्यत इति ॥ ४८ ॥

इदं हि न,—

प्रदीपार्चिः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥ ४८ ॥

अनवस्थायित्वेऽपि बुद्धेस्तेषां द्रव्याणां ग्रहणं व्यक्तं प्रतिपत्त-
व्यम् ; कथम् ?—प्रदीपार्चिः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् । प्रदीपा-
र्चिषां सन्तत्या वर्त्तमानानां ग्रहणानवस्थानं ग्राह्यानावस्थानञ्च
प्रत्यर्थनियतत्वात् बुद्धीनां, यावन्ति प्रदीपार्चींषि, तावत्यो
बुद्ध्य इति, दृश्यते चात्र व्यक्तं प्रदीपार्चिषां ग्रहणमिति ॥ ४८ ॥

चेतना शरीरगुणः, सति शरीरे भावादसति चाभावा-
दिति,—

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ ५० ॥

संशयिक इति भावः । स्वगुणोऽप्यु द्रवत्वमुपलभ्यते,
परगुणशोष्णता, तेनायं संशयः, किं शरीरगुणश्चेतना शरीरे
गृह्यते, अथ द्रव्यान्तरगुणः ? इति ॥ ५० ॥

यावच्छरीरभावित्वादूपाऽऽदीनाम् ॥ ५१ ॥

न शरीरगुणश्चेतना ; कस्मात् ?—न रूपाऽऽदिहीनं शरीरं
गृह्यते, चेतनाहीनन्तु गृह्यते ; यथोष्णताहीना आपः ; तस्मान्न

अस्तु तर्हि तद्वद्वान्तेनान्यासां बुद्धीनामनवस्थायित्वमित्याह ।—यथा प्रदीपा-
र्चिषां सन्तत्यमानानामनवस्थायित्वेऽप्यभिव्यक्तग्रहणं, तथाऽन्यत्रापि स्नात्, विद्युन्मन्यात-
स्थले या बुद्धिरुपपन्ना, सा स्वविषये व्यक्तैवेति भावः ॥ ४९ ॥

समाप्तं बुद्धेरुपपन्नोपपत्तिप्रकरणम् ।

प्रथं बुद्धेः शरीरगुणत्वाभावप्रकरणम् । न च प्रागेव तस्मिन्नेतदर्थमासीदमेतत्,
गौरीऽहं जानामीत्याद्यनुभवेन तस्याप्यकानामाभासीकरणात् ; अतो विविञ्च्य तदु-
न्वादानाय संशयबीजमाह ।—द्रव्ये चन्दनाऽऽदी, स्वगुणस्य रूपाऽऽदेः, परगुणस्य
जैलादैश्च, ग्रहात् ; एवं शरीरे रूपाऽऽदीत्यास्य च यद्वात् बुद्ध्यादिः शरीरगुणो न
वेति संशयः ॥ ५० ॥

तत्र विज्ञानस्यैवम् ।—“न शरीरगुणश्चेतना” इति आदौ भाष्यजन्यः दूरश्च, न

शरीरगुणश्चेतनेति । संस्कारवदिति चेत्. न, कारणानुच्छेदात् ।
यथाविधे द्रव्ये संस्कारः, तथाविधे एवोपरमः, न तत्र कारणो-
च्छेदात् अत्यन्तं संस्कारानुपपत्तिर्भवति ; यथाविधे शरीरे
चेतना गृह्यते, तथाविध एवात्यन्तोपरमश्चेतनाया गृह्यते,
तस्मात् संस्कारवदित्यसमः समाधिः । अथापि शरीरस्थं
चेतनोत्पत्तिकारणं स्यात् द्रव्यान्तरस्थं बोधयस्थं वा, तत्र ;
नियमहेत्वभावात् । शरीरस्थेन कदाचिच्चेतनोत्पद्यते, कदाचिन्न,
इति नियमहेतुर्नास्तीति ; द्रव्यान्तरस्थेन शरीर एव चेतनो-
त्पद्यते, न लोष्टाऽऽदिषु, इत्यत्र न नियमहेतुरस्तीति । उभयस्य
निमित्तत्वे शरीरसमानजातीयं द्रव्ये चेतना नोत्पद्यते, शरीर
एव चोत्पद्यते इति नियमहेतुर्नास्तीति ॥ ५१ ॥

यश्च मन्येत सति श्यामादिगुणे द्रव्ये श्यामाद्युपरमो दृष्टः,
एवं चेतनोपरमः स्यादिति,—

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥ ५२ ॥

नात्यन्तं रूपोपरमः, द्रव्यस्य श्यामे रूपे निवृत्ते पाकजं
गुणान्तरं रक्तं रूपमुत्पद्यते, शरीरे तु चेतनामात्रोपरमो-
ऽत्यन्तमिति ॥ ५२ ॥

शरीरविशेषगुण इत्यर्थः । अयं तर्काऽऽकारः, बुद्ध्यादिकं शरीरविशेषगुणः स्यात्,
यावच्छरीरभावि स्यात् रूपाऽऽदिवत्, तत्परिष्कार्यं चागुमानम् ; बुद्ध्यादिकं न शरीर-
विशेषगुणः, अथावद्द्रव्यभावित्वात् शब्दवत्, व्यतिरेके रूपवदा । अथावद्द्रव्यभावित्वञ्च
आश्रयत्वाभिमतकालौननाशप्रतियोगित्वम् ॥ ५१ ॥

पिठरपाकमते व्यभिचारमाशङ्कते ।—शरीरे पाकाधीनरूपाऽऽदिना व्यभिचारा-
धीनं साधनं युक्तमित्यर्थः । परे तु सिद्धान्तसूत्रमेवेदम् । तथा हि, पाकजरूपे
न व्यभिचारः शङ्कनीयः, पाकजगुणान्तरस्य रूपान्तरस्योत्पत्तेः । तथा च ससमानाधि-
करणस्यसमानजातीय-समानकालौनत्वं पूर्वोक्तहेतौ नाशप्रतियोगित्वे विशेषधीशु-
मित्यर्थे इत्याहुः ॥ ५२ ॥

प्रतिबन्धिसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

अथापि यावत्सु द्रव्येषु पूर्वगुणप्रतिबन्धिसिद्धिः, तावत्सु पाकजोत्पत्तिर्दृश्यते, पूर्वगुणैः सह पाकजानामवस्थानस्याग्रहणात् ; न च शरीरे चेतनाप्रतिबन्धिसिद्धौ सहानवस्थायिगुणान्तरं गृह्यते, येनानुमीयेत, तेन चेतनाया विरोधः ; तस्मादप्रतिषेधा चेतना यावच्छरीरं वर्तते, न तु वर्तते, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतना इति ॥ ५३ ॥

इतश्च न शरीरगुणश्चेतना,—

शरीरव्यापित्वात् ॥ ५४ ॥

शरीरं शरीरावयवाश्च सर्वे चेतनोत्पत्त्या व्याप्ता इति न क्वचिदनुत्पत्तिश्चेतनायाः, शरीरवच्छरीरावयवाश्चेतना इति प्राप्तं चेतनबहुत्वम् ; तत्र यथा प्रतिशरीरं चेतनबहुत्वे सुखदुःखज्ञानानां व्यवस्थालिङ्गम्, एवमेकशरीरेऽपि स्यात्, न तु भवति, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति ॥ ५४ ॥

सिद्धान्तसूचम् ।—पाकजानां प्रतिबन्धिनि पूर्वशरीरप्रतिरूपके शरीरान्तरे सिद्धेः ; कदाऽऽदौ पाकजरूपसम्भवेऽपि शरीरे न तत्सम्भवः, शरीरावयवानां चर्माऽऽदीनामग्निसंयोगविशेषेण नाग्नाऽऽवस्थकत्वात् । परे तु पाकजानां प्रतिबन्धिनीऽग्निसंयोगात् सिद्धेः ; तथा च तादृशाग्निसंयोगासमानाधिकरणत्वमर्थः ; तेनाग्निसंयोगनाशेऽग्निसंयोगजन्ये च न व्यभिचार इत्याहुः । अन्ये तु शरीरगुणत्वाभावे ह्यन्तरमाह, प्रतिबन्धोति ।—पाकजानां पूर्वरूपाऽऽदिकं प्रतिबन्धि विरोधि, एकस्मिन् रूपे विद्यमाने रूपान्तराभावात् ; प्रकृते त्वेकस्मिन् ज्ञाने सत्यपि द्वितीयक्षणे ज्ञानान्तरोत्पत्तेर्ज्ञानादिकं न शरीरविशेषगुण इत्यर्थे इत्याहुः ॥ ५३ ॥

ह्यन्तरमाह ।—शरीरविशेषगुणानामिति शेषः, ज्ञानसुखाऽऽदिकानु न शरीरव्यापकम् ; हृदयाद्यवच्छेदेन तदानुभविक्त्वादिति भावः ॥ ५४ ॥

यदुक्तं न क्वचिच्छरीरावयवे चेतनाया अनुत्पत्तिरिति, सा,—

न केशनखाऽऽदिष्वनुपलब्धेः ॥ ५५ ॥

केशेषु नखाऽऽदिषु चानुत्पत्तिश्चेतनाया इति अनुपपन्नं
शरीरव्यापित्वमिति ॥ ५५ ॥

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखाऽऽदिष्वप्रसङ्गः ॥ ५६ ॥

इन्द्रियाऽऽश्रयत्वं शरीरलक्षणं, त्वक्पर्यन्तं जीवमनःसुख-
दुःखसंविधायतनभूतं शरीरम् ; तस्मान्न केशाऽऽदिषु चेतनो-
त्पद्यते । अर्थकारितस्तु शरीरोपनिबन्धः केशाऽऽदीनामिति ॥ ५६ ॥

इतश्च न शरीरगुणश्चेतना,—

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५७ ॥

द्विविधश्च शरीरगुणः, अप्रत्यक्षश्च गुरुत्वम्, इन्द्रियग्राह्यश्च
रूपाऽऽदि, विधाऽन्तरन्तु चेतना प्रत्यक्षा संवेद्यत्वात्, नेन्द्रिय-
ग्राह्या मनोविषयत्वात्, तस्मात् द्रव्यान्तरगुण इति ॥ ५७ ॥

न रूपाऽऽदीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५८ ॥

यथेतरेतरविधर्माणो रूपाऽऽदयो न शरीरगुणत्वं जहति,
एवं रूपाऽऽदिवैधर्म्याच्चेतना शरीरगुणत्वं न हास्यतीति ॥ ५८ ॥

देशयति ।—शरीररूपाऽऽदिराश्रयव्यापकत्वं, न शरीरस्य गौरवरूपस्यार्थाऽऽदेः, केश-
नखादावनुपलब्धेरित्यर्थः ॥ ५५ ॥

दूषयति ।—स्पष्टम् । अन्ये तु,—चेतना न शरीरगुणः, शरीरव्यापित्वात् शरीर-
तदवयवेषु सर्वेष्वेकेन सन्बन्धेन सत्त्वात्, शरीरगुणस्तु न स्वावयववृत्तिः, शङ्कते,
न केशेति ।—चेतन्यस्यानपलब्धेः । समाधत्ते, त्वगितौल्याहुः ॥ ५६ ॥

हेत्वन्तरमाह ।—बुद्धिर्न शरीरगुणः, शरीरगुणवैधर्म्यात्, बहिरिन्द्रियाऽऽवेद्यत्वे
सति मनसा वेद्यत्वात् ॥ ५७ ॥

आक्षिपति ।—नोक्तं युक्तं, रूपाऽऽदीनां परस्परवैधर्म्यात् ; तथा च तद्वीत्या स्पर्शा-
ऽऽदीनां शरीरगुणत्वं न स्यात्, अचाक्षुषत्वात् ; तथा चोक्तमप्रयोजकमिति भावः ॥ ५८ ॥

ऐन्द्रियकत्वादूपाऽऽदीनामप्रतिषेधः ॥ ५९ ॥

अप्रत्यक्षत्वाच्चेति । यथेतरतरविधर्माणी रूपाऽऽदयो न द्वैविध्यमतिवर्त्तन्ते, तथा चेतनाऽपि नातिवर्त्तते, यदि शरीरगुणः स्यादिति । अतिवर्त्तते तु, तस्मान्न शरीरगुण इति ॥ ५९ ॥

भूतेन्द्रियमनसां ज्ञानप्रतिषेधात् सिद्धे सत्याऽऽरम्भो विशेषज्ञापनार्थं, बहुधा परीक्ष्यमाणं तत्त्वं सुनिश्चिततरं भवतीति परीक्षिता बुद्धिः । मनस इदानीं परीक्षाक्रमः । तत् किं प्रतिशरीरमेकमनेकम् ? इति विचारः—

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ६० ॥

अस्ति खलु वै ज्ञानायौगपद्यमेकैकस्येन्द्रियस्य, यथाविषयं करणस्यैकप्रत्ययानिर्वृत्तौ सामर्थ्यान्न तदेकत्वे मनसी लिङ्गम् ; यत्तु खल्विदमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु ज्ञानायौगपद्यमिति, तस्मिङ्गम् ; कस्मात् ?—सम्भवति खलु वै बहुषु मनस्यु इन्द्रियमनःसंयोगयौगपद्यमिति ज्ञानयौगपद्यं स्यात्, न तु भवति, तस्माद्विषये प्रत्ययपर्यायादेकं मनः ॥ ६० ॥

समाधत्ते ।—रूपाऽऽदीनां न शरीरगुणत्वप्रतिषेधः । कुतः ?—ऐन्द्रियकत्वात् । तत्तदिन्द्रियाद्यल्लक्षणतत्तद्गुणवैधर्म्येऽपि शरीरगुणत्वावच्छिन्नवैधर्म्यस्य बहिरिन्द्रियाद्यल्लक्षणे सति यादृशत्वसामावात्, बुद्धौ च तत्सत्त्वादिति भावः ॥ ५९ ॥

समाप्तं बुद्धेः शरीरगुणभेदप्रकरणम् ।

अथ क्रमप्राप्ता मनःपरीक्षा, तत्र प्रतिशरीरमेकं मनश्चक्षुरादिसङ्गकारितया मनःपञ्चकं वेति संशये मनःपञ्चकमेवोचितम् ; तेन च प्रत्येकं सकलमनः सत्त्वस्वसत्त्वव्याख्यां व्यासङ्गयौगपद्ये सपपद्येते इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तसूत्रम् ।—प्रतिशरीरं मनोनानात्वे व्यासङ्गस्येऽपि यौगपद्यं स्यात्, अतो न मनोनानात्वमिति भावः ॥ ६० ॥

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ६१ ॥

अयं खल्वध्यापकोऽधीते, व्रजति, कमण्डलुं धारयति, पथ्यान् पश्यति, शृणोत्यरण्यजान् शब्दान्, बिभ्यत् व्याल-
लिङ्गानि बुभुक्षते, स्मरति च गन्तव्यं स्वानीयमिति क्रमस्या-
ग्रहणात् युगपदेताः क्रियाः, इति प्राप्तं मनसो बह्वत्वमिति ॥ ६१ ॥

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ६२ ॥

आशुसञ्चारादलातस्य सन्भ्रमतो विद्यमानः क्रमो न गृह्यते,
क्रमस्याग्रहणादविच्छेदबुद्ध्या चक्रवहुर्बिभ्वतीति, तथा बुद्धीनां
क्रियाणाञ्चाऽऽशुवृत्तित्वाद्विद्यमानः क्रमो न गृह्यते, क्रमस्या-
ग्रहणात् युगपत् क्रिया भवन्तीत्यभिमानो भवति । किं पुनः
क्रमस्याग्रहणात् युगपत् क्रियाऽभिमानः ?—अथ युगपद्भावादेव
युगपदनेकक्रियोपलब्धिरिति ? नात्र विशेषप्रतिपत्तेः कारण-
मुच्यते इति । उक्तमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु पर्यायेषु
बुद्ध्यो भवन्तीति, तच्चाप्रत्याख्येयमात्मप्रत्यक्षत्वात् । अद्यापि
दृष्टश्रुतानर्थान्श्चिन्तयतः क्रमेण बुद्ध्यो वर्तन्ते, न युगपत्,
अनेनानुमातव्यमिति । वर्णपदवाक्यबुद्धीनां तदर्थबुद्धीनाञ्चा-
ऽऽशुवृत्तित्वात् क्रमस्याग्रहणम् ; कथम् ?—वाक्यस्थेषु शब्द-
वर्णेषुच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावत् श्रवणं भवति, श्रुतं वर्णमेकमनेकं
वा पदभावेन स प्रतिसम्बन्धे, प्रतिसम्बन्धाय पदं व्यवस्यति,
पदव्यवसायेन स्मृत्या पदार्थं प्रतिपद्यते, पदसमूहप्रतिसम्बन्धानाञ्च
वाक्यं व्यवस्यति, सम्बन्धाञ्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं
प्रतिपद्यते, न चाऽऽसी क्रमेण वर्तमानानां बुद्धीनामाशुवृत्तित्वात्

दीर्घशब्दलोभचणाऽऽदौ ज्ञानयोगपद्यान्नानात्वं सादित्वाग्रहते ।—न एकं जगः,
अनेकक्रियायाम् अनेकज्ञानानाम्, उपलब्धेरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

ब्रह्मवत्ते ।—क्रमिकेऽपि वदुपलब्धिवर्गोपलब्धिः, चाशुसञ्चारात् श्रीप्रसन्नः

क्रमो गृह्यते, तदेतदनुमानमतन्त्रं बुद्धिक्रियायौगपद्याभि-
मानस्येति ; न चास्ति मुक्तसंशया युगपदुत्पत्तिर्बुद्धीनां, यया
मनसां बहुत्वमेकशरीरेऽनुमीयत इति ॥ ६२ ॥

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६३ ॥

अणु मन एकश्चेति धर्मसमुच्चयो ज्ञानायौगपद्यात्, महत्त्वे
मनसः सर्वेन्द्रियसंयोगात् युगपद्विषयग्रहणं स्यादिति ॥ ६३ ॥

मनसः खलु भोः ! सेन्द्रियस्य शरीरे वृत्तिलाभः, नान्यत्र
शरीरात् ; ज्ञातुश्च पुरुषस्य शरीराऽऽयतना बुद्ध्यादयोः, विषयोप-
भोगो जिहासितहानमीप्सितावाप्तिश्च सर्वे च शरीराऽऽश्रया
व्यवहाराः । तत्र खलु विप्रतिपत्तेः संशयः,—किमयं पुरुषकर्म-
निमित्तः शरीरसर्गः ?—आहोस्वित् भूतमात्रादकर्मनिमित्तः ?
इति । अयं खल्वत्र विप्रतिपत्तिरिति । तत्रेदं तत्त्वम्,—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ६४ ॥

पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीराऽऽरम्भलक्षणा, तत्
पूर्वकृतं कर्मात्तं, तस्य फलं तज्जनिता धर्माधर्मौ, तत्फल-
स्यानुबन्धः आत्मसमवेतस्यावस्थानं, तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्य-
स्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य, न स्वतन्त्रेभ्य इति । यदधिष्ठानो-
ऽयमात्माऽयमर्हामिति मन्यमानो यत्राभियुक्तो यत्रोपभोग-
दृष्ट्या विषयानुपलभमानो धर्माधर्मौ संस्करोति, तदस्य

राऽऽत्मकदीपात्, यथा बलातचक्रे वेगातिशयेन आव्यमाद्यं क्रियासन्तानस्य भेदेना-
नुपलब्धिरिति ॥ ६२ ॥

ननु यौगपद्यौगपदकतया मनसो वैभवं स्यादत्राऽऽह ।—मन इति शेषः
बधोक्तस्य ज्ञानायौगपदस्य, हेतुत्वान्नोऽणुत्वसाधकत्वादित्यर्थः ॥ ६३ ॥

समाप्तं मनःपरीक्षाप्रकरणम् ।

अथ प्रसङ्गात् शरीरस्य तत्तत्पुरुषादृष्टनिश्चायताप्रकरणम्, अथवा एकैव शरीरे
जनसः सर्वैरात्मभिः सह संयोगात् सर्वैरेव मनसा ज्ञानं जन्यतान् ; अतस्तदृष्टदृष्टानुत्पत्तिः ।

शरीरं, तेन संस्कारेण धर्माधर्मलक्षणेन भूतसहितेन पतितेऽस्मिन्
शरीरे उत्तरं निष्पाद्यते, निष्पन्नस्य चास्य पूर्वशरीरवत् पुरुषार्थ-
क्रिया, पुरुषस्य च पूर्वशरीरवत् प्रवृत्तिरिति कर्मापेक्षेभ्यो भूतेभ्यः
शरीरसर्गं सत्येतदुपपद्यत इति । दृष्टा च पुरुषगुणेन प्रयत्नेन
प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यः पुरुषार्थक्रियासमर्थानां द्रव्याणां रथप्रभृतौना-
मुत्पत्तिः ; तथाऽनुमातव्यं,—शरीरमपि पुरुषार्थक्रियासमर्थमुत्प-
द्यमानं पुरुषस्य गुणान्तरापेक्षेभ्यो भूतेभ्य उत्पद्यते इति ॥ ६४ ॥

अत्र नास्तिक आह,—

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत् तदुपादानम् ॥ ६५ ॥

यथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यो निर्वृत्ता मूर्त्ययः सिकता-
शर्करापाषाणगैरिकाञ्चनप्रभृतयः पुरुषार्थकारित्वादुपादीयन्ते,
तथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरमुत्पन्नं पुरुषार्थकारित्वा-
दुपादीयत इति ॥ ६५ ॥

न साध्यसमत्वात् ॥ ६६ ॥

यथा शरीरोत्पत्तिरकर्मनिमित्ता साध्या, तथा सिकता-
शर्करापाषाणगैरिकाञ्चनप्रभृतीनामप्यकर्मनिमित्तः सर्गः साध्यः,
साध्यसमत्वादसाधनमिति । भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत् तदिति
चानेन साध्यम् ॥ ६६ ॥

प्रतिपादनप्रकरणम् । तत्र शरीरं तत्तत्पुरुषसमवेतादृष्टनिमित्तकं न वा ? इति
विप्रतिपत्तौ निषेधकोटिल्लेखः,—अदृष्टाभावात्, तस्य शरीरहेतुत्वाभावात्, अदृष्टस्य
आत्मसमवायाभावात् । तत्राऽऽद्यं पक्षं निरस्यति ।—पूर्वकतस्य यागदानहिंसाऽऽदेः,
कलस्य धर्माधर्मरूपस्य, अनुबन्धात् सङ्कारिभावात्, तस्य शरीरस्य, उत्पत्तिः ॥ ६४ ॥

आदिपति ।—भूतेभ्य इति साधारणम् ; तथा आदृष्टनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः
परमाणुभ्यः, मूर्तेर्मृदादेः, उपादानमारब्धौ यथा, तथैव तस्य शरीरस्य, उपादान-
मारब्धः, परमाणुभ्योऽदृष्टनिरपेक्षेभ्य इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

समाधत्ते ।—नीतं युक्तं, दृष्टान्तस्य साध्यसमत्वात् पक्षसमत्वात्, अदादेरप्य-
दृष्टापेक्षपरमाणुभ्य एवोत्पत्तेरुपगमात्तदजन्तस्य तत्रादिहेति भावः ॥ ६६ ॥

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ६७ ॥

विषमशायमुपन्यासः । कस्मात् ?—निर्वीजा इमा मूर्तय उत्पद्यन्ते, बीजपूर्विका तु शरीरोत्पत्तिः । मातापितृशब्देन लोहितरत्नसौ बीजभूते गृह्येते; तत्र सत्त्वस्य गर्भवासानुभवनीयं कर्म पित्रोश्च पुत्रफलानुभवनीयं कर्मणौ मातुर्गर्भाऽऽशये शरीरोत्पत्तिं भूतेभ्यः प्रयोजयन्तीत्युपपन्नं बीजानुविधानमिति ॥ ६७ ॥

तथाऽऽहारस्य ॥ ६८ ॥

उत्पत्तिनिमित्तत्वादिति प्रकृतम् । भुक्तं पीतमाहारः, तस्य पक्तिनिर्वृत्तं रसद्रव्यं मातृशरीरे चापचोयते, बीजे गर्भाऽऽशयस्थे बीजसमानपाकं मात्रया चोपचयः, बीजे यावद्गूढसमर्थः सञ्चय इति । सञ्चितं चाबुदमांसपेशीकल्लकण्डराशिरःपाणिपादादिना च व्यूहेनेन्द्रियाधिष्ठानभेदेन व्यूह्यते, व्यूहे च गर्भनाद्याऽवतारितं रसद्रव्यमुपचोयते यावत्प्रसवसमर्थमातः; न चायमन्नपानस्य स्थान्यादिगतस्य कल्पात् इति; एतस्मात् कारणात् कर्मनिमित्तत्वं शरीरस्य विज्ञायत इति ॥ ६८ ॥

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६९ ॥

न सर्वो दम्पत्योः संयोगो गर्भाऽऽधानहेतुर्दृश्यते, तत्रासति कर्मणि न भवति, सति च भवतीत्यनुपपत्ती नियमाभाव इति ।

न सदादिसाध्यमित्याह सुभाष्याम् ।—शरीरे न सदादिसाध्यं, मातापित्रोः कर्मणः शरीरोत्पत्तिनिमित्तत्वात् पुत्रदर्शनाऽऽदिजन्यसुखानुभावकादृष्टस्य देवाऽऽराधनाऽऽदिजन्यस्य पुत्राऽऽदिनिमित्तत्वात् । एवं मातापित्रोराहारस्य शरीरोत्पत्तिनिमित्तत्वाददृष्टसङ्कारिणाऽऽहारस्य शुक्रशोषितादिद्वारा कण्ठ्यादिजनकत्वात् । आहारस्य पितामहपितृभोजनादिरदृष्टद्वारा पुत्रजनकत्वादित्यर्थ इत्युच्ये ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

आहारस्यादृष्टसङ्कारित्वे विपक्षे बाधकमाह ।—प्राप्तौ दम्पत्योः संयोगो

कर्मनिरपेक्षेषु भूतेषु शरीरोत्पत्तिहेतुषु अनियमः स्यात्, न ह्यत्र
कारणाभाव इति ॥ ६८ ॥

अथापि,—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं
कर्म ॥ ७० ॥

यथा खल्विदं शरीरं धातुप्राणसंवाहिनीनां नाडीनां
शृक्कान्तानां धातूनाञ्च स्नायुस्थिशिरापेशीकललकण्ठराणाञ्च
शिरोबाह्वदराणां सक्थ्याञ्च कोष्ठगानां वातपित्तकफानाञ्च मुख-
कण्ठहृदयाऽऽमाऽऽशयपक्वाऽऽशयाधःस्रोतसाञ्च परमदुःखसम्या-
दनीयेन सन्निवेशेन व्यूहनमशक्यं पृथिव्यादिभिः कर्मनिरपेक्षै-
रुत्पादयितुमिति कर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति विज्ञायते ;
एवञ्च प्रत्यात्मनियतस्य निमित्तस्याभावान्निरतिशयैः आत्मभिः
सम्बन्धात् सर्वाऽऽत्मनाञ्च समानैः पृथिव्यादिभिरुत्पादितं शरीरं
पृथिव्यादिगतस्य च नियमहेतोरभावात् सर्वाऽऽत्मनां सुखदुःख-
संविच्छाद्यतनं समानं प्राप्तम् ; यत्तु प्रत्यात्मं व्यवतिष्ठते, तत्र
शरीरोत्पत्तिनिमित्तं कर्म व्यवस्थाहेतुरिति विज्ञायते । परि-
पश्यमानो हि प्रत्यात्मनियतः कर्माऽऽशयो यस्मिन्नात्मनि वर्तते,
तस्यैवोपभोगाऽऽद्यतनं शरीरमुत्पाद्य व्यवस्थापयति । तदेवं
शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगनिमित्तं कर्मेति विज्ञायते ।

तु, गर्भधारणस्य यतो न नियमः, ततोऽदृष्टस्य सदकारित्वमावश्यकमिति
भावः ॥ ६८ ॥

नन्वदृष्टनिरपेक्षैरेव भूतेः कैश्चित् सभावविशेषाश्चरीरं जन्वतां, सभावानभ्युप-
गमे च शरीरस्य सर्वाऽऽत्मसंयुक्तत्वात् साधारण्याऽऽपत्तिः, अत आह ।—अयमर्थः,—
शरीरस्य सर्वाऽऽत्मसंयुक्तत्वेऽपि संयोगविशेषोऽवच्छेदकताञ्च यो येनाऽऽत्मना सह, तदीवं
तच्छरीरं संयोगविशेष एव ; कुतः ?—इत्यत आह, संयोगेति ।—संयोगविशेषोत्पत्तौ
कर्म अदृष्टविशेषः, निमित्तम् ; यथा शरीरोत्पत्तावदृष्टविशेषो निमित्तमिति । संयोग-

प्रत्यात्मव्यवस्थानन्तु शरीरस्याऽऽत्मना संयोगं प्रचक्ष्महे
इति ॥ ७० ॥

एतेनानियमः प्रत्युक्तः ॥ ७१ ॥

योऽयमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गं सत्वनियम इत्युच्यते, अयं
शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्मेत्यनेन
प्रत्युक्तः । कस्तावदयं नियमः ?—यथैकस्याऽऽत्मनः शरीरं, तथा
सर्वेषामिति नियमः, अन्यस्यान्यथेत्यनियमो भेदो व्यावृत्तिर्विशेष
इति । दृष्टा च जन्मव्यावृत्तिः, उच्चाभिजनो निक्लृष्टाभिजनः
इति, प्रशस्तं निन्दितमिति, व्याधिबहुलमरोगमिति, समग्रं
विकलमिति, पीडाबहुलं सुखबहुलमिति, पुरुषातिशयलक्षणो-
पपन्नं विपरीतमिति, प्रशस्तलक्षणं निन्दितलक्षणमिति, पटि-
न्द्रियं मृदिन्द्रियमिति । सूक्ष्मश्च भेदोऽपरिमयः । सोऽयं जन्मभेदः
प्रत्यात्मनियतात् कर्मभेदादुपपद्यते, असति कर्मभेदे प्रत्यात्म-
नियते निरतिशयित्वादात्मनां समानत्वाच्च पृथिव्यादौनां पृथिव्या-
दिगतस्य नियमहेतोरभावात् सर्वे सर्वाऽऽत्मनां प्रसज्यत, न त्विद-
मित्यभूतं जन्म, तस्मात् कर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति ॥ ७१ ॥

विशेषस्तदात्मज्ञानजनननिवासको जातिविशेष एव । संयोगः शरीरावयवसंस्थान-
विशेष इति कथित् ॥ ७० ॥

अथ शरीरं नादृष्टजन्यं, प्रकृतेरारम्भस्वभावत्वादेव तदुपपत्तेः ; प्रतिबन्धकपूर्व-
शरीरापगमस्वदृष्टाधीनः ; जलस्य निजानुसरणस्वभावस्येव बन्धापगमाधीनत्वम् इति
द्वितीयपक्षं साङ्गसम्मतं निरस्यति ।—एतेन अदृष्टहेतुकत्वव्यवस्थापनेन, अनियमस्तु
आत्मनः कदाचिन्मानुषशरीरसम्बन्धः, कदाचिदन्यादृशः ; किञ्चिच्च शरीरं सकला-
वयवं, किञ्चिच्च विकलावयवमित्यादि । अदृष्टहेतुत्वानुपपत्तौ त्वयमनियमः, न
त्वयमन्ये ; किञ्चादृष्टनिरपेक्षप्रकृतिमानाऽऽरब्धत्वे सर्वाऽऽत्मसाधारण्य शरीरस्य स्यात्
इति भावः । अन्ये तु अदृष्टमन्यनियतं स्यादित्येवाऽऽह, एतेनेति ।—तन्नाप्यदृष्टान्तर-
मित्यन्यादित्येवेति भाव इत्याहुः ॥ ७१ ॥

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥ ७२ ॥

कर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तेन शरीरेणाऽऽत्मनो वियोगः
उपपन्नः । कस्मात् ?—कर्मक्षयोपपत्तेः ; उपपद्यते खलु कर्म-
क्षयः, सम्यग्दर्शनात् ; प्रक्षीणे मोहे वीतरागः पुनर्भवहेतुकर्म
कायवाङ्मनोभिर्न करोति, इत्युत्तरस्थानुपचयः, पूर्वोपचितस्य
विपाकप्रतिसंवेदनात् प्रक्षयः । एवं प्रसवहेतोरभावात् पतिते-
ऽस्मिन् शरीरे पुनः शरीरान्तरानुपपत्तेरप्रतिसम्भिः । अकर्म-
निमित्ते तु शरीरसर्गे भूतक्षयानुपपत्तेस्तद्वियोगानुपपत्ति-
रिति ॥ ७२ ॥

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ७३ ॥

अदर्शनं खलु अदृष्टमित्युच्यते, अदृष्टकारिता भूतेभ्यः
शरीरोत्पत्तिः, न जातनुत्पन्ने शरीरे द्रष्टा निरायतनो दृश्यं
पश्यति ; तच्चास्य दृश्यं द्विविधं,—विषयश्च नानात्वश्च ; अव्यक्ता-
ऽऽत्मनोस्तदर्थः शरीरसर्गः, तस्मिन्नावसिते चरितार्थानि भूतानि
न शरीरमुत्पादयन्तीत्युपपन्नः शरीरवियोग इति ; एवं
चेन्नान्यसे, पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे, पुनः शरीरोत्पत्तिः प्रसज्यत
इति । या चानुत्पन्ने शरीरे दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनाभिमतता, या
चापवर्गे शरीरनिवृत्तौ दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनभूता, नैतयोरदर्श-
नयोः कश्चिद्विशेष इत्यदर्शनस्यानिवृत्तेरपवर्गे पुनः शरीरो-
त्पत्तिप्रसङ्ग इति ॥ ७३ ॥

आर्हतास्तु मनःपरमाणुगुणमदृष्टं मन्त्रते ; तथा हि, पार्थिवाः परमाणवः
संहिताः स्नादृष्टवशाच्छरीरमारभन्ते, मनश्च स्नादृष्टप्रयुक्तं शरीरमाविशति, तच्चादृष्टं
स्वभावादेव पुद्गलस्य सुखदुःखे साधयतीति ; तस्मिन्परमाह ।—तत्तदात्माऽदृष्टोपपन्नं
विनैव तत्तदात्मापभोगाय परमाणवश्चेच्छरीरमारभन्ते, मुक्तेऽपि तदात्मनि तस्माद्य
शरीरमारभेरन् । अपवर्गं इत्युपलक्षणं, संसारिणामपि नर-कारि तुरगाऽऽदिशरीरोपपत्ते
विनिमनकं न आदिति भावः ॥ ७३ ॥

चरितार्थाविशेष इति चेत्,—

न करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ॥ ७४ ॥

चरितार्थानि भूतानि दर्शनावसानान्न शरीरान्तरमारभन्ते इत्ययं विशेषः ; एवं चेदुच्यते, करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् चरितार्थानां भूतानां विषयोपलब्धिकरणात् पुनः पुनः शरीराऽऽरम्भो दृश्यते, प्रकृतिपुरुषयोर्नानात्वदर्शनस्याकरणा-
न्निरर्थकः शरीराऽऽरम्भः पुनः पुनर्दृश्यते ; तस्मादकर्मनिमित्तायां भूतसृष्टौ न दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिर्युक्ता ; युक्ता तु कर्मनिमित्ते सग्रे दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिः । कर्मविपाकसंवेदनं दर्शनमिति तददृष्टकारितमिति चेत्, कस्यचिद्दर्शनम्,—“अदृष्टं नाम परमाणूनां गुणविशेषः क्रियाहेतुः, तेन प्रेरिताः परमाणवः सम्भूर्चिताः शरीरमुत्पादयन्तीति, तन्मनः समावेशति, स्वगुणेनादृष्टेन प्रेरिते समनस्के शरीरे द्रष्टृरूपलब्धिर्भवतीति” एतस्मिन् वै दर्शने गुणानुच्छेदात् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे, अपवर्गे शरीरोत्पत्तिः परमाणुगुणस्यादृष्टस्यानुच्छेद्यत्वादिति ॥ ७४ ॥

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ७५ ॥

मनोगुणेनादृष्टेन समावेशिते मनसि संयोगव्युच्छेदो न स्यात्, तत्र किञ्चित् शरीरादपसर्पणं मनस इति ?—कर्माऽऽश्रय-
चये तु कर्माऽऽश्रयान्तराद्विपश्यमानादपसर्पणोपपत्तिरिति । अदृष्टादेवापसर्पणमिति चेत्,—योऽदृष्टः शरीरोपसर्पणहेतुः, स एवापसर्पणहेतुरपीति न ; एकस्य जीवनप्रायणहेतुत्वानुपपत्तेः ;

अदृष्टस्य मनोगुणमपि दूषयति ।—संयोगस्य शरीराऽऽरम्भकस्य ज्ञानाऽऽदि-
मनसस्य च, व्युच्छेदो न स्यात् । कुतः ?—मनसो यत् कार्यं अदृष्टं, तन्निमित्तत्वात्,

एवञ्च सति एकमदृष्टं जीवनप्रायणयोर्हेतुरिति प्राप्तम् ; नैत-
दुपपद्यते ॥ ७५ ॥

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ७६ ॥

विपाकसंवेदनात् कर्माऽऽशयक्षये शरीरपातः प्रायणम् ;
कर्माऽऽशयान्तराच्च पुनर्जन्म । भूतमात्रात् कर्मनिरपेक्षात्
शरीरोत्पत्तौ कस्य क्षयात् शरीरपातः प्रायणम् ? इति प्राय-
णानुपपत्तेः खलु वै नित्यत्वप्रसङ्गं विद्मः, यादृच्छिके तु प्रायणे
प्रायणभेदानुपपत्तिरिति ॥ ७६ ॥

“पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे” इत्येतत् समाधिसुराह,—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात् ॥ ७७ ॥

यथाऽणोः श्यामता नित्या अग्निसंयोगेन प्रतिविद्धा न
पुनरुत्पद्यते, एवमदृष्टकारितं शरीरमपवर्गे पुनर्नोत्पद्यत
इति ॥ ७७ ॥

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ ७८ ॥

नायमस्ति दृष्टान्तः । कस्मात् ?—अकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ।
अकृतं प्रमाणतोऽनुपपन्नं, तस्याभ्यागमोऽभ्युपपत्तिर्व्यवसायः,
एतच्छ्रद्धानेन प्रमाणतोऽनुपपन्नं मन्तव्यम् ; तस्मान्नायं दृष्टान्तः,

तस्य नित्यत्वात् तादृशसंयोगधारा नोच्छेद्येत, तस्यानित्यत्वेऽपि व्यधिकरणभोगस्य
तन्नाशकत्वेऽतिप्रसङ्ग इति भावः ॥ ७५ ॥

संयोगानुच्छेदे का क्षतिः ? अत आह ।—तथा सति प्रायणस्य मरणस्य,
अनुपपत्तेः शरीराऽऽदेर्नित्यत्वस्याविनाशित्वस्य च प्रसङ्गः ॥ ७६ ॥

आक्षिपति ।—यथा परमाणोः श्यामता नित्याऽपि निवर्तते, तथा शरीराऽऽदिक-
नपि निवर्तते, तथैव परमाणुनिष्ठं नित्यमप्यदृष्टं निवर्तते, तदभावाच्च नापवर्गे
शरीरमिति ॥ ७७ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।—अकृतस्य प्रमाणाविषयस्य, अभ्यागमः स्वीकारः, तत्प्रसङ्गान्

न प्रत्यक्षं, न चानुमानं किञ्चिदुच्यत इति । तदिदं दृष्टान्तस्य
 साध्यसमत्वमभिधीयत इति । अथवा नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्
 अणुश्यामतादृष्टान्तेनाकर्मनिमित्तां शरीरोत्पत्तिं समादधान-
 स्याकृताभ्यागमप्रसङ्गः, अकृते सुखदुःखहेतौ कर्मणि पुरुषस्य
 सुखं दुःखमभ्यागच्छतीति प्रसज्येत ; अस्मिन्नुच्यते प्रत्यक्षानु-
 मानाऽऽगमविरोधः । प्रत्यक्षविरोधस्तावत्,—भिक्षमिदं सुख-
 दुःखं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् प्रत्यक्षं सर्वशरीरिणाम् । को भेदः ?—
 तीव्रं मन्दच्चिरमाशु नानाप्रकारमेकप्रकारमिति एवमादि-
 विशेषः ; न चास्ति प्रत्यात्मनियतः सुखदुःखहेतुविशेषः, न
 चास्ति हेतुविशेषे फलविशेषो दृश्यते, कर्मनिमित्ते तु सुखदुःख-
 योगे कर्मणां तीव्रमन्दतोपपत्तेः कर्मसञ्चयानाञ्चोत्कर्षापकर्ष-
 भावान्नानाविधैकविधभावाच्च कर्मणां सुखदुःखभेदोपपत्तिः ।
 सोऽयं हेतुभेदाभावात् दृष्टः सुखदुःखभेदो न स्यादिति प्रत्यक्ष-
 विरोधः । तथाऽनुमानविरोधः,—दृष्टं हि पुरुषगुणव्यवस्थानात्
 सुखदुःखव्यवस्थानम् ; यः खलु चेतनावान् साधननिर्वर्त्त-
 नीयं सुखं बुद्ध्वा तदोप्सन् तदामिसाधनावाप्तये प्रयतते, स
 सुखेन युज्यते, न विपरीतः ; यश्च साधननिर्वर्त्तनीयं दुःखं बुद्ध्वा
 तज्जिह्वासुः साधनपरिवर्जनाय यतते, स दुःखेन परित्यज्यते,
 न विपरीतः ; अस्ति चेदं यत्नमन्तरेण चेतनानां सुखदुःख-
 व्यवस्थानं, तेनापि चेतनगुणान्तरव्यवस्थानकृतेन भवितव्य-
 मित्यनुमानम् । तदेतदकर्मनिमित्ते सुखदुःखयोगे विरुध्यत
 इति, तच्च गुणान्तरमसंवेद्यत्वाददृष्टं, विपाककालानियमाच्चा-

इत्यर्थः ; न हि परमाणुनिष्ठादृष्टस्य कारणस्य सत्त्वे शरीरोच्छेदः स्यात्, एवमणुश्या-
 मन्नानिलत्वस्यापि प्रमाणागोचरस्य स्वीकारः स्यात्, तथा च दृष्टान्तासिद्धिः, न वाऽनादे-
 र्भावस्य नाशः सम्भवति, कल्पभावत्वेन तद्भेदत्वात् ; यद्वा,—नित्यादृष्टाच्छरीरसत्त्वो-

व्यवस्थितम् ; बुद्ध्यादयस्तु संवेद्याश्चापवर्गिणश्चेति । अथाऽऽगम-
विरोधः,—बहु खल्विदमार्थमृषीणामुपदेशजातमनुष्ठानपरि-
वर्जनाऽऽश्रयमुपदेशफलञ्च, शरीरिणां वर्णाऽऽश्रमविभागनानु-
ष्ठानलक्षणा प्रवृत्तिः, परिवर्जनलक्षणा निवृत्तिः, तच्चोभयमेतस्यां
दृष्टौ नास्ति कर्म सुचरितं दुश्चरितं वा, कर्मनिमित्तः पुरुषाणां
सुखदुःखयोग इति विरुध्यते, सेयं पापिष्ठानां मिथ्या-
दृष्टिरकर्मनिमित्ता शरीरदृष्टिः अकर्मनिमित्तः सुखदुःखयोग
इति ॥ ७८ ॥

इति वात्स्यायनौये न्यायभाष्ये तृतीयाध्यायस्य

द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्चायं तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अगमे अकृतात् स्वयमजनितात् कर्मणः, अभ्यागमः फलसम्बन्धः स्यात्, तथा च
स्वाकृतत्वाविशेषात् किं शरीरं कस्य भविष्यतीत्यत्र नियामकाभाव इति भावः ॥ ७८ ॥

समाप्तं शरीरस्यादृष्टलिप्ताद्यताप्रकरणम् ।

समाप्तञ्च तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

इति श्रीविश्वनाथभट्टाचार्यकृतायां न्यायसुब्रह्मण्ये तृतीयाध्यायवृत्तिः ।

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

मनसोऽनन्तरं प्रवृत्तिः परीक्षितव्या ; तत्र खलु यावद्धर्मा-
धर्माऽऽश्रयशरीराऽऽदि परीक्षितं, सर्वा सा प्रवृत्तेः परीक्षा
इत्याह,—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥

तथा परीक्षितेति ॥ १ ॥

मूरकोटिविजयिप्रभाभरं योगिमानसचरं परं सहः ।

ग्रामलं किमपि धाम कानदं कामकोटि-कमनीयमाश्रये ॥

तृतीये तावदात्माऽऽदिप्रमेयषट्कं कारणरूपं परीक्षितम्, अथ कार्यरूपं प्रवृत्त्यादि-
प्रमेयषट्कमवसरतो हेतुहेतुमद्भावेन च परीक्षणीयम् ; यद्यपि प्रथमाऽऽह्निके षट्कं
परीक्षणीयं, द्वितीयाऽऽह्निके तु तत्त्वज्ञानं, तथाऽपि तस्यापवर्गहेतुत्वादुपोद्घातेन च
परीक्षणीयत्वादपवर्गपरीक्षाऽन्तःपातितया षट्कपरीक्षाव्याप्याः, तत्र चोद्दिष्टधर्मवत्तया
षट्कपरीक्षा प्रथमाऽऽह्निकाथः । तत्र प्रथमाऽऽह्निके चतुर्दश प्रकरणानि । तत्र चोक्तवत्तया
प्रवृत्तिदोषयोः परीक्षा प्रथमप्रकरणार्थः । न चार्थभेदात् प्रकरणभेदः । यथा-
तथेति परस्परसाक्षात्काङ्क्षाभ्यामवयवाभ्यामुक्तवत्तत्त्वलक्षणैकार्थवत्त्वकथनात् प्रवृत्ति-
परीक्षायामाकाङ्क्षितायां सूत्रम् ।—अत्र तथैवेति शिषं पूरयन्ति, तदयुक्तम् ; तथा
सत्यतैव यथाशब्दस्वाऽऽकाङ्क्षाशान्तावयिमसूत्रस्य तथाशब्देऽपि यथाशब्दान्तरस्य
पूरणीयतया प्रकरणभेदाऽऽपत्तेः ; तच्चादयिमसूत्रस्य तथाशब्देनान्वयो युक्तः ; प्रवृत्तिर्यथा
उक्तलक्षणवती, तथा दोषा अप्युक्तलक्षणवन्तः, इत्ययिमसूत्रसंबलितोऽर्थः । “प्रवृत्तिर्वाङ्-
बुद्धिशरीराऽऽश्रयः” इत्युक्तलक्षणसत्त्वात् सिद्धं लक्षणमिति भावः । प्रवृत्तिस्तु द्वयी,—
कारणरूपा, कार्यरूपा च ; द्वे अप्यात्मसमवेते ; तत्राऽऽद्या,—जन्मदेनाविशिष्टा
विशिष्टा च यत्रत्वजातिमतो मानसप्रत्यक्षसिद्धा ; द्वितीया तु,—धर्माधर्मरूपा यागादि-
रगम्यागमनादेश चिरध्वस्तस्य व्यापारतया कर्मनाशाजलस्यर्शाऽऽदेः प्रायश्चित्तादेश
नाश्वस्तया सिध्यतीति ॥ १ ॥

प्रवृत्त्यनन्तरास्तर्हि दोषाः परीक्ष्यन्तामित्यत आह,—

तथा दोषाः ॥ २ ॥

परीक्षिता इति । बुद्धिममानाऽऽश्रयत्वादात्मगुणाः प्रवृत्ति-
हेतुत्वात् पुनर्भवप्रतिसन्धानसामर्थ्याच्च संसारहेतवः, संसार-
स्यानादित्वादिनादिना प्रबन्धेन प्रवर्तन्ते, “मिथ्याज्ञाननिवृत्ति-
स्तत्त्वज्ञानात्, तन्निवृत्तौ रागद्वेषप्रबन्धोच्छेदेऽपवर्गः” इति प्रादु-
र्भावनिरोधधर्मका इत्येवमाद्युक्तं दोषाणामिति ॥ २ ॥

“प्रवर्तनालक्षणा दोषाः” इत्युक्तम्; तथा चेमे मानेर्था-
ऽसूयाविचिकित्सा मत्सरादयः, ते कस्मान्नोपसङ्ग्रायन्ते ?—इत्यत
आह,—

तत्रैराश्र्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥

तेषां दोषाणां त्रयो राशयस्त्रयः पक्षाः । रागपक्षः,—कामो
मत्सरः सृष्ट्या दृष्ट्या लोभ इति । द्वेषपक्षः,—क्रोधः ईर्ष्याऽसूया

दोषपरोक्षायां प्राप्तायामाह ।—तथा दोषा अपि प्रवर्तनालक्षणा इत्युक्तं
लक्षणावन्त एवेति नासिद्धिरिति भावः ॥ २ ॥

समाप्तं प्रवृत्तिदोषसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् ।

अथ त्रैराश्र्येन विशेषेण दोषपरोक्षणाय तत् त्रैराश्यप्रकरणम्; तत्र सिद्धान्त-
सूत्रम् ।—तेषां दोषाणां, त्रयो राशयः त्रयः पक्षाः, न तु रागद्वेषमोहानामेकैकत्वं,
तेषामर्थान्तरभावात् अवान्तरभेदवत्त्वात्; तथा च, भयशोकमानाऽऽदीनामेवेषान्त-
र्भावान्न विभागन्यूनत्वम्, इच्छालक्षणात्मिथ्याज्ञानरूपविरुद्धधर्मवत्त्वात् विभागा-
ऽऽधिक्यम्, इच्छालाऽऽदिकन्तु रागादावनुभवसिद्धम् । तत्र रागपक्षः,—कामो मत्सरः
सृष्ट्या दृष्ट्या लोभो माया दम्भ इति । कामः,—रिरंसा, रतिश्च विजातीयः संयोगः
नारीगताभिलाष इति तु न युक्तं, स्त्रियाः कामेऽप्याप्तेः । मत्सरः,—स्वप्रयोजनप्रतिसन्धानं
विना पराभिमतनिवारणेच्छा, यथा राजकौयादुदपानान्नीदकं पेयम् इत्यादि; एवं
परगुणनिवारणेच्छाऽपि । सृष्ट्या—धर्माविरोधेन प्राप्तीच्छा । दृष्ट्या—इदं मे न चौर्यता-
मितीच्छा, उचितव्ययाकरणेनापि धनरक्षणेच्छा रूपं कार्पण्यमपि दृष्ट्याभेद एव ।
धर्मविरोधेन परद्रव्येच्छा लोभः । परवस्तुनेच्छा माया । कपटेन धार्मिकत्वादिन

द्रोहोऽमर्ष इति । मोहपक्षः,—मिथ्याज्ञानं विचिकित्सा मानः प्रमाद इति त्रैराश्यान्नीपसङ्ख्यायन्ते इति । लक्षणस्य तर्ह्यभेदात् त्वित्ममनुपपन्नम् । नानुपपन्नं, रागद्वेषभोहायान्तरभावात् । आसक्तिलक्षणो रागः, अमर्षलक्षणो द्वेषः, मिथ्याप्रतिपत्ति-लक्षणो मोह इति । एतत् प्रत्यात्मवेदनीयं सर्वशरीरिणाम् ; विजानात्ययं शरीरो रागमुत्पन्नम्, अस्ति मेऽध्यात्मं रागधर्म इति ; विरागश्च विजानाति, नास्ति मेऽध्यात्मं रागधर्म इति । एवमितरयोरपीति । मानेर्थाऽस्युयाप्रभृतयस्तु त्रैराश्यमनु-पतिता इति नोपसङ्ख्यायन्ते ॥ ३ ॥

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥

नार्यान्तरं रागादयः । कस्मात् ?—एकप्रत्यनीकभावात् । तत्त्वज्ञानं सम्यक्प्रतिरार्यप्रज्ञा सम्बोध इत्येकमिदं प्रत्यनीकं ज्ञयाणामिति ॥ ४ ॥

लोकधर्मव्यपनेच्छा दम्भः । द्वेषपक्षः,—क्रोधः ईर्ष्याऽसूया द्रोहोऽमर्षोऽभिमान इति । क्रोधः,—नेवक्रौडित्याऽऽदिहेतुर्हवविशेषः । ईर्ष्या—साधारणे वस्तुनि परस्वत्वात्तद्गुणो-त्तरि द्वेषः, यथा दुरन्तदायादानाम् । असूया—परगुणाऽऽदौ द्वेषः । द्रोहः,—नाज्ञात-द्वेषः । हिंसा तु द्रोहमन्या, परे तु तं द्रोहं मन्यन्ते । अमर्षः,—कृतापराधे असमर्थ-द्वेषः । अभिमानः,—अपकारिष्यकिञ्चित्करत्वाऽऽत्मनि द्वेषः । मोहपक्षः,—विषयव-संश्रयतर्कमानमनादभयशोकाः । विषय्ययः,—मिथ्याज्ञानापरधर्म्याधोऽयथार्थनिश्चयः । एकधर्मिकविद्वद्भवाभावज्ञानं संशयः, स एव विचिकित्सेत्युच्यते । व्याप्याऽऽरी-याद्यापकप्रसङ्गनं तर्कः । आत्मन्यविद्यमानगुणाऽऽरीपेक्षोत्पन्धीर्मानः ; गुणवति निर्गुणत्वधीरुपजयोऽपि मानेऽन्तर्भवति । प्रमादः,—पूर्वकसंन्यतया निश्चितेऽप्यकसंन्य-ताधीः, एवं वैप्ररीचेऽपि । भयम्—अनिष्टहेतूपनिपाते तत्परित्यागानर्हताज्ञानम् । शोकः,—दृष्टिविभीने तत्तामानर्हताज्ञानम् ॥ ३ ॥

शङ्कते ।—रागाऽऽदौर्भा भेदो न, एकप्रत्यनीकभावात् एकस्मिन् प्रत्यनीकभावे विरोधिनि वक्तुं तदा, तेनेकनाश्वलादित्यर्थः ; एकं हि तत्त्वज्ञानमेवां विरोधि ॥४॥

व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥

एकप्रत्यनीकाः पृथिव्यां श्यामाऽऽदयोऽग्निसंयोगेनैकेन, एक-
योनयश्च पाकजा इति ॥ ५ ॥

सति चार्थान्तरभावे,—

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥

मोहः पापः पापतरो वा हावभिप्रेत्योक्तम् ; कस्मात् ?—
नामूढस्येतरोत्पत्तेः । अमूढस्य रागद्वेषौ नोत्पद्येते, मूढस्य तु
यथासङ्कल्पमुत्पत्तिः, विषयेषु रञ्जनीयाः सङ्कल्पाः रागहेतवः,
कोपनीयाः सङ्कल्पा द्वेषहेतवः, उभये च सङ्कल्पा न मिथ्या-
प्रतिपत्तिलक्षणत्वान्मोहादन्ये ; ताविमौ मोहयोर्नौ रागद्वेषा-
वितिः । तत्त्वज्ञानाच्च मोहनिवृत्तौ रागद्वेषानुत्पत्तिरित्येकप्रत्य-
नीकभावोपपत्तिः । एवञ्च कृत्वा तत्त्वज्ञानात् दुःखजन्यप्रवृत्ति-
दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति
व्याख्यातमिति ॥ ६ ॥

समाधत्ते ।—एकविरिषित्वं भेदविषये न हेतुः, व्यभिचारात् एकापिसंयोग-
नाश्वत्वेऽपि रूपाऽऽदीनां भेदात् ॥ ५ ॥

किञ्च, नैतधामिकनिवृत्तत्वं, तत्त्वज्ञानस्य मोहनिवर्त्तकत्वात्, तन्निष्ठस्या रागाऽऽदि-
निवृत्तेरित्याशयेनाऽऽह ।—यद्यपि बहूनां निर्द्धारणे इष्टन्-तन्पौर्विधानात् पापिष्ठः
पापतम इति वा युक्तं, तथाऽपि द्वौ हावधिकृत्य निर्द्धारणं, द्वयोर्निर्द्धारणे द्वैयशुनी
विधानात् ; तेन रागमोहयोर्द्वेषमोहयोर्वा मोहः पापीयाननर्थमूलं, बलवद्भेद इति
वावत् । हेतुमाह, नामूढस्येति ।—मोहशून्यस्य रागद्वेषयोर्भावादित्यर्थः । न च तत्त्व-
ज्ञानिनोऽपि द्विवाहितगोचरप्रवृत्तिनिवृत्तौ रागद्वेषाधीने इति तत्र व्यभिचार इति
वाच्यं, धर्माधर्मप्रयोजकरागद्वेषयोर्दोषत्वेन विवक्षितत्वात् । एतदभिप्रायकमेवा-
सक्तोऽदिपक्षे मुक्त इत्यादिकनपौति भावः ॥ ६ ॥

प्राप्तस्तर्हि निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तर-
भावो दोषेभ्यः ॥ ७ ॥

अन्यहि निमित्तम्, अन्यच्च नैमित्तिकमिति दोषनिमित्त-
त्वान्न दोषो मोह इति ॥ ७ ॥

न दोषलक्षणावरोधात् (सत्त्वात्)
मोहस्य ॥ ८ ॥

“प्रवर्तनालक्षणा दोषाः” इत्यनेन दोषलक्षणेनावरुध्यते
दोषेषु मोह इति ॥ ८ ॥

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीया-
नामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥

द्रव्याणां गुणानां वाऽनेकविधविकल्पो निमित्तनैमित्तिक-
भावे तुल्यजातीयानां दृष्ट इति ॥ ९ ॥

अहते ।—दोषनिमित्तत्वान्मोहस्य दोषभिन्नत्वं स्यात्, अभेदेन कार्यकारणभावा-
भावात् । दोषेभ्य इत्यान्तर्गणिकभेदादङ्गवचनम् । प्राप्तस्तर्हीत्यंशस्तु न सूत्रं, किन्तु
भाष्यगतः पूरणमित्यपि वदन्ति ॥ ७ ॥

निराकरोति ।—मोहस्य दोषलक्षणसत्त्वादोषत्वम् ; व्युत्पत्तिभेदाच्च हेतुहेतुसम्भावी
न विरुध्यत इति भावः ॥ ८ ॥

अप्रयोजकत्वमुक्त्वाऽनेकान्तिकत्वमप्याह ।—एकजातीययोरपि द्रव्ययोर्गुणयोश्च
निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेः हेतुहेतुसम्भावस्वीकारात्, तुल्यजातीयत्वप्रतिषेधो न युक्त
इति ॥ ९ ॥

समाप्तं दोषपरीक्षाप्रकरणम् ।

दोषानन्तरं प्रेत्यभावः, तस्यासिद्धिः, आत्मनो नित्यत्वात् ; न खलु नित्यं किञ्चिज्जायते, म्रियते वा, इति जन्ममरणयो-
र्नित्यत्वादात्मनोऽनुपपत्तिः, उभयञ्च प्रेत्यभाव इति । तत्रार्थ-
सिद्धानुवादः,—

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥

नित्योऽयमात्मा प्रैति, पूर्वशरीरं जहाति, म्रियते इति,
प्रेत्य च पूर्वशरीरं हित्वा भवति, जायते, शरीरान्तरमुपादत्ते
इति ; तच्चैतदुभयं “पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः” इत्यत्रोक्तम् ;
पूर्वशरीरं हित्वा शरीरान्तरोपादानं प्रेत्यभाव इति, तच्चैतन्नित्यत्वे
सम्भवतीति । यस्य तु सत्त्वोत्पादः सत्त्वनिरोधः प्रेत्यभावः, तस्य
कृतहानमकृताभ्यागमश्च दोषः, उच्छेदहेतुवादे ऋष्यपदेशा-
स्त्वानर्थका इति ॥ १० ॥

कथमुत्पत्तिरिति चेत्,—

व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥

केन प्रकारेण किं धर्मकात् कारणाद्व्यक्तं शरीराद्युत्पद्यते ?
इति । व्यक्तात् भूतसमाख्यातात् पृथिव्यादितः परमसूक्ष्मादि-

क्रमप्राप्ततया प्रेत्यभावे परीक्षणीये प्रेत्यभावः शरीरस्य बुद्धेरात्मनो वा ? इति संशये
“पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः” इति लक्षणसूत्रादिनष्टस्योत्पादः प्रतीयते, न चासौ नित्यस्या-
ऽऽत्मनः सम्भवतीति शरीरादेः स्यात् । न च नृत्तस्य शरीरादेरुत्पत्तिविरोधाच्चेदं युक्तमिति
वाच्यम् ; प्रेत्यभाव इत्यस्य “मुखं व्यादाय स्वपिति” इतिवत् व्यत्ययेन भूत्वा प्रायश्च-
नित्यत्वादत्र सिद्धान्ततुल्यम् ।—आत्मनः पूर्वोक्तयुक्त्या नित्यत्वे प्रेत्यभावस्य स सिध्यति,
एकजातीयशरीराऽऽद्यसम्बन्ध-चरनसम्बन्धनाशयोरुत्पादप्रायश्चरीरात्मनः सम्भवात् ।
सम्बन्धस्ववच्छेदावच्छेदकभावलक्षणः, स च स्वरूपसम्बन्धविशेषीतिरिक्तो वेत्यन्यदेतत् ।
लक्षणसूत्रे “पुनरुत्पत्तिः” इत्यत्र पुनःपदञ्च प्रेत्यभावप्रवाहस्यानादित्वज्ञापनाय,
तज्ज्ञानञ्च वैराग्य उपयुज्यत इति ॥ १० ॥

अनु प्रेत्यभाव उत्पत्तिनिरूप्यः, सा च न सजातीयोऽविजातीयोऽपि सम्भवति,

व्याहृतं शरीरेन्द्रियविषयोपकरणाऽऽधारं प्रज्ञातं द्रव्यमुत्पद्यते ।
व्यक्तञ्च खल्विन्द्रियग्राह्यं, तत्सामान्यात् कारणमपि व्यक्तम् ।
किं सामान्यम् ?—रूपाऽऽदिगुणयोगः । रूपाऽऽदिगुणयुक्तेभ्यः
पृथिव्यादिभ्यो नित्येभ्यो रूपाऽऽदिगुणयुक्तं शरीराद्युत्पद्यते,
प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ; दृष्टो हि रूपाऽऽदिगुणयुक्तेभ्यो मृत्प्रभृतिभ्य-
स्तथाभूतस्य द्रव्यस्योत्पादः, तेन चादृष्टस्यानुमानमिति, रूपा-
ऽऽदीनामन्वयदर्शनात् प्रकृतिविकारयोः पृथिव्यादीनामतौ-
न्द्रियाणां कारणभावोऽनुमीयते इति ॥ ११ ॥

न घटाद्वटानिष्पत्तेः ॥ १२ ॥

इदमपि प्रत्यक्षम् ;—न खलु व्यक्ताद्वटाद्वटो घट उत्पद्य-
मानो दृश्यत इति व्यक्ताद्वक्तस्यानुत्पत्तिदर्शनाच्च व्यक्तं कारण-
मिति ॥ १२ ॥

व्यक्ताद्वटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

न ब्रूमः सर्वं सर्वस्य कारणमिति, किन्तु यदुत्पद्यते व्यक्तं
द्रव्यं, तत् तथाभूतादेवोत्पद्यत इति । व्यक्तञ्च तन्मृद्व्यं

चाद्यपृथिव्यादौ व्यभिचारात्, तन्नित्यत्वे मानाभावात्, अतः प्रत्यभावोऽसिद्धः, इत्युपो-
हतात् प्रसङ्गाद्युत्पत्तिप्रकारं दर्शयति ।—व्यक्तानाम्, उत्पत्तिरिति शेषः । व्यक्ताद्वक्त-
जातीयात् पृथिव्यादितः, व्यक्तानां व्यक्तजातीयानां नन्वपृथिव्यादीनाम्, उत्पत्तिः ।
इत्थञ्च पृथिव्यादिः पृथिव्यादितो रूपवदादितश्च रूपवदादीनामुत्पत्तेः प्रत्यक्षसिद्धत्वात्पर-
नावुरपि कल्प्यते, तद्विषयोरपत्तमहस्तेन सावयवावयवत्वसिद्धेः (च) तदवयवावयवस्य
आवयवत्वमिति भावः ॥ ११ ॥

अबहुता शङ्कते ।—विशेषकार्यकारणभावाभावे सामान्यतोऽपि न तथेति
भावः ॥ १२ ॥

विशेषतो व्यभिचारो न विरोधो, सामान्यतस्तु नास्म्येवेत्याशयवान् समाधत्ते ।—

(च) अथ बहुव्रीहिः ।

कपालसंज्ञकं, यतो घट उत्पद्यते ; न चैतन्निष्कवानः क्वचि-
लभ्यनुज्ञां लब्धुमर्हतीति, तदेतत् तत्त्वम् ॥ १३ ॥

अतः परं प्रावादुकानां दृष्टयः प्रदर्शन्ते,—

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ १४ ॥

अमतः सदुत्पद्यते इत्ययं पक्षः । कस्मात् ?—उपमृद्य
बीजमङ्गर उत्पद्यते, नानुपमृद्य, न चेद्बीजोपमर्दः, अङ्गुरोत्पत्तिर्न
स्यादिति ॥ १४ ॥

अत्राभिधीयते,—

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥

उपमृद्य प्रादुर्भावादित्ययुक्तः प्रयोगः, व्याघातात् ; यदुप-
मृद्वाति, न तदुपमृद्य प्रादुर्भावितुमर्हति, विद्यमानत्वात् ; यच्च
प्रादुर्भावात्, न तेनाप्रादुर्भूतेनाविद्यमानेनोपमर्द इति ॥ १५ ॥

जातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥ १६ ॥

अतीति चानागते चाविद्यमाने कारकशब्दाः प्रयुज्यन्ते ;
पुच्छो जनिष्यते, जनिष्यमाणं पुच्छमभिनन्दति, पुच्छस्य जनिष्य-
माणस्य नाम करोति, अभूत् कुम्भः, भिन्नं कुम्भमनुशोचति,

सजातीयान् सजातीयोत्पत्तेन प्रतिषेधः, पृथिवीजातीयान् कपासादितो घटाऽऽदि-
निषेधः, उक्ताऽऽपादनं चाप्रयोजकमिति भावः ॥ १६ ॥

समाप्तं प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरणम् ।

अथावाष्टौ प्रकरणानि प्रसङ्गादङ्गानामित्येतन्निष्ठसङ्ग्रहमुपोद्घातात् ; तत्राऽऽदौ
सूत्रतोपादानप्रकरणम् ; तत्र पूर्वपक्षसम्बन्धम् ।—अभावादुपादानात्, कार्याणां भावाना-
मुत्पत्तिः, यतोऽङ्गुरादेर्बीजाऽऽदिकमनुपमृद्य न प्रादुर्भावाभावः, यथा न बीजाऽऽदि-
विनाशोऽङ्गुराद्युपादानमिति ॥ १७ ॥

अतीतरम् ।—उपमृद्य प्रादुर्भवतीति न युक्तः प्रयोगः, व्याघातात्, उपमर्दकस्य
पूर्वमसत्त्वे उपमर्दकत्वाद्योक्त्या, पूर्वं सत्त्वे च परतः प्रादुर्भावाद्योक्त्या ॥ १८ ॥

पूर्वपक्षो दूषयति ।—नायुक्तः प्रयोगः, अतीतेऽनागते च कारकशब्दप्रयोगात्

भिन्नस्य कुम्भस्य कपालानि, अजाताः पुत्ताः पितरं तापय-
न्तीति बहुलं भाक्ताः प्रयोगाः दृश्यन्ते । का पुनरियं भक्तिः ?—
आनन्तर्यं भक्तिः । आनन्तर्यसामर्थ्यादुपसृद्य प्रादुर्भावार्थः,
प्रादुर्भविष्यन्नङ्कुर उपसृद्वातीति भाक्तं कर्तृत्वमिति ॥ १६ ॥

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥

न विनष्टाङ्गीजादङ्कुर उत्पद्यत इति, तस्मान्नाभावात्
भावोत्पत्तिरिति ॥ १७ ॥

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

उपमदप्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमः क्रमः, स खल्वभावा-
द्भावोत्पत्तेर्हेतुर्निर्दिश्यते, स च न प्रतिषिध्यत इति । व्याहत-
व्यूहानामवयवानां पूर्वव्यूहजिह्वत्तौ व्यूहान्तराद्व्यनिष्पत्तिः,
नाभावात् । बीजावयवाः कुतश्चिन्निमित्तात् प्रादुर्भूतक्रियाः पूर्व-
व्यूह जहति, व्यूहान्तरञ्चाऽऽपद्यन्ते, व्यूहान्तरादङ्कुर उत्पद्यते ।
दृश्यन्ते खल्ववयवास्तत्प्रयोगाच्चाङ्कुरोत्पत्तिहेतवः । न चानिवृत्ते
पूर्वव्यूहे बीजावयवानां शक्यं व्यूहान्तरेण भवितुम्, इत्युपमद-

कर्तृ-कर्ताऽऽदिबोधकशब्दप्रयोगात् ; यथा न निश्च्यते पुत्रः, न निश्च्यमाणं पुत्रमभिनन्दति,
अभुत् कुम्भः, भिन्नं कुम्भमनुशोचति ॥ १६ ॥

नव्यान्नामौपचारिकः प्रयोगः, तथाऽपि किं बीजाऽऽदेर्विनष्टस्योपादानत्वं मन्वसे,
बीजाऽऽदिविनाशश्च वा ? अन्येऽपि तस्योपादानत्वं, निमित्तत्वं वा ? तवाऽऽदौ
उत्तरम् ।—विनष्टानां बीजाऽऽदीनामुपादानत्वाद्योगात्, अत एव न द्वितीयः, तत्र
विनष्टं विनाशः, ततो नोत्पत्तिः, द्रव्यत्वस्य भावकार्यधर्मवाधिकारवशादवच्छेद-
कत्वात् ॥ १७ ॥

दृतीये त्वेह ।—सभावस्य कारणत्वं प्रतिषिध्यते, प्रतिबन्धकाभावस्य हेतु-
त्वोपपन्नात्, इत्याह, क्रमेति ।—बीजे विनष्टेऽङ्कुरो जायत इति प्रत्ययात् बीजस्य प्रति-
बन्धकस्याभावः कारणम् ; बीजे विनष्टे हि तदवयवैर्जलाभिहितभूष्यवयवसहितैरङ्कुर

प्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमः क्रमः ; तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्ति-
रिति । न चान्यद्वैजावयववैभ्योऽङ्गुरोत्पत्तिकारणम्, इत्युपपद्यते
वैजोपादाननियम इति ॥ १८ ॥

अथापर आह,—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥

पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलमाप्नोति,
तेनानुमोयते, पराधीनं पुरुषकर्मफलाऽऽराधनमिति । यदधीनं,
स ईश्वरः, तस्मादीश्वरः कारणमिति ॥ १९ ॥

न पुरुषकर्मभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥

ईश्वराधीना चेत् फलनिष्पत्तिः स्यात्, अपि तर्हि पुरुषस्य
समीहामन्तरेण फलं निष्पद्येतेति ॥ २० ॥

आरभ्यते, अभावमात्रस्य कारणत्वे चूर्णीकृतादपि वीजादङ्गुरोत्पत्तिः स्यात्, अभावस्य
निर्विशेषत्वादिति भावः ॥ १८ ॥

समाप्तं गृह्यतीपादाननिराकरणप्रकरणम् ।

प्रतान्तरमाह ।—अनेन ब्रह्मपरिणामवादी ब्रह्मविवर्त्तवादी वा दर्शित इति वदन्ति ;
तथा हि, ब्रह्मैव नामरूपप्रपञ्चभेदेन विपरिणमते सृत्तिकेवोदघनाऽऽदभावेन ;
अत एव प्राकतरूपस्य सत्त्वस्यापरित्यागः प्रपञ्चेषु उदघनादाविव सृत्तिकालस्यैव
परिणामवादः । ब्रह्मैव चानाद्यनिर्वचनीयाविद्यावशान्नानारूपेण विवर्त्तते सुखमिव
तत्तज्जलाद्यालम्बनभेदादिति विवर्त्तवादः । ननु पुरुषकर्मैव कारणमस्तु, किमीश्वरस्य
कारणत्वेन ? इत्यत आह, पुरुषेति ।—पुरुषकर्मणो हि वैफल्यमपि दृश्यते, सहकार्य-
न्तरमवश्यं वाच्यम् ; तथा च, ईश्वर एव यथा यथेच्छति, तथा जगद्विपरिवर्त्तत
इत्येवास्तु, किं पुरुषकर्मणा ? इति भावः । अस्तुतस्तु केवलीश्वरकारणतापरं प्रकरणं,
वदुपादानतापरत्वे तु न किमपि गानमाकलयाम इति ॥ १९ ॥

समाधत्ते ।—केवलं न ब्रह्मणः, परन्तु ईश्वरस्यैव हितुत्वे तदिच्छाया अण्यतिरिक्ताया-
श्चक्षिष्यतायाश्चानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे देताऽऽपत्तिः ; अतः सर्वं सर्वदा स्यात्, न स्याच्च
कार्यवैचित्त्यमिति पुरुषकर्मणोऽपि सहकारिताऽऽवश्यकौ, ब्रह्मण उपपादानत्वेन न
संभवति, असमवायिकारणसम्भवतः तस्य कारणतामात्रं लिख्यत एवेति भावः ॥२०॥

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ २१ ॥

पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति फलाय, पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयतीति । यदा न सम्पादयति, तदा पुरुषकर्माफलं भवतीति, तस्मादौश्वरकारितत्वादहेतुः पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेरिति । * गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः, तस्याऽऽत्मकत्वात् कल्यान्तरानुपपत्तिः * । अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिः सम्पादा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः, तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम् ; सङ्कल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्त्तयति, एवञ्च स्वकृताभ्यागमस्यालोपेन निर्माणप्राकाश्यमीश्वरस्य स्वकृतकमफलं वेदितव्यम् ; आत्मकल्पश्चायं, यथा पिताऽपत्यानां, तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम् ; न चाऽऽत्मकत्वादन्त्यः कल्पः सम्भवति, न तावदस्य बुद्धिं विना कश्चिद्धर्मो लिङ्गभूतः शक्यः उपपादयितुम् ; आगमाच्च, द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञातिश्वर इति बुद्ध्यादिभिश्चाऽऽत्मलिङ्गैः (त)

नन्वेवं पुरुषव्यापारस्य फले व्यभिचारी न स्यादिति चेदत्राऽऽह ।—फलाभावस्य पुरुषकर्माभावकारितत्वात् पुरुषस्य कर्म षट्पदं, तदभावाधीनत्वात्, पुरुषकारः अहेतुः फलानुपपाद्यकः । नन्वीश्वर एव कः ? इत्यत्र भाष्य, —गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः गुणैर्निव्यज्ञानेच्छाप्रयत्नैः सामान्यगुणैश्च संयोगाऽऽदिभिर्विशिष्टमात्मान्तरं जीवेभ्यो भिन्न आत्मा जगदाराध्यः सृष्ट्यादिकर्त्ता वेदद्वारा हिताहितोपदेशकी जगतः प्रीतिरिति । परं तु, —प्रसङ्गादौश्वरप्रतिपादनायेवा विस्तृती ; तथा हि, ईश्वरः कारणम् अर्थाज्यजातस्य, अगुमानन्तु चित्यादिकं सकर्त्तृकं काश्चित्वाहटवदित्यूहम् । ननु जीवानामिव कर्त्तृत्वं स्यादत्राऽऽह, पुरुषेति ।—पुरुषकर्माणां वैफल्यं दृश्यते, तथा च, निफले कर्त्तृषि प्रवर्त्तमानत्वादज्ञत्वं जीवानां, यतः उपपादानगोचरापरीक्षज्ञानादिमतो हि कर्त्तृत्वं, न च चित्याद्युपादानगोचरज्ञानं जीवानामिति

(ब) विनैति बोध्यम् ; ततोऽपि विनायोरे ।

निस्वरूपाऽऽख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमविषयातीतं कः शक्त
उपपादयितुम् ? स्वकृताभ्यागमनोपेन च प्रवर्तमानस्यःस्य
यदुक्तं प्रतिषेधजातम्, अकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तत् सर्वं
प्रसज्यत इति ॥ २१ ॥

अपरमिदानौमाह,—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैच्छाया-
ऽऽदिदर्शनात् ॥ २२ ॥

अनिमित्ता शरीराद्युत्पत्तिः ; कस्मात् ?—कण्टकतैच्छाया-
ऽऽदिदर्शनात् ; कण्टकस्य तैच्छाया, पर्वतधातूनां चित्रता, ग्रावः
अच्छाया, निर्निमित्तस्योपादानं दृष्टं, तथा शरीरसर्गोऽपीति ॥ २२ ॥

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥ २३ ॥

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिरित्युच्यते, यतश्चोत्पद्यते, तन्निमित्तम्,
अनिमित्तस्य निमित्तत्वान्नानिमित्ता भावोत्पत्तिरिति ॥ २३ ॥

भावः । नन्वदृष्टद्वारा जीवानां कर्तृत्वमस्तित्याशङ्कते, न प्रकषेति ।—फलस्य कार्यास्य,
कर्माभावेऽनिषत्तेः ; तत्तत्पदघोषभोगसाधनत्वात् तत्कर्मजन्तुत्वमिति स्फोरणाय प्रकषेति ।
समाधत्ते, तदिति ।—कर्मणीऽपि तत्कारितत्वादीश्वरकारित्वात्, अचेतनस्य चेतनाऽधि-
ष्ठितस्यैव जनकत्वादिति भावः ॥ २१ ॥

समाप्तमौश्वरीपादानताप्रकरणम् ।

यदि च कार्याणामाकस्मिकत्वं, तदा न परमात्मादीनामुपादानत्वं, न वैश्वरस्य
निमित्तत्वम्, अत आकस्मिकत्वनिराकरणप्रकरणमारभते ; तत्र पूर्वपक्षपूर्वम् ।—
अनिमित्तत इति प्रथमाऽन्तात् तसिद्धिः, अनिमित्ता भावोत्पत्तिरित्यर्थः, भावेति स्पष्टाशङ्कः ;
घटाद्युत्पत्तिर्न कारणनियम्या, उत्पत्तिमत्त्वात्, कण्टकतैच्छायाद्युत्पत्तिवत् ; यद्वा,—
घटाऽऽदिकं न सकारणकं, भावत्वात्, कण्टकतैच्छायादिवत् । तैच्छाया संस्थानविशेषः ।
आदिपदान्मयूरचित्राऽऽदिपरिग्रहः, तदकारणकमेवेत्याशयः ॥ २२ ॥

एकदेशी भान्तो दूषयति ।—अनिमित्तत इति हेतुपक्षमौनिर्देशाननिमित्तस्यैव
निमित्तत्वात् कथमनिमित्तत इति ॥ २३ ॥

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥२४॥

अन्यद्दि निमित्तम्, अन्यच्च निमित्तप्रत्याख्यानम् ; न च प्रत्याख्यानमेव प्रत्याख्येयम् ; यथाऽनुदकः कमण्डलुरिति नोदक-प्रतिषेध उदकं भवतीति ; स खल्वर्थं वादोऽकर्मनिमित्तः शरीरादिसर्ग इत्येतस्मान्न भिद्यते, अभेदात् तत्प्रतिषेधेनैव प्रतिषिद्धो वेदितव्य इति ॥ २४ ॥

अन्येऽनुमन्यन्ते,—

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ २५ ॥

किमनित्यं नाम ?—यस्य कदाचिद्भावास्तदनित्यम्, उत्पत्ति-धर्मकमनुत्पन्नं नास्ति, विनाशधर्मकमविनष्टं नास्ति । किं पुनः सर्वम् ?—भौतिकञ्च शरीरादि, अभौतिकञ्च बुद्ध्यादि, तदुभय-

दूषयति ।—अनिमित्तस्य निमित्तस्य च अर्थान्तरभावात् भेदात्, उक्तः प्रतिषेधो न युक्तः, अनिमित्तस्य निमित्तासम्भवात्, शरीरस्याकर्मनिमित्तत्वदूषणेनैव च तदुचितप्रायमन्याशयेन नात्र दूषितमिति । नव्यास्तु सूत्रेणैवं व्याचक्षते,—समाधत्ते, अनिमित्तेति ।—अनिमित्तस्य अनिमित्तत्वसाधकस्य, निमित्तत्वादनिमित्तत्वानुमिति-जनकत्वात्, अनिमित्तत इति व्याहृतम्, अनिमित्तत्वानुमिति-जनका-नभ्युपगमेऽनिमित्तत्वं न सिद्ध्येदिति, कण्टकतैच्छादिकमपि नानिमित्तकम्, अट्ट-विशेषसङ्गतैरशुभिस्तदुत्पादनादिति हृदयम् । दोषान्तरमाह, निमित्तेति ।—इदमत्र निमित्तमिदमनिमित्तमिति प्रतीत्या तयोर्भेदसिद्धेर्निमित्तप्रतिषेधो न युक्तः, इतरथा च सार्वभौतिकौ प्रतीतिर्न विपक्षेतेति भावः ॥ २४ ॥

समाप्तमाकस्मिकत्वप्रकरणम् ।

उपसंख्यानित्वत्वे नाऽऽत्मादेरपि नित्यत्वं स्यात्, अतः सर्वानित्यत्वनिराकरण-प्रकरणम् ; सच प्रतीयत्वम् अनित्यत्वव्याप्यं न वा ? इति संशये पूर्वपक्षसूचम् ।—अनित्यं विनाश, उत्पत्तिमती विनाशधर्मकत्वात्, उत्पत्तिमत्त्वशाऽऽत्मादेरपि भेद्यत्वात् सिद्धमिति भावः, तेन परमते तत्र नासिद्धिः ; अथा,—उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात्

उत्पत्तिविनाशधर्मकं विज्ञायते, तस्मात् तत्सर्वम् अनित्य-
मिति ॥ २५ ॥

नानित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥

यदि तावत् सर्वस्यानित्यता नित्या, तन्नित्यत्वान्न सर्व-
मनित्यम् ; अथानित्या, तस्यामविद्यमानायां सर्वं नित्य-
मिति ॥ २६ ॥

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥ २७ ॥

तस्या अनित्यताया अप्यनित्यत्वम् ; कथम् ?—यथाऽग्निर्दाह्यं
विनाश्यानुविनश्यति, एवं सर्वस्यानित्यता सर्वं विनाश्यानु-
विनश्यतीति ॥ २७ ॥

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥ २८ ॥

अयं खलु वादो नित्यं प्रत्याचष्टे, नित्यस्य च प्रत्याख्यान-
मनुपपन्नम् ; कस्मात् ?—यथोपलब्धिव्यवस्थानात् । यस्योत्पत्ति-
विनाशधर्मकत्वमुपलभ्यते प्रमाणतः, तदनित्यम् ; यस्य नोप-
लभ्यते, तद्विपरीतम् । न च परमसूक्ष्माणां भूतानामाकाश-
कालदिगात्ममनसां तद्गुणानाञ्च केषाञ्चित् सामान्यविशेषसम-

उत्पत्तिविनाशधर्मकाणां मानसिद्धत्वात् तद्विन्नमप्रमाणकमिति हृदयम् ; परे तु,—
अनित्यत्वं कादाचित्कत्वम्, उत्पत्तिधर्मकत्वादिनाशधर्मकत्वादिति हेतुद्वये तात्पर्य-
मित्याहुः ॥ २५ ॥

दूषयति ।—उत्पत्तिमत्त्वं न विनाशित्वासाधकम्, अनित्यताया ध्वंसस्य, नित्य-
त्वाद्विनाशित्वात् तत्र व्यभिचारात् ॥ २६ ॥

आक्षिपति ।—तस्या अनित्यतायाः, अप्यनित्यत्वम् ; यथाऽग्निर्दाह्यस्येभनादेः
विनाशानन्तरं स्वयमपि नश्यति, न तु दाह्योन्मज्जनं, तथा घटादेरपि नाशी नश्यति,
न घटाद्युन्मज्जनं, ध्वंसध्वंसस्यापि प्रतियोगिध्वंसत्वात् ; ध्वंसप्रागभावानाधारत्वालस्य
प्रतियोग्यधिकरणत्वमिति व्याप्तेरप्रयोजकत्वाधीन्यज्जनमित्यन्ते ॥ २७ ॥

समाधत्ते ।—नित्यस्य नित्यत्वविशिष्टस्य, नित्यत्वस्य, न प्रत्याख्यानमिति फलितम् ;

वायानाद्योत्पत्तिविनाशधर्मकत्वं प्रमाणत उपलभ्यते ; तस्मान्नित्यान्येतानीति ॥ २८ ॥

अयमन्य एकान्तः,—

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥

भूतमात्रमिदं सर्वं, तानि च नित्यानि, भूतोच्छेदानुपपत्तेरिति ॥ २९ ॥

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥

उत्पत्तिकारणञ्चोपलभ्यते, विनाशकारणञ्च, तत् सर्वनित्यत्वे व्याहन्यत इति ॥ ३० ॥

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥ ३१ ॥

यस्योत्पत्तिविनाशकारणमुपलभ्यत इति मन्यसे, न तद्भूतलक्षणञ्चैनमर्थान्तरं गृह्यते ; भूतलक्षणावरोधाद्भूतमात्रमिदमित्युक्तोऽयं प्रतिषेधः इति ॥ ३१ ॥

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥

कारणसमानगुणस्योत्पत्तिः कारणञ्चोपलभ्यते, न चैतदुभयं

बोधोपलब्धिः उपलब्ध्यनतिक्रमेण ; तथा च, धर्मिणादिकमानेन साधेवसङ्कतेनाऽऽकाशादेर्नित्यत्वव्यवस्थापनादिति ॥ २८ ॥

समाप्तं सर्वानित्यत्वनिराकरणप्रकरणम् ।

सर्वनित्यत्वे न प्रत्यभावाऽऽदिसिद्धिः, अतस्तन्निराकरणप्रकरणम् ; तवाऽऽक्षेपशून्यम् ।—सर्वं नित्यं भूतत्वान्वेयत्वात् ; तत्र दृष्टान्तप्रदर्शनाय पञ्चभूतनित्यत्वादित्युक्तम् ; तेन परमात्माकाशदृष्टान्ता लभ्यते ॥ २९ ॥

समाधत्ते ।—सर्वनित्यत्वं न युक्तं, घटाऽऽदीनाम् उत्पत्तिविनाशकारणानां कपाञ्च संजीगमुद्गरपाताऽऽदीनाम् उपलब्धेः, तथा चोत्पादविनाशावशङ्काविति ॥ ३० ॥

पुनः साह्य आह ।—उक्तप्रतिषेधो न, नित्यस्य परमात्मादेर्लक्ष्यं भूतत्वाऽऽदि, घटाऽऽदौ तदवरोधान् तत्त्वत्वात् ; तथा चोत्पादादिप्रत्ययो भ्रान्त इति भावः ॥ ३१ ॥

दूषयति ।—धर्मित्वनिषेधो न युक्तः, उत्पत्तेस्तत्कारणात् तत्प्रमापकान्, उपलब्धेः,

नित्यविषयं, न चोत्पत्तितत्कारणोपलब्धिः शक्या प्रत्या-
ख्यातुं, न चाविषया काचिदुपलब्धिरिति उपलब्धिसामर्थ्यात्
कारणेन समानगुणं कार्यमुत्पद्यत इत्यनुमीयते, सा खलूपलब्धे-
र्विषय इति । एवञ्च तल्लक्षणावरोधोपपत्तिरिति उत्पत्तिविनाश-
कारणप्रयुक्तस्य ज्ञातुः प्रयत्नो दृष्ट इति । प्रसिद्धावयवौ तद्धर्मा,
उत्पत्तिविनाशधर्मा चावयवौ सिद्ध इति । * शब्दकर्मबुद्ध्या-
दीनां चाव्याप्तिः, * “पञ्चभूतनित्यत्वात्” “तल्लक्षणावरोधात्”
चेत्यनेन शब्दकर्मबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च न व्याप्ताः,
तस्मादनेकान्तः, * स्वप्नविषयाभिमानवन्निष्ठोपलब्धिरिति चेत्,
भूतोपलब्धौ तुल्यम् । * यथा स्वप्ने विषयाभिमानः, एवमुत्पत्ति-
विनाशकारणाभिमान इति, एवञ्चैतद्भूतोपलब्धौ तुल्यम् ;
द्युष्टियव्याद्युपलब्धिरपि स्वप्नविषयाभिमानवत् प्रसज्यते
* पृथिव्याद्यभावे सर्वव्यवहारविलोप इति चेत्, तदितरत्र
समानम्, * उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धिष्वविषयस्याप्यभावे सर्व-
व्यवहारविलोप इति ; सोऽयं नित्यानामतौन्द्रियत्वादविषयत्वा-
च्चोत्पत्तिविनाशयोः स्वप्नविषयाभिमानवदनित्यहेतुरिति ॥३२॥

अवस्थितस्योपादानस्य धर्ममात्रं निवर्तते, धर्ममात्रमुपजा-
यते ; स खलूत्पत्तिविनाशयोर्विषयः ; यच्चोपजायते, तत् प्राग-
प्युपजननादस्ति ; यच्च निवर्तते, तन्निवृत्तमप्यस्तीति ; एवञ्च
सर्वस्य नित्यत्वमिति,—

न व्यवस्थाऽनुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

अयमुपजनः इयं निवृत्तिरिति व्यवस्था नोपपद्यते, उप-
पत्त्यादविनाशप्रतीतेः प्रामाणिकत्वात् न सन्निषेधः, इतरथा कादाचित्कलप्रती-
त्यनुपपत्तेः, न चाऽऽविर्भावात् तदुपपत्तिः, तस्यैवानित्यत्वे सर्वमित्यलव्याघातात् ।
विवेचयिष्यते चेदं स्पष्टतरमुपरिष्ठात् ॥ ३२ ॥

उत्पादविनाशप्रत्यवस्थं यान्तत्वं सादित्याग्रह्याऽऽह ।—सावर्लोचिक-

जातनिवृत्तयोर्विद्यमानत्वात् । अयं धर्म उपजातः, अयं निवृत्त इति सद्भावाविशेषादव्यवस्था ; इदानीमुपजननिवृत्तौ, नेदानो-
र्मात कालव्यवस्था नोपपद्यते, सर्वदा विद्यमानत्वात् ; अस्य धर्म-
स्योपजननिवृत्तौ, नास्येति व्यवस्थाऽनुपपत्तिः, उभयोरविशेषात् ।
अनागतोऽतीत इति कालव्यवस्थाऽनुपपत्तिः, वर्त्तमानस्य सद्भाव-
लक्षणत्वात् ; अविद्यमानस्याऽऽत्मलाभ उपजनः, विद्यमानस्या-
ऽऽत्मज्ञानं निवृत्तिः इत्येतस्मिन् सति नैते दोषाः ; तस्मात्
यदुक्तं,—प्रागप्युपजननादस्ति, निवृत्तञ्चास्ति, तदयुक्तमिति ॥ ३३ ॥

अयमन्य एकान्तः,—

सर्वं पृथक् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥

सर्वं नाना, न कश्चिदेको भावो विद्यते ; कस्मात् ?—भाव-
लक्षणपृथक्त्वात् भावस्य लक्षणमभिधानं, येन लक्ष्यते भावः,
स समाख्याशब्दः, तस्य पृथग्विषयकत्वात् ; सर्वा भावः
समाख्याशब्दः समूहवाचौ ; कुम्भ इति संज्ञाशब्दो गन्धरस-
रूपस्पर्शसमूहे बुध्पार्श्वग्रीवाऽऽदिसमूहे च वर्त्तते । निदर्शन-
मात्रञ्चेदमिति ॥ ३४ ॥

प्रमालेन सिद्धस्यापि भ्रमत्वशङ्कायां प्रमाभमव्यवहारविलोपः स्यादि-
त्यर्थः ॥ ३३ ॥

समाप्तं सर्वानित्यलनिराकरणप्रकरणम् ।

अथ प्रसङ्गात् सर्वपृथक्प्रकरणम् ; तत्र पूर्वपक्षसूत्रम् ।—सर्वं वस्तु पृथक् नाना,
लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं समाख्या, तस्याः पृथक्त्वं पृथगर्थकत्वम् ; तथा च प्रयोगः,
घटाऽऽदिः समूहरूपः वाच्यत्वात् सेनावनाऽऽदिवत् ; अतीन्द्रिये गगनाऽऽदीमानाभावात्,
आत्मनः शरीरानतिरिक्तात्, गुणकर्मणोराश्याभेदात्, विशेषसमवाययोर्मानाभावात्,
अभावस्य तुच्छत्वान्न व्यभिचारः ; यद्वा,—घटाऽऽदिकं स्वस्वादिपि पृथक्, भाव-
लक्षणानां गन्धरसाऽऽदीनां तत्तदवयवादीनाञ्च, पृथक्त्वात्, घटाऽऽदिश्च तदभेदादिति
भावः ॥ ३४ ॥

नानेकलक्षणैरेकभावनियतेः ॥ ३५ ॥

अनेकविधलक्षणैरिति मध्यमपदलोपी समासः । गन्धा-
ऽऽदिभिश्च गुणैर्बुध्नाऽऽदिभिश्चावयवैः सम्बद्ध एको भावो नियम्यते,
गुणव्यतिरिक्तञ्च द्रव्यम्, अवयवातिरिक्तश्चावयवोति विभक्तन्याय-
चैतदुभयमिति ॥ ३५ ॥

अथापि,—

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

न कश्चिदेको भाव इत्ययुक्तः प्रतिषेधः । कस्मात् ?—लक्षण-
व्यवस्थानादेव ; यद्विह लक्षणं भावस्य संज्ञाशब्दभूतं, तदेक-
स्मिन् व्यवस्थितम् ; यं कुम्भमद्राक्षं, तं स्पृशामि ; यमेवास्याक्षं, तं
पश्यामौति, नाणुसमूहे गृह्यते इति । * अणुसमूहे चागृह्य-
माणे यद्गृह्यते, तदेकमेवेति । अथाप्येतदन्तः नान्द्येको
भावः, यस्मात् समुदायः, एकानुपपत्तेर्नास्त्येव समूहः *
नान्द्येको भावः, यस्मात् समूहे भावशब्दप्रयोगः, एकस्य चानुप-
पत्तेः समूहो नोपपद्यते, एकसमुच्चयो हि समूह इति व्याहत-
त्वादनुपपन्नम् ; नान्द्येको भाव इति यस्य प्रतिषेधः प्रतिज्ञायते,
समूहे भावशब्दप्रयोगादिति हेतुं ह्रुवता स एवाभ्यनुज्ञायते,

समासते ।—अनेकलक्षणैरेकस्वरूपे रूपरसाऽऽदिभिस्तदवयवैश्च विशिष्टस्यै-
क्येव भावस्य नियतेरुक्त्यनेरित्यर्थः ; तथा चैकस्य धर्मिणः प्रत्यक्षाऽऽदिप्रमाणसिद्धत्वात्
तस्य च आचक्षुषत्वरासगन्तादिविरुद्धधर्माध्यस्तपरसादात्मकत्वाभावादवयवानाञ्च
कारणत्वात् कार्यकारणयोरभेदासम्भवाच्च न तत्तदात्मकत्वं घटाऽऽदेः सम्भवतीति
भावः ॥ ३६ ॥

हेतुमाह ।—लक्षणस्य अर्थाभावात् घटपटाऽऽदीनां व्यवस्थानाद्यवस्थितत्वादेव,
अप्रतिषेधः पृथक्त्ववधारणं नेत्यर्थः ; कपाखसमवेतद्रव्यत्वाऽऽदिकं हि घटाऽऽदे-
र्लक्षणं, कपाखे घट इत्यादिप्रतीतिसिद्धम् ; न चेदं समूहाऽऽत्मकत्वे सम्भवति । एवं

एकमसूच्यो हि समूह इति । समूहे भावशब्दप्रयोगादिति चेत्, समूहमाश्रित्य प्रत्येकं समूहिप्रतिषेधो नास्त्येको भाव इति ; सोऽयमभयतो व्याघातात् यत्किञ्चनवाद इति ॥ ३६ ॥

अयमपर एकान्तः,—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ ३७ ॥

यावद्भावजातं, तत्सर्वमभावः ; कस्मात् ?—भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः । असन् गौरश्वाऽऽत्मनाऽनश्चो गौः, असन्नश्चो गवात्मनाऽगौरश्च इति । * असत्प्रत्ययस्य प्रतिषेधस्य च भावशब्देन सामानाधिकरण्यात् सर्वमभाव इति प्रतिज्ञावाक्ये पदयोः प्रतिज्ञाहेत्वोश्च व्याघातादयुक्तम्, * अनेकस्याशेषता सर्वशब्दस्यार्थः, भावप्रतिषेधश्चाभावशब्दस्यार्थः, पूर्वं सोपाख्यमुत्तरं निरूपाख्यम् ; तत्र समुपाख्यायमानं कथं निरूपाख्यमभावः स्यादिति ? न जात्वभावो निरूपाख्योऽनेकतयाऽशेषतया शक्यः प्रतिज्ञातुमिति । सर्वमेतदभाव इति चेत् यदिदं सर्वमिति मन्यसे, तदभाव इति एवं चेत्, अनिहत्तो व्याघातः ; अनेकमशेषश्चेति नाभावप्रत्ययेन शक्यं भवितुम् ; अस्ति चायं प्रत्ययः सर्वमिति, तस्मान्नाभाव इति । प्रतिज्ञाहेत्वोश्च व्याघातः सर्वमभाव इति ; भावप्रतिषेधः प्रतिज्ञा, भावेष्वितरेतराभावसिद्धेरिति हेतुः, भावेष्वितरेतराभावमनुज्ञायाऽऽश्रित्य चेतरेतराभावसिद्ध्या सर्वमभाव इत्युच्यते, यदि सर्वमभावो भावेष्वित-

लक्षणस्य घटऽऽदित्वरूपस्य, यमद्वयद्राक्षं, तं स्पृशामीति प्रत्यक्षेण व्यवस्थितत्वात् । परमाणोः प्रत्यक्षत्वात् तत्सम्भवः, किञ्च, समूहलक्षणव्यवस्थितेरेव नीतं युक्तम् ; समूहो हि नानाव्यक्तिसमुदायः, स च नैकव्यक्तेरनभ्युपगमो सिध्यतीति भावः ॥ ३६ ॥

समाप्तं सर्वपृथक्कनिराकरणप्रकरणम् ।

सर्वयुक्तत्वेन कार्यकारणभावसम्भवः, इति तन्निराकरणप्रकरणसारभूते ; तत्र ज्ञानविषयत्वसमावृत्यार्थं न वा ? इति संशये पूर्वपक्षसूचम् ।—सर्वं विवादपदम्,

रेतराभावसिद्धेरिति नोपपद्यते, अथ भावेष्वितरेतराभावसिद्धिः,
सर्वमभाव इति नोपपद्यते, सूत्रेण चाभिसम्बन्धः ॥ ३७ ॥

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ ३८ ॥

न सर्वमभावः ; कस्मात् ?—स्वेन भावेन सद्भावात् भावा-
नाम् ; स्वेन धर्मेण भावा भवन्तीति प्रतिज्ञायते ; कश्च स्रो धर्मो
भावानाम् ?—द्रव्यगुणकर्मणां सदादिसामान्यं, द्रव्याणां क्रिया-
वदित्येवमादिर्विशेषः, स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्या इति च प्रत्येक-
ज्ञानन्तो भेदः, सामान्यविशेषसम्वायानाञ्च विशिष्टा धर्मा
गृह्यन्ते ; सोऽयमभावस्य निरुपाख्यत्वात् सम्प्रत्यायकोऽर्थभेदो न
स्यात्, अस्ति त्वयं, तस्मान्न सर्वमभाव इति । अथवा न स्वभाव-
सिद्धेर्भावानामिति स्वरूपसिद्धेरिति ; गौरिति प्रयुज्यमाने शब्दे
जातिविशिष्टं द्रव्यं गृह्यते, नाभावमात्रम् ; यदि च सर्वमभावः,
गौरित्यभावः प्रतीयेत, गोशब्देन चाभाव उच्येत, यस्मात्तु
गोशब्दप्रयोगे द्रव्यविशेषः प्रतीयते, नाभावः, तस्मादयुक्त-
मिति । अथवा न स्वभावसिद्धेरिति—असन् गौरश्चाऽऽत्मनेति
गवात्मना कस्मान्नोच्यते ?—अवचनात् गवात्मना गौरस्त्येति
स्वभावसिद्धिः ; अनश्चोऽश्व इति वा अगौर्गौरिति वा कस्मान्नो-
च्यते ?—अवचनात् स्वेन रूपेण विद्यमानता द्रव्यस्येति
विज्ञायते, अव्यतिरेकप्रतिषेधे च भावानामसंयोगाऽऽदिसम्बन्धो
व्यतिरेकः, अत्राव्यतिरेकोऽभेदाऽऽख्यसम्बन्धः, तद्व्यतिषेधे
सदा असत्प्रत्ययसामानाधिकरण्यम् ; यथा न सन्ति
कुण्डे वदराणीति, असन् गौरश्चाऽऽत्मना अनश्चे गौरिति च
गवाश्वयोरव्यतिरेकः प्रतिषिध्यते, गवाश्वयोरैकत्वं नास्तीति,
अभावस्तुच्छम् ; तत्र प्रत्यक्षं मानमाह, भावेष्विति ।—भावत्वाभिमतेषु घटाऽऽदिषु
अभावत्वसिद्धेः, घटः पटो नेत्यादिप्रतीत्या सर्वेषामभावत्वसिद्धेः ॥ ३७ ॥

सिद्धान्तसूत्रम् ।—भावानां पृथिव्यादीनां, स्वभावस्य मत्वादेः यत्नाः ।

तस्मिन् प्रतिषिध्यमाने भावेन गवा सामानाधिकरण्य-
मसत्प्रत्ययस्यासन् गौरश्चाऽऽत्मनेति, यथा न सन्ति कुण्डे
वदराण्येति कुण्डे वदरसंयोगे प्रतिषिध्यमाने सङ्गिरस-
प्रत्ययस्य सामानाधिकरण्यमिति ॥ ३८ ॥

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥

अपेक्षाकृतमापेक्षिकम् ; इत्यापेक्षाकृतं दीर्घं, दीर्घापेक्षा-
कृतं इक्षुम् ; न खेनाऽऽत्मनावस्थितं किञ्चित् ; कस्मात् ?—
अपेक्षासामर्थ्यात् ; तस्मान्न स्वभावसिद्धिर्भावानामिति ॥ ३९ ॥

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥

यदि इत्यापेक्षाकृतं दीर्घं, किमिदानीमपेक्ष्य इक्षुमिति
प्रश्नते ?—अत्र दीर्घापेक्षाकृतं इक्षुम्, दीर्घमनापेक्षिकम् ;
एवमितरेतराऽऽश्रययोरकस्याभावेऽन्यतराभावादुभयाभाव इति
अपेक्षान्वयस्याऽनुपपत्त्या । स्वभावसिद्धावसत्यां समयोः परि-
मण्डलयोर्वा द्वययोरपेक्षिके दीर्घत्वइक्षुत्वे कस्मान्न भवतः ?—
अपेक्षायामनपेक्षायाम् द्वययोरभेदः । यावती द्वये अपेक्षमाणे,
तावती एवानपेक्षमाणे, नान्यतरत्र भेदः ; आपेक्षिकत्वे तु
सत्यन्यतरत्र विशेषोपजनः स्यादिति । किमपेक्षासामर्थ्यमिति
चेत् ?—द्वयोर्यहोर्होतिशयग्रहणोपपत्तिः ; हे द्वये पश्यन्नेकत्र

ऽऽदिह, विद्ये ; न हि बुद्ध्या नमरूपाऽऽदिकं सत्त्वेन प्रतीतिर्वा सन्न
वति ॥ ३८ ॥

उक्तं ब्रह्मे ।—न हि सर्वेषां भावानामेकः स्वभावः सम्भवति, आपेक्षिकत्वात्
भिन्नत्वात्, भिन्नस्य एकत्वभावत्वे सत्त्वादपि भेदाऽऽपत्तेः ; यथा,—इतरसापेक्षत्वात्,
एतदपेक्षयाऽर्थं नोत्तरं, एतदपेक्षया इक्षु इति प्रतीतेः ; यच्च सापेक्षं, तदवच्छेदः ; यथा
कदासापेक्षं तद्विच्छेदवच्छेदः ॥ ३९ ॥

स्वभावः ।—सापेक्षत्वस्य बुद्ध्याभावेऽप्यवच्छेदवच्छेदत्वात् न वा सदाऽऽदेः

विद्यमानमतिशयं गृह्णाति, तद्दीर्घमिति व्यवस्यति ; यच्च हीनं गृह्णाति, तद्वृथ्वमिति व्यवस्यतीति, एतच्चापेक्षासामर्थ्यमिति ॥ ४० ॥

अथेमे सङ्ख्येकान्तवादाः । सर्वमेकं,—सद्विशेषात् ; सर्वं द्वेधा,—नित्यानित्यभेदात् ; सर्वं त्रेधा,—ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति ; सर्वं चतुर्धा,—प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति ; एवं यथासम्भवमन्येऽपीति । तत्र परीक्षा,—

सङ्ख्येकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ४१ ॥

यदि साध्यसाधनयोर्नानात्वम्, एकान्तो न सिध्यति, व्यतिरेकात् ; अथ साध्यसाधनयोरभेदः, एवमन्येकान्तो न सिध्यति, साधनाभावात् ; न हि तमन्तरेण कस्यचित् सिद्धिरिति ॥ ४१ ॥

सापेक्षत्वं सम्भवति, किञ्च सापेक्षत्वं सापेक्षं न वा, चाद्ये तस्य तुल्यत्वाच्च साधकत्वम्, अन्ये तस्यैव सत्यत्वात् कुतः सर्वशून्यत्वमिति भावः ॥ ४० ॥

समाप्तं सर्वशून्यतानिराकरणप्रकरणम् ।

अथ सङ्ख्येकान्तवादनिराकरणप्रकरणम् । तत्र भाष्यम्,—अथेमे सङ्ख्येकान्तवादाः, सर्वमेकं,—सद्विशेषात् ; सर्वं द्वेधा,—नित्यानित्यभेदात् ; सर्वं त्रेधा,—ज्ञाता ज्ञेयं ज्ञानमिति ; सर्वं चतुर्धा,—प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति ; एवं यथासम्भवमन्येऽपि । तत्र यथा नित्यत्वानित्यत्वव्यवधानां द्वेधां, तथा सत्त्वेनैकमिति स्पष्टोऽर्थः । परे त्वेवं व्याचक्षते,—एकमित्यद्वैतवादः, तथा च ब्रह्मेवैकं निर्विशेषं सत्यं, सर्वमन्यन्मिथ्या ; यद्वा,—सर्वं प्रपञ्चज्ञातम् एकं द्वैतशून्यं, सद्विशेषात् ; घटः सन् पटः सन्निति प्रतीतेः, घटाभिन्नसदभिन्नपटस्य घटाभेदसिद्धेः । सुतिरपि,—“एकमेवाद्वयं ब्रह्म” । “नेह नानाऽसि किञ्चन” (बृ० उप० ४ अध्या० ४ ब्राह्म० १२ मन्त्रः) इत्यादि । अन्येऽपीत्यनेन रूपसंज्ञामेकारवेदनाऽनुभवाः पञ्च स्वत्वा इति खीवान्तिका इत्यादि प्रमुञ्चयः, एतेष्वपि सिद्धान्तसूत्रम् ।—सङ्ख्येकान्ता न सिध्यन्ति कारणस्य प्रमाद्यस्य, अनुपपत्तेः, उपपत्तौ वा न सङ्ख्येकान्ताः, साधनस्य साध्यातिरिक्तत्वापेक्षितत्वम् ॥ ४१ ॥

न कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥

न सङ्गैकान्तानामसिद्धिः ; कस्मात् ?—कारणस्यावयव-
भावात् । अवयवः कश्चित् साधनभूत इत्यव्यतिरेकः ; एवं हैता-
ऽऽदीनामपीति ॥ ४२ ॥

निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥

कारणस्यावयवभावादित्यहेतुः ; कस्मात् ?—सर्वमेक-
मित्यनपवर्गेण प्रतिज्ञाय कस्यचिदेकत्वमुच्यते, तत्र व्यापृत्तो-
ऽवयवः साधनभूतो नोपपद्यते, एवं हैताऽऽदिष्वपीति । ते
खल्विमे सङ्गैकान्ताः विशेषकारितस्यार्थविस्तारस्य प्रत्याख्यानं
न वर्तन्ते, प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमविरोधान्निष्ठावादा भवन्ति ।
अथाभ्यनुज्ञानेन वर्तन्ते, समानधर्मकारितोऽर्थसङ्गृहो विशेष-
कारितस्यार्थभेद इति एवमेकान्तत्वं जहतीति । ते खल्वेते
तत्त्वज्ञानप्रविवेकार्थमेकान्ताः परोक्षिता इति ॥ ४३ ॥

प्रेत्यभावानन्तरं फलम् ; तस्मिन्,—

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥

पचति दोग्धीति सद्यः फलमोदनपयसौ, कर्षति वपतीति
कालान्तरे फलं शस्याधिगम इति । अस्ति चेयं क्रिया

आचिपति ।—न सङ्गैकान्तस्यासिद्धिः, कारणस्य प्रमाणस्य, अवयवभावात्,
उक्तस्येकदेशत्वादवयवविनोद्य भेदाभावः ॥ ४२ ॥

दूषयति ।—उक्तो हेतुर्न युक्तः, सर्वस्यैव पचत्वेनावशिष्टस्याभावात्, पचेकदेशस्य
हेतुत्वासम्भवादिति भावः, स्युतिस्तु ब्रह्मैक्यपरति । एतच्च नाशब्धं रोचते, सत्त्वेनैक्यस्य
नित्यानित्यभेदात् हेतुव्यादेशाभ्युपगमत्वात्, अनित्यस्याप्यनुमानस्य नित्यानित्यसाधकत्वे
विरोधाभावात् ; कथमितरथा षट्पदार्थो सप्तपदार्थो च सिध्येदिति ? तस्मादवैत-
न्नादिनिराकरणपरत्वं एव प्रकरणं सङ्गृह्यत इति सङ्केपः ॥ ४३ ॥

समाप्त सङ्गैकान्तवादिनिराकरणप्रकरणम् ।

अथावसरतः फले परीक्षणीये संशयनाह ।—पाकाऽऽदिक्रियायाः सद्यः फलक-

“अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः” (मैत्री० उप० ६।३६) इति ।
एतस्याः फले संशयः ॥ ४४ ॥

न सद्यः, फलं कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥ ४५ ॥

स्वर्गः फलं श्रूयते; तच्च भिक्षेऽस्मिन् देहभेदादुत्पद्यत इति;
न सद्यो ग्रामाऽऽदिकामानामारब्धफलमिति ॥ ४५ ॥

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ ४६ ॥

ध्वस्तायां प्रवृत्तौ प्रवृत्तेः फलं न कारणमन्तरेणोत्पत्तुमर्हति,
न खलु वै विनष्टात् कारणात् किञ्चिदुत्पद्यत इति ॥ ४६ ॥

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत् तस्यात् ॥ ४७ ॥

यथा फलार्थिना वृक्षमूले सेकाऽऽदिपरिकर्म क्रियते,
तस्मिंश्च प्रध्वस्ते पृथिवीधातुरव्यातुना सङ्गृहीतः आन्तरेण
तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निर्वर्त्तयति, स द्रव्यभूतो रसो
वृक्षानुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण सन्निविष्टमानः पर्णाऽऽदि-
फलं निर्वर्त्तयति; एवं परिषेकाऽऽदिकर्म चार्थवत्; न च
विनष्टात् फलनिष्पत्तिः, तथा प्रवृत्त्या संस्कारी धर्माधर्मलक्षणो
जन्यते, स जातो निमित्तान्तरानुग्रहीतः कालान्तरे फलं

तस्य क्रत्यादेः कालान्तरफलकत्वस्य दर्शनादग्निहोत्रहवनाऽऽदिर्हेताऽऽदेवां फलं साद्यत्वं
कालान्तरीयं वेति संशयः ॥ ४४ ॥

तत्रैहिककीर्त्यकीर्त्यादौनामेव फलत्वसम्भवे नादृष्टादिकल्पनमिति पूर्वसर्वे
सिद्धान्तसूचम् ।—कालान्तरोपभोग्यत्वेन प्रतिपादनादिष्वर्थः, स्वर्गो हि फलं श्रूयते,
स च दुःखोत्थमिष्टसुखं, न चैहिकं सुखं तथा; एवं हिताऽऽदेकसन्नरोपभोगः फलं
श्रूयते, न चेह तत्सम्भव इति भावः ॥ ४५ ॥

प्रवृत्ते ।—कालान्तरेण तत्तत्कर्मणः फलं न सत्त्वति, हेतोस्तत्कर्मणः, विना-
शात् ॥ ४६ ॥

समाधत्ते ।—स्वर्गाऽऽदिनिष्पत्तेः प्राक् तद्वारं स्यात् । दृष्टान्तमाह,—वृक्षफलवत्,

निष्पादयतीति । उक्तञ्चेतत्,—“पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः”
इति ॥ ४७ ॥

तदिदं प्राङ्निष्पत्तेर्निष्पद्यमानम्,—

नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥

प्राङ्निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं नासत्, उपादाननियमात् ;
कस्यचिदुत्पत्तये किञ्चिदुपादेयं, न सर्वं सर्वस्येत्यसद्भावे
नियमो नोपपद्यत इति । न सत्, प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्योत्पत्ति-
रनुपपन्नेति ; न सदसत्, सदसतोर्वैधर्म्यात् ; सदित्यर्थाभ्यनुज्ञा,
असदित्यर्थप्रतिषेधः, एतयोर्व्याघातो वैधर्म्यम् ; व्याघाताद-
व्यतिरेकानुपपत्तिरिति ॥ ४८ ॥

कस्मात् ?—

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यङ्गा उत्पादव्यय-
दर्शनात् ॥ ४९ ॥

यथा मूलसेकाऽऽदिनाशेऽपि तदधीनावयवोपचयाऽऽदिहारबलेन फलोत्पत्तिः, तथा
प्रकृतेऽपि वागाऽऽदिनाशेऽपि तज्जन्वाट्टरूपहारसत्त्वान्न स्वर्गाद्युत्पत्तिविरोधः ॥ ४७ ॥

ननु कार्यकारणभाव एव न विचारसह इत्याशङ्कते ।—प्राङ्निष्पत्तेरित्यनु-
वर्तते, फलमित्यङ्गाहर्तव्यम् ; तथा चोत्पत्तेः प्राक् फले नासत्, असत् उत्पत्तौ शङ्क-
शङ्कादेरप्युत्पत्तिः स्यात्, स्याच्च सिकतादावपि तैलम् ; न वा सत्, सत् उत्पत्ति-
विरोधात्, अत एव न सदसत्, सदसतोः सत्त्वासत्त्वलक्षणवैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥

समाधत्ते ।—उत्पत्तिधर्मकम् उत्पत्तिधर्मकत्वेनोपलभ्यमानं पटाऽऽदिकम्, उत्पत्तेः
प्रागसदिति अङ्गा तत्त्वम्, उत्पादनाशयोः प्रसिद्धत्वात्, इदानीं चट उत्पन्न इदानीं
चटो विनष्ट इति प्रत्ययान्, सतस्तु नोत्पत्तिरसम्भव उत्पन्नपुनरुत्पादप्रसङ्गात् ; यद्यपि
नाशस्य न तत्र हेतुत्वं, तथाऽप्यनुत्पन्नभावस्य नाशायोपादुत्पादसाधकत्वेन नाश
प्रकः ॥ ४९ ॥

यत्पुनरुक्तं—प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासदुपादाननियमादिति,—

बुद्धिसिद्ध्यन्तु तदसत् ॥ ५० ॥

इदमस्योत्पत्तये समर्थं, न सर्वमिति प्रागुत्पत्तेर्नियतकारणं
कार्यं बुद्ध्या सिद्धमुत्पत्तिनियमदर्शनात्, तस्मादुपादाननियम-
स्योपपत्तिः, सति तु कार्यं प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिरेव नास्तीति ॥ ५० ॥

आश्रयव्यतिरेकाद्बृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥ ५१ ॥

मूलसेकाऽऽदिपरिकर्म फलञ्चोभयं वृक्षाऽऽश्रयं, कर्म
चेह शरीरे, फलञ्चामुत्रेत्याश्रयव्यतिरेकादहेतुरिति ॥ ५१ ॥

प्रीतेरात्माऽऽश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥

प्रीतिरात्मप्रत्यक्षत्वादात्माऽऽश्रया, तदाश्रयमेव कर्म धर्म-
संज्ञितं, धर्मस्याऽऽत्मगुणत्वात् । तस्मादाश्रयव्यतिरेकानुपपत्ति-
रिति ॥ ५२ ॥

असदुत्पत्तौ नियमो न स्यादित्यत्राऽऽह ।—तत्कार्यम्, असत्, प्रागभाव-
प्रतियोगि-बुद्धिसिद्धं बुद्ध्या विषयीकृतम् ; तथा हि, इह तन्पु पटो भविष्यतीति
ज्ञात्वा कुविन्दः प्रवर्तते, न तु पटोऽस्तीति ज्ञात्वा, तथा सति सिद्धत्वेन ज्ञाते
इच्छाऽभावात् प्रवर्त्यनुपपत्तेः ; सिकताऽऽदौ पटो भविष्यतीति न ज्ञायते, किन्तु न
भविष्यतीति ज्ञायते एव ; कुत इति चेत् ?—अनुभवं पृच्छ । किञ्च लभ्यतेऽपि कुतो न
ज्ञायते, तत्र पटाभावादिति चेत्, कथमिदं निरणायि पटात् पूर्वं तन्पुसिकतयोस्तुल्य-
त्वात्, तन्पुलेनाऽऽश्रयतेति चेत्, तन्पुलेन कारणतयेव स्यात्, प्रवर्त्यनुरीधात् ॥ ५० ॥

नन्वस्य हेतुफलभावः, तथाऽपि वृक्षफलवदिति दृष्टान्तवैषम्याद्दृष्टसिद्धिरित्या-
शयेन शङ्कते ।—प्राङ्मुत्पत्तेर्वृक्षफलवदित्यहेतुः ; कुतः ?—आश्रयव्यतिरेकात् येन
कायेन कर्म कृतं, तस्य नाशात् ; वृक्षस्यले तु तस्य वृक्षस्य सत्त्वात् सलिलसेकाऽऽदिकं
परिकर्मोपयुज्यत इत्यभिमानः ॥ ५१ ॥

समाधत्ते ।—आश्रयव्यतिरेकादिति हेतुर्न युक्तः ; प्रीतेः सुखस्य, स्वर्गशरीराव-
च्छेदेन जायमानस्य, आत्मवृत्तित्वात्, यागाऽऽदिसामानाधिकरण्यादित्यर्थः ॥ ५२ ॥

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नाऽऽदिफल-
निर्देशात् ॥ ५३ ॥

पुत्राऽऽदि फलं निर्दिश्यते, न प्रीतिः ; ग्रामकामो यजेत, पुत्र-
कामो यजेतेति ; तत्र यदुक्तं,—प्रीतिः फलमित्येतदयुक्तमिति ॥ ५३ ॥
तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तौ स्तेषु फलवदुपचारः ॥ ५४ ॥

पुत्राऽऽदिसम्बन्धात् फलं प्रीतिलक्षणमुत्पद्यत इति पुत्राऽऽदिषु
फलवदुपचारः, यथाऽग्ने प्राणशब्दः, “अन्नं वै प्राणाः” इति ॥ ५४ ॥

फलानन्तरं दुःखमुद्दिष्टम्, उक्तञ्च,—“बाधनालक्षणं दुःखम्”
इति ; तत् किमिदं प्रत्यात्मवेदनीयस्य सर्वजन्तुप्रत्यक्षस्य सुखस्य
प्रत्याख्यानम् ?—आहोस्विदन्यः कल्प इति ? अन्य इत्याह ;
कथम् ?—न वै सर्वलोकसार्थिकं सुखं शक्यं प्रत्याख्यातुम्, अयन्तु
जन्ममरणप्रचक्रानुभवनिमित्ताद्दुःखान्निर्विण्यस्य दुःखञ्जिहासतो
दुःखसंज्ञाभावनोपदेशो दुःखहानार्थ इति । कया युक्त्या ?—सर्वे
खलु सत्यनिकायाः सर्वाण्युत्पत्तिस्थानानि सर्वः पुनर्भवो बाधना-
ऽनुपत्तः, दुःखसाहचर्यात् ; “बाधनालक्षणं दुःखम्” इत्युक्तम्,
ऋषिभिर्दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते, अत्र च हेतुरुपादोयते,—

विविधबाधनायोगाद्दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥

जन्म जायत इति शरीरेन्द्रियबुद्धयः, शरीराऽऽदीनाञ्च

वृत्तित्मानानाधिकारणसम्भवेऽपि सर्वत्र न तथेति शङ्कते ।—पुत्राऽऽदीनां
फलनिर्देशात् सामानाधिकरण्यं न सम्भवतीति भावः ॥ ५३ ॥

यद्यपि पुत्राऽऽदीनामैहिकफलत्वात् तत्राऽऽश्रयव्यतिरेकाभावात् शङ्कैव न,
तथाऽपि अत्र जन्मान्तरीयधनाऽऽदिकमपि फलं स्यात्, तत्रापि नानुपपत्तिरित्याशये-
नाऽऽह ।—तत्सम्बन्धात् पुत्राऽऽदिसम्बन्धात्, फलनिष्पत्तेः प्रीत्युत्पत्तेः, तेषु पुत्राऽऽदिषु,
फलवदुपचारः फलत्वेन व्यपदेशः ; यथा,—“अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः” इति ॥ ५४ ॥

समाप्तं फलपरीक्षाप्रकरणम् ।

अथ क्रमप्राप्तं दुःखं परीक्षणीयम् ; तत्र च “बाधनालक्षणं दुःखम्” इत्युक्तं,

संस्थानविशिष्टानां प्रादुर्भाव उत्पत्तिः, विविधा च बाधना,—
हीना मध्यमोत्कृष्टा चेति । उत्कृष्टा नारकिणां, तिरश्चान्तु
मध्यमा, मनुष्याणान्तु हीना, देवानां हीनतरा वीतरामा-
णाञ्च ; एवं सर्वमुत्पत्तिस्थानं विविधबाधनाऽनुषक्तं पश्यतः
सुखे तत्साधनेषु च शरीरेन्द्रियबुद्धिषु दुःखसंज्ञा व्यवतिष्ठते,
दुःखसंज्ञाव्यवस्थानात् सर्वलोकेष्वनभिरतिसंज्ञा भवति,
अनभिरतिसंज्ञामुपासीनस्य सर्वलोकविषया दृष्ट्या विच्छि-
द्यते, दृष्ट्याप्रहाणात् सर्वदुःखादिमुच्यत इति । यथा विष-
योगात् पयो विषमिति बुध्यमानो नोपादत्ते, अनुपाददानो
मरणदुःखं नाप्नोति ॥ ५५ ॥

दुःखोद्देशस्तु न सुखस्य प्रत्याख्यानम् ; कस्मात् ?—

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥

न खल्वयं दुःखोद्देशः सुखस्य प्रत्याख्यानम् ; कस्मात् ?—
सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः, निष्पद्यते खलु बाधनाऽन्तरालेषु सुखं
प्रत्यात्मवेदनीयं शरीरिणां, तदशक्यं प्रत्याख्यातुमिति ॥ ५६ ॥

अथापि,—

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥

सुखस्य दुःखोद्देशेनेति प्रकरणात् ; पर्येषणं प्रार्थना,
विषयार्जनदृष्ट्या ; पर्येषणस्य दोषः,—यदयं वेदयमानः

तदर्थंस्तु “दुःखत्वजातिमत्त्वम्” इत्युक्तं, तच्च शरीराऽऽदौ दुःखेऽव्याप्तमित्याशङ्काऽऽह ।—
जननयोगाज्जन्म शरीराऽऽदिकं, तदुत्पत्तिस्तत्सम्बन्धः, विविधबाधनायोगात् दुःखमिति
व्यपदिश्यते, न तु वास्तवमेव तत् दुःखम् ; तथा च, विविधदुःखानुषक्ततया हेयत्वार्थं
दुःखमिति भावनीयमुपदिश्यते ॥ ५५ ॥

ननु दुःखभावेन किं सुखं प्रत्याख्यायते ? न चेत्तच्छक्यम्, अत आह ।—दुःखानां
मध्ये सुखस्याप्युत्पत्तेस्तत्प्रत्याख्यानस्याशक्यत्वात् ॥ ५६ ॥

ननु सुखदुःखसम्बन्धाविशेषात् सुखभावनमेव किं ज्ञेयम् ? इत्यत्राऽऽह ।—दुःख-

प्रार्थयते, तस्य प्रार्थितं न सम्पद्यते, सम्पद्य वा विपद्यते, न्यूनं वा सम्पद्यते, बहु प्रत्यनीकं वा सम्पद्यत इत्येतस्मात् पर्येषण-
दोषाच्चानाविधौ मानसः सन्तापो भवति ; एवं वेदयतः
पर्येषणदोषाद्वाधनाया अनिवृत्तिः, बाधनाऽनिवृत्तेर्दुःखसंज्ञा-
भावनमुद्दिश्यते, अनेन कारणेन दुःखजन्म, न तु सुखस्या-
भावादिति । अथाप्येतदनूक्तम् ;—“कामं कामयमानस्य यदा
कामः समृध्यति । अथैनमपरः कामः क्षिप्रमेव प्रबाधते ॥” *
अपि चेदुदनेमिं समन्ताद्भूमिमिमां लभते सगवाक्षां, न स तेन
धनेन धनेषी तृप्यति, किन्तु सुखं धनकाम इति ॥ ५७ ॥

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥

दुःखसंज्ञाभावनोपदेशः क्रियते । अयं खलु सुखसंवेदने
व्यवस्थितः सुखं परमपुरुषार्थं मन्यते, न सुखादन्यन्निःश्रेयस-
मस्ति, सुखे प्राप्ते चरितार्थः कृतकरणौघो भवति, मिथ्या-
सङ्कल्पात् सुखे तत्साधनेषु च विषयेषु संरज्यते, संरक्तः सुखाय
घटते, घटमानस्यास्य जन्मजराव्याधिप्रायणानिष्टसंयोगीष्ट-
वियोगप्रार्थितानुपपत्तिनिमित्तमनेकविधं यावद्दुःखमुत्पद्यते,
तं दुःखविकल्पं सुखमित्यभिमन्यते । सुखाद्भूतं दुःखं, न
दुःखमनापाद्य शक्यं सुखमवाप्तुम् ; तादर्थ्यात् सुखमेवेदमिति
सुखसंज्ञोपहतप्रज्ञो जायस्व म्रियस्व चेति सन्धावतीति संसारं
नातिवर्त्तते ; तदस्याः सुखसंज्ञायाः प्रतिपन्नो दुःखसंज्ञाभावन-
मुपदिश्यते । दुःखानुपपन्नात् दुःखं जन्मेति, न सुखस्याभावात् ;

भावनस्य न प्रतिषेधः, वेदयतः सुखसाधनत्वं जानतः, पर्येषणदोषात् पर्येषणे
दुस्वार्थप्रवर्तने, दोषात् ; सुखाद्यै प्रवर्त्तमानो हि अर्जनपालनाऽऽदौ विविधाभिवाधना-
भिरुपतप्यते, अतो दुःखभावनं वैराग्यहेतुतयोपदिश्यते ॥ ५७ ॥

ननु दुःखमनुभवतः स्वत एव निवृत्तिसम्भवात् दुःखभावनोपदेशो व्यर्थः, इत्यतः

यद्येवं, कस्मात् दुःखं जन्मेति नीच्यते ? सोऽयमेवं वाचे
यदेवमाह, — दुःखमेव जन्मेति, तेन सुखाभावं ज्ञापयतीति ।
जन्मनिग्रहार्थीयो (य) वै खल्वयमेवशब्दः ; कथम् ? — न
दुःखं जन्म स्वरूपतः, किन्तु दुःखोपचारात् ; एवं सुखमप्येति ;
एतदनेनैव निर्वर्त्यते, न तु दुःखमेव जन्मेति ॥ ५८ ॥

दुःखोद्देशानन्तरमपवर्गः, स प्रत्याख्यायते,—

ऋणानुबन्धादपवर्गाभावः ॥ ५९ ॥

ऋणानुबन्धादपवर्गः । “जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभि-
र्ऋणैर्ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवभ्यः,
प्रजया पितृभ्यः” (तैत्ति० सं० ६।३।१०।५) इति ऋणानि,
तेषामनुबन्धः स्वकर्मभिः सम्बन्धः, कर्मसम्बन्धवचनात्,—
“जरामर्थे वा एतत् सत्त्वं, यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासी च” इति,
“जरया ह वा एष तस्मात् सत्त्वादिमुच्यते, सत्युना ह च” इति,
ऋणानुबन्धादपवर्गानुष्ठानकालो नास्तीत्यपवर्गाभावः । क्लेशा-
नुबन्धादपवर्गः, क्लेशानुबन्धश्च जायते, नास्य क्लेशानुबन्ध-

आह ।—दुःखस्य विविधः कल्पो यव तादृशे प्रतिषिद्धिसाभोजनजैशुनाऽऽदौ
प्रवृत्तिमां भूदित्ययमुपदेश इति भावः ॥ ५८ ॥

समाप्तं दुःखपरीक्षाप्रकरणम् ।

अथ कसमाप्ततयाऽपवर्गः परीक्षणीयः । तत्र च तदर्थकप्रवृत्तिकालाभावान्
तदभाव इति पूर्वपक्षयति ।—ऋणानुबन्धादपवर्गानुष्ठानकालाभावादपवर्गाभावः
स्यात् ; तथा च श्रूयते,—“जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिः ऋणैः ऋणवान् जायते,
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवभ्यः, प्रजया पितृभ्यः” (तैत्ति० सं० ६।३।१०।५) इति
ऋषिभ्यः ऋष्येभ्यो ब्रह्मचर्येण मुच्यते, देवभ्यः देवर्षेभ्यः यज्ञेन मुच्यते, प्रजया अपत्येन
पितृभ्यो मुच्यते, ऋणापाकरणेनैव च जीवनापगमः ; तथा च श्रूयते,—“जरामर्थे

(य) जन्मनिग्रहार्थीयः इत्यस्य प्रयोगस्य मत्वर्थीयप्रयोगवत् साधुत्वम् ; जन्म-
निग्रह एव अर्थः प्रवर्तते इत्यर्थः ।

विच्छेदो गृह्यते । प्रवृत्त्यनुबन्धान्नास्त्यपवर्गः, जन्मप्रभृत्ययं यावत् प्रायणं वाग्बुद्धिशरीराऽऽरम्भेनाविमुक्तो गृह्यते, तत्र यदुक्तं,—
“दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायै तदनन्तरा-
भावादपवर्गः” इति, तदनुपपन्नमिति ॥ ५९ ॥

अत्राभिधीयते, यत्तावदृणानुबन्धादिति ऋणैरिव ऋणैरिति,—
प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दा-
प्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥

ऋणैरिति नायं प्रधानशब्दः, यत्र खल्वेकः प्रत्यादेयं ददाति, द्वितीयश्च प्रतिदेयं गृह्णाति, तत्रास्य दृष्टत्वात् प्रधान-
शृणुशब्दः, न चैतदिहोपपद्यते ; प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्दे-

वा एतत्सर्वं, यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च”, “जरया ह वा एष तस्मात् सवाहिमुच्यते, ऋतुना ह च” इति, ऋणापाकरणमन्तरं च न तत्र प्रवृत्तिः ; तथा च स्मर्यते,—
“ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोचे निवेशयेत् । अपनपाकृत्य मोचन्तु सेवमानो पतत्यधः ॥” ; एवं क्लेशानुबन्धादपि पुरुषो हि रागाऽऽदिभक्ततत्त्वमार्गश्वारभमाणः क्लेशानुबिद्ध एव दृश्यते, तत् कथमपवर्गः ? एवं प्रवृत्त्यनुबन्धादपि पुरुषो हि वाग्बुद्धि-
शरीरैस्तत्त्वमार्गश्वारभमाणो धर्माधर्मौ यावज्जीवमुपार्जयन् कथमपवर्ज्यताम् ?
इति ॥ ५९ ॥

समाधत्ते ।—जायमान इत्याद्यनुवादी हि प्रधानशब्दः, न हि जायमानः कर्मण्यधिक्रियते ; तथा च भाष्यम् ;—यदा तु मातृवो जायते कुमारः, न तदा कर्मभिरधिक्रियते, अर्धिनः शक्तस्य चाधिकारादिति । जायमान इत्यनेन को वा व्यावर्त्तनीयः ?—न ह्यजातस्य प्रसक्तिरस्ति, येनासौ व्यावर्त्तनीयः ; तत्र भाष्यम् ;—
जायमान इति गुणशब्दः, विपर्ययेऽनधिकारादिति । तथा च जायमान इत्यनेनोपनौत उच्यते, तस्य ब्रह्मचर्यादावधिकारात्, अग्निहोत्राऽऽदौ गृहस्थस्याधिकारः, “चौमे वसानो वाऽधीयताम्” इति श्रुतेः ; एवमृणशब्दोऽपि न मुख्यः । न ह्यत्र प्रत्यादेयं कश्चन ददाति, परन्तु ऋणापाकरणवदावश्यकत्वव्यापनाय तथोक्तम् । लार्घ्यक-
शब्दप्रयोगे बीजमाह ।—निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ऋणानपाकरणतदपाकरणाभ्यामिवाग्नि-

नायमनुवादः ऋणैरिव ऋणैरिति ; प्रयुक्तोपमञ्चेतत् अग्निर्माण-
वक इति, अन्यत्र दृष्टयायसृणशब्द इह प्रयुज्यते, यथाऽग्नि-
शब्दो माणवके । * कथं गुणशब्देनानुवादः ?—निन्दा-
प्रशंसोपपत्तेः । * कर्मलोपे ऋणोव ऋणादानान्निन्द्यते,
कर्मानुष्ठाने च ऋणोव ऋणदानात् प्रशस्यते । * जायमान
इति गुणशब्दः, विपर्ययेऽनधिकारात् । * “जायमानो ह ब्रै
ब्राह्मणः” (तैत्ति० सं० ६।३।१०।५) इति च शब्दो गृहस्थः
सम्पद्यमानो जायमान इति, यदाऽयं गृहस्थो जायते,
तदा कर्मभिरधिक्रियते, मादृतो जायमानस्यानधिकारात् ;
यदा तु मादृतो जायते कुमारः, न तदा कर्मभिरधिक्रियते,
* अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात्, * अर्थिनः कर्मभिरधिकारः,
कर्मविधौ कामसंयोगस्मृतेः, “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः”
(मैत्री० उप० ६।३६) इत्येवमादि । * शक्तस्य च प्रवृत्ति-
सम्भवात् * शक्तस्य कर्मभिरधिकारः, प्रवृत्तिसम्भवात् ;
शक्तः खलु विहिते कर्मणि प्रवर्तते, नेतर इति ।
* उभयाभावस्तु प्रधानशब्दार्थे * मादृतो जायमाने कुमारे
उभयमर्थिता शक्तिश्च न भवतीति । न भिद्यते च लौकिका-
द्वाक्यादौ वाक्यं, प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्वेन ; तत्र
लौकिकस्तावदपरीक्षकोऽपि न जातमात्रं कुमारकमेवं
ब्रूयात्—अधीष्व यजस्व ब्रह्मचर्यं चरेति ; कुत एवम्
ऋषिरूपपन्नानवद्यवादी उपदेशार्थेन प्रयुक्त उपदिशति ?
न खलु वै नर्तकोऽन्धेषु प्रवर्तते, न गायको बधिरेष्विति ।
* उपदिष्टार्थविज्ञानञ्चोपदेशविषयः * यश्चोपदिष्टमर्थं विजानाति,
तं प्रत्युपदेशः क्रियते, न चैतदस्ति जायमानकुमारक इति ।

होवाद्यकरणतत्करणाभ्यां निन्दाप्रशंसे उपपद्यते, न चानुष्ठानकालाभावः,
जहत्या विसृज्यत इत्युक्तेः ; न च जरयाऽशक्तिरुपपद्यते, “बन्धेवाधौ वा जुहुयात्

गार्हस्थ्यलिङ्गञ्च मन्त्रब्राह्मणं कर्माभिवदति, यच्च मन्त्रब्राह्मणं कर्माभिवदति, तत् पत्नीसम्बन्धिना गार्हस्थ्यलिङ्गेनोपपन्नम् ; तस्माद्गृहस्थोऽयं जायमानोऽभिधीयत इति । * अर्थित्वस्य स्वाविपरिणामे जरामर्थ्यवादोपपत्तेः, * यावच्चास्य फलेनार्थित्वं न विपरिणमते, न निवर्तते, तावदनेन कर्मानुष्ठेयम्, इत्युपपद्यते जरामर्थ्यवादस्तं प्रतीति, जरया ह वेत्यायुषस्तुरीयस्य चतुर्थस्य प्रव्रज्यायुक्तस्य वचनम् ; जरया ह वैष एतस्माद्विमुच्यत इति, आयुषस्तुरीयं चतुर्थं प्रव्रज्यायुक्तं जरित्युच्यते ; तत्र हि प्रव्रज्या विधीयते, अत्यन्तजरामंयोगे जरया ह वेत्यनर्थकम् ; अशक्तो विमुच्यत इत्येतदपि नोपपद्यते, स्वयमशक्तस्य वाच्यां शक्तिमाह,—“अन्तेवासी वा जुहुयाद्ब्रह्मणा स परिक्रीतः”, “क्षीर-होता वा जुहुयाद्धनेन स परिक्रीतः” इति । * अथापि विहितं वाऽनूद्येत, कामाहार्थः परिकल्प्येत, विहितानुवचनं न्याय्यमिति, * ऋणवानिवास्रतन्त्रो गृहस्थः कर्मेभु प्रवर्तते, इत्युपपन्नं वाक्यस्य सामर्थ्यम् ; फलस्य हि साधनानि, प्रयत्नविषयः न फलम् ; तानि सम्यग्ज्ञानि फलाय कल्पन्ते, विहितञ्च जायमानं, विधीयते च जायमानम् ; तेन यः सम्बध्यते, सोऽयं जायमान इति । * प्रत्यक्षविधानाभावादिति चेत्, न ; प्रतिषेधस्यापि प्रत्यक्षविधानाभावादिति । * प्रत्यक्षतो विधीयते गार्हस्थ्यं ब्राह्मणेन, यदि चाऽऽश्रमान्तरमभविष्यत्, तदपि व्यधायित प्रत्यक्षतः, प्रत्यक्षविधानाभावात्स्याश्रमान्तरमिति न, प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षविधानाभावात् ; न प्रतिषेधोऽपि वै ब्राह्मणेन प्रत्यक्षतो विधीयते, न सन्याश्रमान्तराणि, एक एव

ब्रह्मणा स परिक्रीतः” इत्यादिनाऽशक्तस्यापि विधानात्, तस्मादायुषश्चतुर्थभागे क्रूरित्युच्यते । किञ्च जरामर्थ्यवादः कामनाऽभिप्रायेण ; तथा च भाष्यम् ;—अर्थित्वस्य

ऋहत्याऽऽत्म इति प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षतोऽवयवाद्युक्तमेत-
दिति ॥ ६० ॥

अधिकाराच्च विधानं विद्याऽन्तरवत् ॥ ६१ ॥

यथा शास्त्रान्तराणि स्वे स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधाय-
कानि, नार्थान्तराभावात् ; एवमिदं ब्राह्मणं ऋहत्याशास्त्रं
स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकं, नाऽऽन्तराणामभावादिति ।
* ऋहत्याब्राह्मणश्चापवर्गाभिधाय्यभिधीयते । * ऋचश्च ब्राह्मणानि
चापवर्गाभिवादौभि भवन्ति । ऋचश्च तावत्,—“कर्मभिर्मृत्यु-
मृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः । अथापरे
ऋषयो मनौषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः ॥” । “न कर्मणा
न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः” (कैव० उप०
२ श्लोकः) । “परेण नाकं निश्चितं गुहायां विभाजते
यद्युतयो विशन्ति” (कैव० उप० ३ श्लोकः) । “वेदाङ्गमेतं
पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वा
अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥” (श्वेता० उप०
३ अध्या० ८ मन्त्रः) । अथ ब्राह्मणानि—“त्रयो धर्मस्कन्धाः,—
यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ; प्रथमस्तप एव, द्वितीयो ब्रह्मचार्य-
चार्यकुलवासी, तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलोपसादयन् ;
सर्व एवैते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति”
(छान्दो० उप० २ अध्या० २३ खण्डः ० २ मन्त्रः) । “एतमेव
प्रभ्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रभ्रजन्तीति” (इह० उप० ४
अध्या० ४ ब्राह्म० २२ मन्त्रः) । “अथो खत्वाङ्गः, काममय
एवायं पुरुष इति, स यथाकामो भवति, तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतु-

चापरिणामे जरामर्यवादीपपतेरिति । अर्थित्वं कामना, तदपरिणामे तदनाशे,
कर्मकरणाभिप्रायेण जरामर्यवाद उपपद्यते ॥ ६० ॥

भवति, तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते, तदभिसम्पद्यते,” (बृह०
उप० ४ अध्या० ४ ब्राह्म० ५ मन्त्रः) इति कर्मभिः संसरणमुक्त्वा
प्रकृतमन्यदुपदिशन्ति, “—इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो
योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः, न तस्य प्राणा
उत्कामन्ति, अत्रैव समवनीयन्ते, (द) ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति”
इति (बृह० उप० ४ अध्या० ४ ब्राह्म० ६ मन्त्रः) । तत्र
यदुक्तम्,—ऋणानुबन्धादपवर्गाभाव इत्येतदयुक्तमिति । ये
“चत्वारः पथयो देवयानाः” इति च चातुराश्रम्यश्रुतैरेका-
ऽऽश्रम्यानुपपत्तिः ; फलार्थिनश्चेदं ब्राह्मणं,—“जरामर्थं वा एतत्
सत्त्वं, यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासी च” इति ॥ ६१ ॥

कथम् ?—

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ६२ ॥

“प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्ववेदसं हृत्वा आत्मन्य-
स्त्रीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्” इति श्रूयते, तेन विजानीमः,
प्राजावित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलार्थित्वे समारोपणं
विधीयते इति । एवञ्च ब्राह्मणानि, “—अथ ह यान्नवत्करो-
ऽन्यदुत्तमुपाकरिष्यन् । मैत्रेयीति होवाच यान्नवत्करोः,
प्रव्रजिष्यन् वा अरे अहमस्मात्स्थानादस्मि, हन्त तेऽनया
कात्मायन्याऽन्तं करवाणि” (बृह० उप० ४ अध्या० ५ ब्राह्म०

ननु कात्यानां कामनाविरहेण त्यागसम्भवेऽपि नित्यानां कथं त्यागः ?—श्रूयते
हि,—“यावज्जीवमग्निहोत्रं कुर्यात्” इति । तत्राऽऽह,—अपवर्गप्रतिषेधो न युक्तः,
अग्नीनाम् आत्मनि समारोपविधानात् । श्रूयते—“प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां

(द) “समवनीयन्ते—एकीभावेन समवस्थान्यन्ते, प्रकीयन्त इत्यर्थः” इति भाष्यम् ।
“अत्रैव समवनीयन्ते” इत्यंशस्तु वृत्तिहोत्ररतापत्यां प्रथमोपनिषदि ५ म खण्डान्ते
हस्यते ।

१।२ मन्त्रौ) । “इत्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेयि एतावदरे खल्व-
मृतत्वम्, इति होक्ता याज्ञवल्क्यः विजहार” (बृह० उप०
४ अध्या० ५ ब्राह्म० १५ मन्त्रः) ॥ ६२ ॥

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ॥ ६२ ॥ क ॥

जरामर्त्यं च कर्मण्यविशेषेण कल्पमाने सर्वस्य पात्र-
चयान्तानि कर्माणि इति प्रसज्यते, तत्र एषणा व्युत्थानं न
श्रूयते,—“एतच्च स्म वै तत्पूर्वं विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं
प्रजया करिष्यामः । येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म
पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाश्च भिक्षा-

सार्ववेदसं हुत्वाऽऽत्मन्यग्नौ सनारीष्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्” इति ; अत एव “चत्वारः
पथयो देवयानाः” इति चातुरायम्यस्तुतिरपि सङ्गच्छते ॥ ६२ ॥

नन्वग्निहोमस्याप्रतिबन्धकत्वेऽपि तत्फलस्वरूपे एवापवर्गप्रतिबन्धकः स्यादवाऽऽह ।—
ज्ञानिनः फलस्य स्वर्गस्य, अभावः, अग्निहोमं हि पात्रचयान्तं, पात्राख्यग्निहोत्रपात्राणि,
तेषाञ्चयः प्रणीतस्य यज्ञमानस्याङ्गेषु विन्यासः, मुखे घृतपूर्णां शुचिमिति क्रमेण ;
भिर्होतृद्वयमुपपत्तेः, तेन तत्परित्यागात् अग्निहोत्रफलाभावेऽपि ज्योतिष्टोमशङ्का-
खानादिहिंसाऽऽदिफलानां प्रतिबन्धकत्वं स्यात्, अतो ह्येवमनुरूपेण चकार उप-
व्यसः ; तथा च, प्रारब्धातिरिक्तकर्मणां ज्ञानादेव चय इत्याशयः ; श्रूयते हि,—
“तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” (मुख० उप० ३मु०
१ खण्ड, १ मन्त्रः), एवं,—“जीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे”
(मुख० उप० २मु० २खण्ड० ४ मन्त्रः) । अर्थ्यते,—“ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भक्षयान्
कुर्वते तथा” इति (गौता० ४ अध्या० ३७ श्लोकः) । इत्यस्य कामनाशून्यस्य
प्रजाऽनुत्पादोऽपि नापवर्गविरोधी ; तथा च श्रूयते,—“एतच्च स्म वै तत्पूर्वं
विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामः, येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति
ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाश्च भिक्षाचर्यं चरन्ति”
इति (बृह० उप० ४ अध्या० ४ ब्राह्म० २२ मन्त्रः) ; अन्वे तु,—“फलाभावः
फलस्य मुमुक्षून् प्रति अग्निहोत्राऽऽदौ प्रयोजकत्वाभावः, तथा सति भिक्षूपोषणं
पात्रचयान्तं स्यात् इत्यर्थः” इत्याहुः । इति वृत्तिवृत्तम् अधिकारम् ॥ ६२ ॥ क ॥

चर्यं चरन्ति” (बृह० उप० ४ अध्या० ४ ब्राह्म० २२ मन्त्रः)
इति एषणाभ्यश्च व्युत्थितस्य पात्रचयान्तानि कर्माणि नोपपद्यन्ते
इति, नाविशेषेण कर्तुः प्रयोजकफलं भवतीति । चातुराश्रम्य-
विधानाच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्रेयैकाऽऽश्रमस्यानुपपत्तिः । तद-
प्रमाणमिति चेत्, न ; प्रमाणेन प्रामाण्याभ्यनुज्ञानात् ; प्रमाणेन
खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते, ते वा
खल्वेते अथर्वाऽऽङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्, इतिहास-
पुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति, तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति ।
अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहारलोपात्तोकोच्छेद-
प्रसङ्गः । * द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः । * य-
एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते खल्वितिहासपुराणस्य
धर्मशास्त्रस्य चेति । * विषयव्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम्*
अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, अन्यच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणा-
मिति ; यत्रो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य,
लोकव्यवहारव्यवस्थानं धर्मशास्त्रस्य विषयः ; तत्रैकेन सर्वं
व्यवस्थाप्यत इति, यथाविषयमेतानि प्रमाणानीन्द्रियादिवदिति ।
यत् पुनरेतत् क्लेशानुबन्धस्याविच्छेदादिति,—

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ॥ ६३ ॥

यथा सुषुप्तस्य खलु स्वप्नादर्शने रागानुबन्धः सुखदुःखानु-
बन्धश्च विच्छिद्यते, तथाऽपवर्गेऽपीति । एतच्च ब्रह्मविदो मुक्त-
स्याऽऽत्मनो रूपमुदाहरन्तीति ॥ ६३ ॥

क्लेशानुबन्धं दूषयति ।—स्वप्नादर्शनकाले सुषुप्तस्य यथा क्लेशभावेन दुःखाभावः,
तथाऽपवर्गेऽपि रागाद्यभावेन दुःखाभावः स्यात् ॥ ६३ ॥

यदपि प्रवृत्त्यनुबन्धादिति,—

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥ ६४ ॥

प्रक्षीणेषु रागद्वेषमोहेषु प्रवृत्तिर्न प्रतिसन्धानाय, पूर्व-
सन्धिस्तु पूर्वजन्मनिवृत्तौ पुनर्जन्म, तच्चादृष्टकारितं, तस्यां
प्रक्षीणायां पूर्वजन्माभावे जन्मान्तराभावोऽप्रतिसन्धानमपवर्गः ।
* कर्मवैकल्यप्रसङ्ग इति चेत्, न ; कर्मविपाकप्रतिसंवेदन-
स्याप्रत्याख्यानात् ; * पूर्वजन्मनिवृत्तौ पुनर्जन्म न भवतीत्युच्यते,
न तु कर्मविपाकप्रतिसंवेदनं प्रत्याख्यायते, सर्वाणि पूर्वकर्माणि
ह्यन्ते जन्मनि विपच्यन्त इति ॥ ६४ ॥

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥ ६५ ॥

नोपपद्यते क्लेशानुबन्धविच्छेदः ; कस्मात् ?—क्लेशसन्ततेः
स्वाभाविकत्वात् ; अनादिरियं क्लेशसन्ततिः, न चानादिः शक्य
उच्छेत्तुमिति ॥ ६५ ॥

अत्र कश्चित् परिहारमाह,—

प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत् स्वाभाविकेऽप्य-
नित्यत्वम् ॥ ६६ ॥

यथाऽनादिः प्रागुत्पत्तेरभाव उत्पन्नेन भावेन निवर्त्यते,
एवं स्वाभाविकी क्लेशसन्ततिरनित्येति ॥ ६६ ॥

प्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावं दूषयति ।—क्लिप्तोऽनेनेति क्लेशो रागादिः तद्विरुद्धः,
या प्रवृत्तिः, सा प्रतिसन्धानाय प्रतिबन्धाय, न भवति, अर्थाधर्मो न अनयतो-
त्यर्थः ॥ ६४ ॥

क्लेशभावमसङ्गमानः शङ्कते ।—क्लेशसन्ततेरुच्छेदो न युक्तः, स्वाभाविक-
त्वात् ॥ ६५ ॥

अपर आह,—

अणुश्यामताऽनित्यत्ववद्वा ॥ ६७ ॥

यथाऽनादिरणुश्यामता, अथ चाऽग्निसंयोगादनित्या, तथा
क्लेशसन्ततिरपीति ॥ ६७ ॥

सतः खलु धर्मी नित्यत्वमनित्यत्वञ्च, तत्त्वभावे (तत्तु
अभावे) भाक्तमिति, अनादिरणुश्यामतेति हेत्वभावादयुक्तम्,
अनुत्पत्तिधर्ममनित्यमिति नात्र हेतुरस्तीति । अयं तु
समाधिः,—

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥ ६८ ॥

कर्मनिमित्तत्वादितरेतरनिमित्तत्वाच्चेति समुच्चयः । मिथ्या-
सङ्कल्पेभ्यो रञ्जनीय-कोपनीय-मोहनौयेभ्यः रागद्वेषमोहा उत्प-
द्यन्ते, कर्म च सत्त्वनिकायनिर्वर्त्तकं नैयमिकान् रागद्वेषमोहान्
निर्वर्त्तयति, नियमदर्शनात् ; दृश्यते हि कश्चिसत्त्वनिकायो
रागबहुलः, कश्चिद्वेषबहुलः, कश्चिमोहबहुल इति । इतरेतर-
निमित्ता च रागादीनमुत्पत्तिः, मूढो रज्यति, मूढः कुप्यति,
रक्तो मुह्यति, कुपितो मुह्यति । सर्वमिथ्यासङ्कल्पानां तत्त्व-
ज्ञानादनुत्पत्तिः ; कारणानुत्पत्तौ च कार्यानुत्पत्तेरिति, रागा-
ऽऽदीनामत्यन्तमनुत्पत्तिरिति । अनादिश्च क्लेशसन्ततिरित्यप्य-
युक्तम् ; सर्व इमे खल्वध्यात्मिका भावाः अनादिना प्रवन्धेन
प्रवर्त्तन्ते शरीराऽऽदयः, न जातवन् कश्चिदनुत्पन्नपूर्वः प्रथमत

एकदेशो समाधत्ते ।—प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत् प्रागभावानित्यत्ववत्, अनादिः
परमाणुश्यामताया विनाशवद्वा विनाशः ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

अनित्यत्वं विनाशिभावत्वं, न च तत् प्रागभावे, न वाऽणुश्यामताऽऽदिरनादिः ;
तथा च भाष्यम्,—अनादिरणुश्यामतेति हेत्वभावादयुक्तम् । इत्यतो मतद्वयमुपेत्य
विद्वान्नाह ।—नोक्तं युक्तम् ; कुतः ?—रागाऽऽदीनां सङ्कल्पनिमित्तत्वात् सङ्कल्पो

उत्पद्यते, अन्यत्र तत्त्वज्ञानात् । न चैवं सत्यनुत्पत्तिधर्मकं किञ्चिद्व्ययधर्मकं प्रतिज्ञायत इति ; कर्म च सत्त्वनिकाय-निर्वर्तकं तत्त्वज्ञानकृतात् मिथ्यासङ्कल्पविघातात् रागाद्युत्पत्ति-निमित्तं भवति, सुखदुःखसंवित्तिफलन्तु भवतीति ॥ ६८ ॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये चतुर्थाध्यायस्याऽऽद्यमाह्निकम् ।

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

किन्तु खलु भो यावन्तो विषयाः, तावन्तु प्रत्येकं ज्ञान-मुत्पद्यते ? अथ क्वचिदुत्पद्यते ? इति । कश्चात्र विशेषः ?—न तावदेकैकत्र यावद्विषयमुत्पद्यते, ज्ञेयानामानन्त्यात् ; नापि क्वचिदुत्पद्यते, यत्र नोत्पद्यते, तत्रानिवृत्तो मोह इति मोहशेषप्रसङ्गः, न चान्यविषयेण तत्त्वज्ञानेनान्यविषयो मोहः शक्यः प्रतिषेधमिति । (घ) मिथ्याज्ञानं वै खलु मोहः, न तत्त्वज्ञानस्यानुत्पत्तिमात्रम् ; तच्च मिथ्याज्ञानं यत्र विषये प्रवर्तमानं संसारबीजं भवति, स विषयस्तत्त्वतो ज्ञेय इति । किं पुनस्तन्मिथ्याज्ञानम् ?—अनात्मन्यात्मग्रहः ; अहमस्मीति

मिथ्याज्ञानं निमित्तं येषाम् ; तथा च, तत्त्वज्ञानेन मिथ्याज्ञाननिवृत्तो रामाऽऽदिनिवृत्ति-र्युज्यत एवेति भावः ॥ ६८ ॥

समाप्तपर्वपरिचापकरणम् ।

समाप्तं चतुर्थाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥ १ ॥

(घ) सिद्धान्ती वदति ।

मोहोऽहङ्कार इति, अनात्मानं खल्वहमस्मीति पश्यतो दृष्टि-
हङ्कार इति । किं पुनस्तदर्थजातं यद्विषयोऽहङ्कारः ?—शरीरे-
न्द्रियमनोवेदनाबुद्ध्यः अर्थजातम् । कथं तद्विषयोऽहङ्कारः संसार-
बीजं भवति ?—अयं खलु शरीराद्यर्थजातमहमस्मीति व्यव-
सितः, तदुच्छेदनेनाऽऽत्मोच्छेदं मन्यमानोऽनुच्छेददृष्ट्या परिप्लुतः
पुनः पुनस्तदुपादत्ते, तदुपाददानो जन्ममरणाय यतते, तेना-
वियोगान्नात्यन्तं दुःखाद्विमुच्यते इति । यस्तु दुःखं दुःखाऽऽयतनं
दुःखानुपक्तं सुखञ्च सर्वमिदं दुःखमिति पश्यति, स दुःखं परि-
जानाति, परिज्ञातञ्च दुःखं प्रहीणं भवत्यनुपादानात् सविषाद-
वत्; एवं दोषान् कर्म च दुःखहेतुरिति पश्यति, न चाप्रहीणेषु
दोषेषु दुःखप्रवत्योच्छेदेन शक्यं भवितुमिति दोषान् जहाति,
प्रहीणेषु च दोषेषु न ग्रहतिः प्रतिसन्धानायेत्युक्तम्; प्रेत्यभाव-
फलदुःखानि च ज्ञेयानि व्यवस्थापयति कर्म च दोषांश्च ग्रहेयान्,
अपवर्गोऽधिगन्तव्यः, तस्याधिगमोपायस्तत्त्वज्ञानम् । एवं च त-
द्विभिर्विधाभिः प्रमेयं विभक्तमासेवमानस्याभ्यस्यतो भावयतः
सम्यग्दर्शनं यथाभूतावबोधस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते; एवञ्च—

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिर्वात्तः ॥१॥

शरीरादि दुःखान्तं प्रमेयं दोषनिमित्तं, तद्विषयत्वान्निश्चा-
ज्ञानस्य; तदिदं तत्त्वज्ञानं तद्विषयमुत्पन्नमहङ्कारं निवर्तयति,

अथ शास्त्रस्य परमं प्रयोजनमपवर्गः, स चोद्दिष्टो लजितः परीक्षितोऽप्य-
किंचित्कारः, कारणानिरूपणात्; नन्वभिहितमेव दुःखाऽऽदिमुखे—कारणनाशकमिष-
दुःखाभावोऽपवर्ग इति, इति चेत्सत्यं, मिथ्याज्ञानापवर्गहेतुर्नाभिहितः; तत्त्वज्ञानं
तत्र हेतुरिति चेत् ?—कस्य तत्त्वं ज्ञातव्यमित्यभिधानीयमित्याशयेन तत्त्वज्ञानपरीक्षा,
सैव चाऽऽङ्गकार्यः । तत्र च षट् प्रकरणानि,—आदौ तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम्,
अन्यानि च यथावयवं वक्ष्यन्ते; तत्र सिद्धान्तसूत्रम् ।—अहङ्कारोऽहमित्यभिमानः, स च
शरीराऽऽदिविषयको मिथ्याज्ञानमुच्यते, तच्च दोषनिमित्तानां शरीराऽऽदीनां, तत्त्वज्ञानं

समानविषये तयोर्विरोधात् ; एवं तत्त्वज्ञानादुत्पन्नप्रवृत्ति-
दोषमित्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति,
स चायं शास्त्रार्थसङ्ग्रहोऽनूच्यते, नापूर्वी विधीयत इति ॥ १ ॥

प्रसङ्गानाऽऽनुपूर्व्यां तु खलु,—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकताः ॥ २ ॥

कामविषया इन्द्रियार्था इति रूपादय उच्यन्ते, ते मिथ्या-
सङ्कल्प्यमाना रागद्वेषमोहान् प्रवर्तयन्ति, तान् पूर्वं प्रसञ्चक्षीत,
तांश्च प्रसञ्चक्षणास्य रूपाऽऽदिविषयो मिथ्यासङ्कल्पो निवर्तते,
तन्निवृत्तावध्यात्मं शरीराऽऽदि प्रसञ्चक्षीत, तत्प्रसङ्गानादध्यात्म-
विषयोऽहङ्कारो निवर्तते, सोऽयमध्यात्मं वहिष्य विविक्तचित्तो
विहरन् मुक्त इत्युच्यते ॥ २ ॥

अतः परं काचित् संज्ञा हेया, काचिद्भावयितव्येत्युपदिश्यते,
नार्थनिराकरणमर्थोपादानं वा ; कथमिति ?—

तन्निमित्तन्वयव्यभिमानः ॥ ३ ॥

तेषां दोषाणां निमित्तन्वयव्यभिमानः ; सा च खलु
स्त्रीसंज्ञा सपरिष्कारा पुरुषस्य, पुरुषसंज्ञा च स्त्रियाः, परि-
ष्कारश्च निमित्तसंज्ञा अनुव्यञ्जनसंज्ञा च । निमित्तसंज्ञा—

अनात्मत्वस्य, ज्ञातामिवर्तते, आत्मत्वेन हि शरीराऽऽदी मुञ्चन् रञ्जनीयत्वात् रज्यति,
कौपणीयेषु कुप्यति । केचित्तु,—“दोषनिमित्तानां रागाऽऽदीनां, तत्त्वज्ञानादलवद-
निष्ठाशुभित्वज्ञानात्, अहङ्कारस्याभिजापस्य, निवृत्तिरित्यर्थः” इत्याहुः ॥ १ ॥

ननु के तावदनुरञ्जनीया विषयाः, येषु रज्यन् संसरति ? इत्यतो विवेकाय ताव-
दिदं प्रति ।—सङ्कल्पः समीचीनत्वेन भाषणं, तद्विषयीकता रूपाऽऽदयः दोषस्य रागाऽऽदेः,
निमित्तम् ; सुन्दरीयमिति जानन् रज्यति, शत्रुदयमिति हेष्टि, ते रूपाऽऽदयः हेयत्वेन
भावनीयाः प्रपन्नं, ततः शरीराऽऽत्मविवेकः ॥ २ ॥

ननु सौन्दर्याऽऽदिकं पश्यतो रागाऽऽदिजन्मणीऽपि दुष्परिहरः ; तदुक्तं,—“चक्षुषं
हि जनः कृच्छ्रं प्रमापि बलवद्बुद्धम्” इत्यतो रागाऽऽदिनिवृत्त्युपायं दर्शयिष्यन्नाह ।—

रसनाश्रोत्रं दन्तोष्ठं चक्षुर्नासिकम् । अनुव्यञ्जनसंज्ञा—इत्थं दन्ताः, इत्थमोष्ठाविति । सेयं संज्ञा कामं वक्ष्यति तदनुषक्तांश्च दोषान् विवर्जनोयान् ; वर्जनन्त्वस्याः, भेदेनावयवसंज्ञा ; केशलोममांसशोणितास्थिस्त्रायुशिराकफपित्तीक्ष्णारादिसंज्ञा, तामशुभसंज्ञेत्याचक्षते, तामस्य भावयतः कामरागः प्रह्रीयते, सत्ये च द्विविधे विषये काचित् संज्ञा भावनीया, काचित् परिवर्जनीयेत्युपदिश्यते, यथा विषसम्पृक्तेऽन्नेऽन्नसंज्ञोपादानाय विषसंज्ञा ग्रहाणायेति ॥ ३ ॥

अथेदानीमर्थं निराकरिष्यताऽवयव्युपपाद्यते,—

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥ ४ ॥

सदसतीरुपलम्भाद्विद्या द्विविधा, सदसतीरनुपलम्भादविद्याऽपि द्विविधा, उपलभ्यमानेऽवयविनि विद्याद्वैविध्यात्

अवयविनि तत्त्वयादिशरीरे, अभिमानः परिष्कारबुद्धिः, तन्निमित्तं रागाऽऽदिनिमित्तम् ; तथा च, सा बुद्धिर्हेया । अत एव भाष्याऽऽदौ परिष्कारबुद्धिरनुरञ्जनसंज्ञा, सा हेया ; दोषदर्शनमशुभसंज्ञा, सा भावनीयेति । अनुरञ्जनसंज्ञा यथा,—“खेलत् खञ्जननयना परिणतविस्वाधरः पृथुशोषी । कमलमुकुलस्तनीयं पूर्णन्दुसुखी सुखाय मे भविता ॥” इति । अशुभसंज्ञा यथा,—“चर्मनिमित्तपावीयं मांसाच्छक्पूय-पूरिता । अस्यां रज्यति यो मूढः पिशाचः कस्तोऽधिकः ? ॥” स्वशरीराऽऽदौ अप्यशुभसंज्ञैव भावनीया ; एवं कोपनीयेऽपि शुभसंज्ञा । “मां देव्यसौ दुराचार दुष्टो निष्ठुरचेष्टितः । कण्ठपीठं कुठारिण क्लिप्ताऽस्य स्यां सुखी कदा ? ॥” अशुभसंज्ञा तु,—“मांसाच्छक्कीकसमयो देहः किं मेऽपराध्यति । एतस्मादपरः कर्त्ता कर्त्तनीयः कथं भया ॥” इति ॥ ३ ॥

समामं तत्त्वज्ञानीत्यन्तिप्रकरणम् ।

अथ प्रसङ्गादवयवविप्रकरणम् ; वस्तुतस्तु शरीरे धर्मद्वयस्य सत्त्वमेऽपि एकं ध्येयमपरं हेयमिति निर्युक्तिकम्, अतोऽवयवौ नास्ति, किन्तु परमाणुपुञ्ज इति तत्त्वं, तदेव तन्मसुचुभिर्भावनीयम् ; परमाणुपुञ्ज इत्यप्यापाततः परमाणोरप्यथे निराकरिष्यमाणत्वादिति सौमन्यशङ्कासमाकर्तुमयमारम्भः । अद्यपि द्वितीयाध्याये

संशयः, अनुपलभ्यमाने चाविद्याहेविध्यात् संशयः ; सोऽयम-
वयवी यद्युपलभ्यते, अद्यापि नोपलभ्यते, न कथञ्चन संश-
यात् मुच्यत इति ॥ ४ ॥

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥

तस्मिन्ननुपपन्नः संशयः ; कस्मात् ?—पूर्वोक्तहेतूनाम-
प्रतिषेधात्, अस्ति द्रव्यान्तराऽऽरम्भ इति ॥ ५ ॥

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि संशयानुपपत्तिः ॥ ६ ॥

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि संशयानुपपत्तिर्नास्ति अवयवीति ॥ ६ ॥

तद्विभजते,—

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥

एकैकोऽवयवो न तावत् कृत्स्नोऽवयविनि वर्तते, तयोः
परिमाणभेदादवयवान्तरसम्बन्धाभावप्रसङ्गाच्च । नाप्यवयव्यैक-
देशेन, न ह्यस्यान्योऽवयवा एकदेशभूताः सन्तीति ॥ ७ ॥

व्यवस्थापित एवावयवौ, तथाऽपि स्वयुक्तिदार्ढ्येन सौवान्तिकस्य वैभाषिकस्य चाव-
प्रत्यवस्थानमिति ; तव संशयप्रदर्शनाय सूत्रम् ।—संशय इत्यस्य अवयविनीत्यादिः,
अवयविनः प्रत्यवस्थितत्वात् तदपलापो दुःशक्यः, इत्यत उक्तं विद्येति ।—प्रमाणभेदेन
ज्ञानहेविध्यात् ज्ञानत्वक्षणसाधारणधर्मदर्शनात् ज्ञाने प्रामाण्यसंशयादवयविनि
संशय इत्यर्थः ॥ ४ ॥

समाधत्ते ।—तवावयविनि, न संशयः, पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् द्वितीयाध्यायीक-
युक्तिभिरवयविनः प्रकर्षेण सिद्धत्वात् ॥ ५ ॥

अवयविनि बाधकं शङ्कते ।—अपिरवधारणे ; तर्हि संशयानुपपत्तिर्वृत्त्यनुप-
पत्तितोऽवयव्यभावादेव स्यादित्यर्थः । वृत्त्यनुपपत्तिं विवृणोति भाष्यकारः,—कृत्स्नैक-
देशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः । अवयवौ हि एकैकावयवे कार्त्स्न्येन एकदेशेन
वा ?—नाऽऽद्यः, विषमपरिमाणत्वात् ; अन्येऽपि तेनैवावयवेनात्येन वा ?—नाऽऽद्यः,
स्वस्मिन् वृत्तिविरोधात् ; नास्त्यः, अवयवान्तरस्यावयवान्तरावृत्तेः । तथाऽपि कथमवयव्य-
भाव इत्यत्र भाष्यम् ;—तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः, तेषु अवयवेषु, पूर्वोक्तयुक्त्या अभावाद्
वयवौ नास्ति, न ह्यसाववृत्तिस्तत्राऽभ्युपेयत इति भावः । सचमेवेदमित्यपि वदन्ति ॥ ६ ॥

अथावयवेष्वेवावयवी वर्त्तते,—

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥

न तावत् प्रत्यवयवं वर्त्तते, तयोः परिमाणभेदात् द्रव्यस्य
चैकद्रव्यत्वप्रसङ्गात् । नाप्येकदेशेन सर्वेषु, अन्यावयवाभावात्,
तदेवं युक्तः संशयो नास्त्यवयवीति ॥ ८ ॥

पृथक्चावयवभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥

पृथक् चावयवभ्यः, धर्मिभ्यो धर्मस्याग्रहणादिति समा-
नम् ॥ ९ ॥

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥

॥ १० ॥

एकस्मिन् भेदाभावाद्भेदशब्दप्रयोगानुपपत्त-

रप्रश्नः ॥ ११ ॥

किं प्रत्यवयवं कस्मिन्नावयवी वर्त्तते ?—अथैकदेशेन ? इति
नोपपद्यते प्रश्नः ; कस्मात् ?—एकस्मिन् भेदाभावाद्भेदशब्द-

नन्वास्मादवृत्तिरेवावयवी, इति शङ्कायां पूर्वपक्षिपूर्वम् ।—अवयवभ्यः पृथक्,
अवयवी नास्तीति शङ्का । तेषु चावृत्तेरित्यस्य सूत्रत्वे अवयव्यभाव इत्यनुवर्त्तते ;
कुतः ?—अवृत्तेः ; इत्यभावेऽवयविनी नित्यत्वप्रसङ्गः, न च नित्योऽवयव्युपलभ्यते, ततो
नास्त्येवावयवीति भावः ; यदा,—कस्मैकदेशाभ्यामवयवी न वर्त्तते, किन्तु स्वरूपेणैवेति
शङ्कायां पूर्वपक्षिणः सूत्रं पृथगिति ।—अवयवभ्यः पृथगवयवी नास्ति ; कुतः ?—अवृत्तेः
अवृत्तित्वप्रसङ्गात् ; तथा सति नित्यं स्यादिति भावः । कश्चित्,—“अवयवातिरिक्ती-
ऽवयवी वर्त्ततानित्यत्वं पूर्वपक्षिणः सूत्रं पृथगिति ।—पूर्वोक्तयुक्त्याऽवयवभ्यः पृथगवयव्युत्तेः ॥ ९ ॥

नन्ववयवावयविनी सादात्म्यमेव सम्बन्धः स्यादवाऽऽह ।—न हि तन्तुः पटः, सन्धी
वृष्टमिति कश्चिन्नप्येति, न वाऽभेदेनाऽऽधाराऽऽधेयभाव उपपद्यते ॥ १० ॥

सिद्धात्पूर्वम् ।—अवयवी कार्त्तरेण एकदेशेन वा वर्त्तत इति प्रश्नी न
युक्तः, एकस्मिन्नवयविनि, भेदाभावाद्भेदनिमित्तशब्दप्रयोगस्यायुक्तत्वात् ; अनेकसा-

प्रयोगानुपपत्तेः । कृत्स्नमित्यनेकस्याशेषाभिधानम्, एकदेश इति न ज्ञात्वे कस्यचिदभिधानम् ; ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दो भेद-
त्रिष्वयौ नैकस्मिन्नवयविन्युपपद्यते भेदाभावादिति ॥ ११ ॥

अन्यावयवराभावाच्चैकदेशेन वर्त्तत इत्यहेतुः,—

अवयवान्तरभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥

अवयवान्तराभावादिति । यद्यप्येकदेशोऽवयवान्तरभूतः स्यात्,
तथाऽप्यत्रयवेऽवयवान्तरं वर्त्तत, नावयवोति ; अन्यावयव-
भावेऽप्यवृत्तेरवयविनो नैकदेशेन वृत्तिरन्यावयवराभावादित्य-
हेतुः । वृत्तिः कथमिति चेत् ?—एकस्यानेकत्राऽऽश्रयाऽऽश्रित-
संस्तम्भलक्षणा प्राप्तिः । आश्रयाऽऽश्रितभावः कथमिति चेत् ?—
यस्य यतोऽन्यत्राऽऽत्मलाभानुपपत्तिः, स आश्रयः ; न कारण-
द्रव्येभ्योऽन्यत्र कार्यद्रव्यमात्मानं लभते, विपर्ययस्तु कारण-
द्रव्येऽस्मिन्नि । नित्येषु कथमिति चेत् ?—अनित्येषु दर्शनात्
सिद्धम् । नित्येषु द्रव्येषु कथमाश्रयाऽऽश्रयिभाव इतीति चेत् ?—
अनित्येषु द्रव्यगुणेषु दर्शनादाश्रयाऽऽश्रितभावस्य नित्येषु
ल्लिङ्गिरिति । तस्मादवयव्यभिमानः प्रतिषिध्यते निःश्रेयस-
कामस्य, नावयवी ; यथा रूपाऽऽदिषु मिथ्यासङ्ख्या, न
रूपाऽऽदय इति ॥ १२ ॥

शेषता हि कारणं, समुदायिनां किञ्चित्त्वनेकदेशत्वं, न चेकस्य तत्त्वभाव इति
भावः ॥ ११ ॥

इतश्च वृत्तिविकल्पो न युक्त इत्याह ।—अवयवी स्वावयवेषु नैकदेशेन वर्त्तते,
अवयवान्तराभावादिति यः परेषां हेतुः, स न युक्तः ; कुतः ?—अवयवान्तरभावेऽप्य-
वृत्तेः ; अवयवान्तरसत्त्वेऽपि तस्येव परं वृत्तिरायाति, न त्ववयविनोऽपीति ; यथा,—
अवयववर्त्तनाभावस्य, कृत्स्नैकदेशविकल्पो न हेतुः ; कुतः ?—अवयवान्तरस्य अवयवि-
भित्तस्य अवयवस्य, भावेऽपि सत्त्वेऽपि, सत्त्वात् घटत्वाऽऽदिषु, स्वरूपेणैवावयविनो वृत्तेः
सम्भवात् वृत्तेः ; कृत्स्नैकदेशान्तरनिवर्त्तनी घटत्वाऽऽदी व्यभिचार्यमधीककथेति भावः ॥ १२ ॥

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेरिति प्रत्यवस्थितोऽप्येतदाह,—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत् तदुपलब्धिः ॥ १३ ॥

यथैकैकः केशस्तैमिरिकेण नोपलभ्यते, केशसमूहस्तूप-
लभ्यते, तथैकैकोऽणुर्नोपलभ्यते, अणुसञ्चयस्तूपलभ्यते, तदिद-
मणुसमूहविषयं ग्रहणमिति ॥ १३ ॥

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्-
विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥ १४ ॥

यथाविषयमिन्द्रियाणां पटुमन्दभावाद्द्विषयग्रहणानां पटु-
मन्दभावो भवति, चक्षुः खलु प्रकथ्यमाणं नाविषयं गन्धं
गृह्णाति, निकथ्यमाणञ्च न स्वविषयात् प्रच्यवते, सोऽयं तैमि-
रिकः कश्चिच्चतुर्विषयं केशं न गृह्णाति, कश्चित् गृह्णाति
केशसमूहम्, उभयं ह्यतैमिरिकेण चक्षुषा गृह्यते, परमाणव-
स्त्वतीन्द्रिया इन्द्रियाविषयौभूता न केनचिद्विषयेण गृह्यन्ते,
समुदितास्तु गृह्यन्ते, इत्यविषये प्रवृत्तिरिन्द्रियस्य प्रसज्येत, न
जात्यर्थान्तरमणुभ्यो गृह्यत इति ; तं खल्विमे परमाणवः
संहिताः (न) गृह्यमाणा अतीन्द्रियत्वं जहति, विद्युक्ताद्या-
गृह्यमाणा न अतीन्द्रियत्वं जहति इति ; साऽयं द्रव्यान्तरानु-
त्पत्तावतिसहान् व्याघातः, इत्युपपद्यते द्रव्यान्तरं, यत् ग्रहणस्य

“तदसंशयः पूर्वहेतुपसिद्धत्वात्” इत्यनेन “सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः” इति पूर्वोक्त-
युक्तिः स्मारिता, पूर्वपक्षो तां दूषयितुमुपक्रमते ।—यथा तैमिरिकस्य तिमिरगतचक्षुषो
नैकः केशः प्रत्यक्षः, किन्तु तत्समूहः ; एवमेकः परमाणुरप्रत्यक्षः, तत्समूहस्यो घटाऽऽदिः
प्रत्यक्षः स्यात् ॥ १३ ॥

उत्तरवृत्तिः—इन्द्रियाणां पादवे विषयग्रहणस्य पादवं प्रकर्षः, इन्द्रियाणां
मान्यं तद्ग्रहणस्य मान्यमपकर्षः, न तु पटुतरं चक्षुः शब्दं गृह्णाति ; तदिदमुक्तं,—

(न) अथ “संहिता” इत्यपि पाठः ।

विषय इति । सञ्चयमात्रं विषय इति चेत्, न, सञ्चयस्य संयोगभावात् ; तस्य चक्षुर्निद्रियस्याश्रयत्वादेयुक्तम् ; सञ्चयः स्वस्वनेकस्य संयोगः, स च गृह्यमानोऽऽश्रयो गृह्यते, नातोन्द्रियाऽऽश्रयः ; भवति ह्रीदमनेन संयुक्तमिति, तस्मादयुक्तमेतदिति । गृह्यमाणास्य चेन्द्रियेण विषयस्याऽऽवरणाद्यनुपलब्धिकारणमुपलभ्यते ; तस्मान्नेन्द्रियदीर्घत्वादनुपलब्धिरणूनाम् ; यथा,—नेन्द्रियदीर्घत्वाच्चक्षुषाऽनुपलब्धिर्गन्धाऽऽदीनामिति ॥ १४ ॥

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥

यः स्वस्ववयविनोऽवयवेषु वृत्तिप्रतिषेधादभावः, सोऽयमवयवस्यावयवेषु प्रसज्यमानः सर्वप्रलयाय वा कल्पेत ? निरवयवाद्वा परमाणुतो निवर्त्तते ? उभयथा चोपलब्धिविषयस्याभावः, तदभावादुपलब्धिभावः, उपलब्ध्याश्रयश्चायं वृत्तिप्रतिषेधः, स आश्रयं व्याप्नोतीत्युक्तोताय कल्पेत इति ॥ १५ ॥

अथापि,—

न प्रलयोऽणुसङ्गावात् ॥ १६ ॥

अवयवविभागमाश्रित्य वृत्तिप्रतिषेधादभावः प्रसज्यमानो निरवयवात् परमाणोर्निवर्त्तते, न सर्वप्रलयाय कल्पते, निरवयवत्वन्तु खलु परमाणोर्विभागैरल्पतरप्रसङ्गश्च, यतो नास्तीय-

स्वविषयानतिक्रमेण इति । प्रकृताद्येमाह, नाविषये प्रवृत्तिरिति ।—तथा च, स्वाविषयं परमाणुं समूहत्वाऽऽपन्नमपि कथं चक्षुर्गृह्णीयात् ? इति भावः ॥ १४ ॥

दीर्घान्तराभिधानाय सूत्रम् ।—एवमुक्तप्रकारेण, हतिविकल्पदीर्घोऽवयवविवक्षयवे च प्रसक्तं वा प्रलयात् ; प्रलयोऽभावः ; तथा च सर्वाभाव एव स्यात्, न कस्यापि यद्वृत्तिमिति साधुते,—“सर्वायद्वयमवयवसिद्धेः” इति ॥ १५ ॥

अस्तु सर्वाभावः, इत्यत्राऽऽह ।—आश्रयनाशायभावेन परमाणोर्नाशभावेन तत्सम्भवात् ; यथा,—नन्ववयवावयविप्रवाहस्तथा प्रलयपथेन स्वीकार्यः, प्रलये च

स्तत्रावस्थानात् ; लोष्टस्य खलु प्रविभज्यमानावयवस्याल्पतर-
मल्पतममुत्तरमुत्तरं भवति ; स चायमल्पतरप्रसङ्गः यस्मान्नाल्प-
तरमस्ति, यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्तते, यतश्च नाल्पोऽस्ति, तं
परमाणुं प्रचक्ष्महे इति ॥ १६ ॥

परं वा चुटेः ॥ १७ ॥

अवयवविभागस्यानवस्थानाद्व्याणामसङ्ख्येयत्वात् चुटि-
निवृत्तिरिति ॥ १७ ॥

अथेदानीमानुपलम्बकः सर्वं नास्तीति मन्यमान आह,—

आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥

तस्याणोर्निरवयवस्यानुपपत्तिः ; कस्मात् ?—आकाशव्यति-
भेदात् । अन्तर्वह्निष्वाणुराकाशेन समाविष्टो व्यतिभिन्नः,
व्यतिभेदात् सावयवः, सावयवत्वादित्य इति ॥ १८ ॥

आकाशासर्वगतत्वं वा ॥ १९ ॥

अथैतन्नेष्यते, परमाणोरन्तर्नास्त्याकाशमित्यसर्वगतत्वं प्रस-
ज्यत इति ॥ १९ ॥

निखिलपृथिव्यादिनाशान् पुनः सर्गो न स्यादित्याशयेन शङ्कते,—अवयवैव ।
समाधत्ते, नेति ।—न सकलपृथिव्यादिनाशः, परमाणुसङ्गादित्यर्थः ॥ १९ ॥

परमाणुरेव कः ? इत्यवाऽऽह ।—चुटेः परं यदतिमूर्च्छं, तत्परमाणुः । वाशब्दोऽव-
धारणे; अथवा,—चुटेरवयववक्तव्यकी वा परमाणुरिति विकल्पार्थो वाशब्दः ; यद्वा,—
चुटेः परं मूर्च्छं परमाणुः, चुटादेव वा विश्राम इति विकल्पोऽभिमतः ॥ २० ॥

समाप्तमवयववयवविप्रकरणम् ।

अथ विश्वस्य सृष्टत्वात् कः परमाणुसंभावना ? इति सतनिराकरणाय निरवयवप्रका-
रणम् ; तत्र पूर्वपक्षमृतम् ।—तस्य निरवयवस्याणोः, अनुपपत्तिः ; कुतः ?—आकाश-
व्यतिभेदात् अन्तर्वह्निष्वाऽऽकाशसमावेशात् ; तथा च सावयवः, ततश्चानित्य इति ॥ २० ॥

अथ नाऽऽकाशव्यतिभेदः, तर्हि आकाशसर्वगतं स्यादित्यह ।—स्यादिति
शेषः ॥ २१ ॥

अन्तर्वहिश्व कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनाद-
कार्ये तदभावः ॥ २० ॥

अन्तरिति पिहितं कारणान्तरैः कारणमुच्यते, वह्निरिति
च व्यवधायकमव्यवहितं कारणमेवोच्यते, तदेतत्कार्यद्रव्यस्य
सम्भवति, नाणोः, अकार्यत्वात्; अकार्यं हि परमाणवन्तर्वह-
रित्यस्याभावः । यत्र चास्य भावः,—अणुकार्यं तत्, न परमाणुः;
यतो हि नाल्पतरमस्ति, स परमाणुरिति ॥ २० ॥

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥

यत्र कचिदुत्पन्नाः शब्दा विभवन्त्याकाशे, तदाश्रया भवन्ति;
मनोभिः परमाणुभिस्तत्कार्यैश्च संयोगा विभवन्त्याकाशे,
नासंयुक्तमाकाशेन किञ्चिन्मूर्तद्रव्यमुपलभ्यते, तस्मात्सर्व-
गतमिति ॥ २१ ॥

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाऽऽकाशधर्माः ॥ २२ ॥

संयताप्रतिघातिना द्रव्येण न व्यूह्यते, यथा काष्ठेनोदकम्;
कस्मात् ?—निरवयवत्वात् । सपेच्च प्रतिघाति द्रव्यं न विष्ट-
म्भाति, नास्य क्रियाहेतुं गुणं प्रतिबध्नाति; कस्मात् ?—अस्यर्श-
त्वात्; विपर्यये हि विष्टम्भो दृष्ट इति; स भवान् स्पर्शवति

समाधत्ते ।—अन्तःशब्दो वहिःशब्दश्च कार्यद्रव्यसावयवविशेषवाचो, न
चाकार्येऽवयवसम्भव इत्यर्थः । वह्निरिति दृष्टान्ताद्यम् ॥ २० ॥

आकाशस्यासर्वगतत्वं सादित्यत्राऽऽह ।—शब्दस्य संयोगस्य च यो विभवः, यथावा,—
शब्दजनकमभिघातसंयोगस्य यो विभवः साविकल्पं, तस्मात्, पुनः सर्वगतम्,
आकाशमिति शेषः; सर्वदेशे शब्दोत्पत्त्या तज्जनकसंयोगानुमानात् सर्वमूर्तसंयोगित्व-
रूपसर्वगतत्वं तस्य सिद्धम् ॥ २१ ॥

आकाशस्य सर्वसंयोगित्वे व्यूहविविष्टम्भी स्याताम्, अत आह ।—व्यूहः प्रतिघतस्य
सरावर्त्तनं, विष्टम्भ उच्चरदेशगतिप्रतिबन्धः, आकाशे यथोरभावः निष्पञ्चलात्; विभुत्वं

द्रव्ये दृष्टं धर्मं विपरोतिं नाऽऽशङ्कितुमर्हति, अण्ववयवस्याणु-
तरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेधः ; सावयवत्वे चाणोरण्ववयवो-
ऽणुतर इति प्रसज्यते ; दस्मात् ?—कार्यकारणद्रव्ययोः परि-
माणभेददर्शनात् ; तस्मादण्ववयवस्याणुतरत्वम् । यस्तु
सावयवः, अणुकार्यं तदिति, तस्मादणुकार्यमिदं प्रतिषिध्यत
इति । कारणविभागाच्च कार्यस्थानित्यत्वं, नाऽऽकाशव्यातिभेदात् ;
लोष्टस्यावयवविभागादनित्यत्वं, नाऽऽकाशसमावेशादिति ॥ २२ ॥
मूर्तिमताश्च संस्थानोपपत्तेरवयवसङ्गावः ॥ २३ ॥

परिच्छिन्नानां हि स्पर्शवतां संस्थानं त्रिकोणं चतुरस्रं समं
परिमण्डलमित्युपपद्यते, यत् तत्स्थानं, सोऽवयवसन्निवेशः ;
परिमण्डलाद्याणवः, तस्मात् सावयवा इति ॥ २३ ॥

संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ॥

मध्ये सन्नणुः पूर्वापराभ्यामणुभ्यां संयुक्तस्तयोर्व्यवधानं
कुर्वते, व्यवधानेनानुमोयते,—पूर्वभागेण पूर्वेणानुना संयुज्यते,
परभागेणापरेणानुना संयुज्यते इति ; यौ तौ पूर्वापरौ भागौ,
तावस्यावयवौ ; एवं सर्वतः संयुज्यमानस्य सर्वतोभागा अवयवा
इति । यत्तावन्मूर्तिमतां संस्थानोपपत्तेरवयवसङ्गाव इति, अत्रो-
क्तम् ; किमुक्तम् ?—विभागात्पतरप्रसङ्गश्च, यतो नाल्पीयस्तत्र
सर्वगतत्वम् ; यद्येते मूले शून्यतावादिभवे न सङ्गच्छन्ते आकाशादेकैरनभ्युपगमात्,
तथाऽपि त्वन्यत इति पूराद्यत्वा व्याख्येयं ॥ २२ ॥

पूर्वपक्षी युक्ततरमाशङ्कते ।—परमाचोरिति शब्दः । हेतुमत्त्वं,—संस्थानोपपत्तेः
संस्थानवत्त्वात्, परमाचूर्णं परिमण्डलऽऽकारः । संस्थानवत्त्वे मानं भङ्गा वदति,
मूर्तिमतामिति ।—मूर्तत्वात् संस्थानवत्त्वमित्यर्थः । च पूर्वोक्तहेतुं सन्निधेयमिति,
मूर्तत्वस्य हेतुत्वसमुच्चयार्थो वा चकारः ॥ २३ ॥

युक्ततरमाह ।—अवयवसङ्गाव इत्यनुवर्तते । संयोगवत्त्वादिति हेत्वर्थः ; संयोग-
वत्त्वात् कथं सावयवत्वम् ? इति चेत्, इत्थं संयोगस्याव्याप्यवत्त्वानात्, अव्याप्यवत्त्वाना

निवृत्तेरखवयवस्य चाणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेध इति ।
यत् पुनरेतत् संयोगोपपत्तेश्चेति, स्पर्शवत्त्वाद्वावधानमाश्रयस्य
चाव्याख्या भागभक्तिः ; उक्तञ्चात्र—स्पर्शवानणुः, स्पर्शवतोरखोः
प्रतिष्ठाताद्वावधायकः, न सावयवत्वात्, किन्तु स्पर्शवत्त्वात् ;
स्पर्शवत्त्वाच्च व्यवधाने सत्त्वणुसंयोगो नाऽऽश्रयं व्याप्नोतीति
भागभक्तिर्भवति ; भागवानिवायमिति, उक्तञ्चात्र—विभागेऽल्प-
तरप्रसङ्गश्च, यतो नाल्पीयस्तत्रावस्थानात् तदवयवस्य
चाणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेध इति ॥ २४ ॥

मूर्त्तिमताच्च संस्थानोपपत्तेः संयोगोपपत्तेश्च परमाणूनां
सावयवत्वमिति हेत्वोः,—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थाऽनुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ २५ ॥

यावन्मूर्त्तिमत्, यावच्च संयुज्यते, तत्सर्वं सावयवमित्यनवस्था-
कारिणाविमौ हेतू, सा चानवस्था नोपपद्यते, सत्यामवस्थायां
सत्यौ हेतू स्याताम् ; तस्मादप्रतिषेधोऽयं निरवयवत्वस्येति ।
विभागश्च विभज्यमानहानिर्नोपपद्यते, तस्मात् प्रलयान्तता नोप-
पद्यत इति ; अनवस्थायाश्च प्रत्यधिकरणं द्रव्यावयवानामान-
न्यात् परिमाणभेदानां गुरुत्वस्य चाग्रहणम् ; समानपरिमाणत्वं
चावयवावयविनोः परमाणववयवविभागादूर्ध्वमिति ॥ २५ ॥

वच्छेदकभेदं विना नोपपद्यते, अवच्छेदकसावयव इति । ननु परमाणववयवेऽप्यर्थं
दीपः स्नातः, तथा चानवस्थितपरम्पराप्रसङ्ग इति चेत्, त्वैव तर्हि परमाणुव्यसनं,
सौकुल्यं शून्यतावादं, निरवयवमाकाशाऽऽदिकमपि नास्तीति भावः ॥ २६ ॥

समाधत्ते ।—पूर्वोक्तयुक्त्या परमाणोर्निरवयवत्वप्रतिषेधो न युक्तः ; कुतः ?—
अनवस्थाकारित्वात् । प्रमाणिकीयमनवस्था स्यादत आह, अनवस्थाऽनुपपत्तेश्चेति ।—
सर्वेषामनवस्थितावयवत्वे मेरुसर्वपर्योक्त्यपरिमाणत्वाऽऽपत्तिः ; इत्यत्र तत्त्वयोगावच्छे-
दिकादिग्विभागा, न वा शून्यतायुक्ता निष्प्रमाणत्वात्, प्रमाणसत्त्वे शून्यत्वविरोधात्,
निष्प्रमाणकशून्यताऽभ्युपगमे किमपराङ्गं पूर्यतया ? इति दिक् ॥ २५ ॥

समाधत्ते ।—निरवयवप्रसङ्गम् ।

वदिदं भवान् बुद्धोराश्रित्य बुद्धिविषयाः सन्तीति मन्यते,
मिथ्याबुद्धय एताः ; यदि हि तत्त्वबुद्धयः स्युः, बुद्ध्या विवेचने
क्रियमाणे याथात्म्यं बुद्धिविषयाणामुपलभ्येत,—

बुद्ध्या विवेचनात् भावानां याथात्म्यानुप-
लब्धिस्तत्त्वपकर्षणे पटसङ्गावानुपलब्धिवत् तदनुप-
लब्धिः ॥ २६ ॥

यथाऽयं तन्तुरयं तन्तुरिति प्रत्येकं तन्तुषु विविच्यमानेषु
नार्थान्तरं किञ्चिदुपलभ्यते, यत्पटबुद्धेर्विषयः स्यात्, याथात्म्या-
नुपलब्धेः असति विषये पटबुद्धिर्भवतीति मिथ्याबुद्धिर्भवति ;
एवं सर्वमेति ॥ २६ ॥

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥

यदि बुद्ध्या विवेचनं भावानां, न सर्वभावानां याथात्म्यानु-
पलब्धिः ; अथ सर्वभावानां याथात्म्यानुपलब्धिः, न बुद्ध्या विवे-
चनं भावानाम् ; बुद्ध्या विवेचनं याथात्म्यानुपलब्धिश्चेति व्याह-
न्यते ; तदुक्तम्,—“अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात्” इति ॥ २७ ॥

ननु बाह्याभावात् कुतोऽवयवावयविविव्यवस्था ? इति सतमपाकर्तुं बाह्यार्थभङ्ग-
निराकरणमारभते । प्रमेयत्वं ज्ञानत्वव्याप्यं न वेति संशयः, तत्र पूर्वपक्षमूढम् ।—तु
प्रकरणविच्छेदाद्यः ; भावानां बुद्ध्या विवेचनादभेदोक्तेखात्, याथात्म्यस्य ज्ञानभेद-
लक्ष्यस्य, अनुपलब्धिरनुपपत्तिः ; घट इति ज्ञानं समं जातमिति ह्यनुभूयते, तत्र घट
इति ज्ञानमित्यनेन ज्ञानघटयोरभेद उल्लिख्यते, ततो न ज्ञानातिरिक्तो विषयः ;
अथा पटे विविच्यमाने तन्तूनामेवापकर्षणादावतिरिक्तं न वन्तु, एवं तन्तुरपि
जाड्यव्यतिरिक्त इति ; घटत्वाऽऽदिष्वु ज्ञानस्वेवाऽऽकारविशेष इति भावः ॥ २६ ॥

समाधत्ते ।—उक्तो हेतुर्न युक्तः, व्याहतत्वात् ; न हि बुद्ध्या विवेचने पटस्य तन्तुरूपता
सिद्ध्यति, तन्तुतः पट इति हि प्रतीयते, न तु तन्तुः पट इति ; एवं पटेन प्रावरणं, न
तु तन्तुभिः ; किञ्च, तन्तुपटविवेचनादेव बाह्यार्थसिद्धिः, ज्ञानेन तु स्वस्मिन् पटाभेदो
नोपलब्धते, साविषयकत्वात् ; अनुव्यवसायेन तु पटविषयकत्वं व्यवसाये समुल्लिख्यते ॥ २७ ॥

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥

कार्यद्रव्यं कारणद्रव्याऽऽश्रितं, तत् कारणेभ्यः पृथङ्नोप-
लभ्यते, विपर्यये पृथग्ग्रहणात् ; यत्राऽऽश्रयाऽऽश्रितभावो
नास्ति, तत्र पृथग्ग्रहणमिति ; बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां
पृथग्ग्रहणमतीन्द्रियेष्वणुषु ; यदिन्द्रियेण गृह्यते, तदेतया बुद्ध्या
विविच्यमानमन्यदिति ॥ २८ ॥

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ॥ २९ ॥

बुद्ध्या विवेचनाद्भावानां याथात्म्योपलब्धिः । यदस्ति,
यथा च, तत् सर्वं प्रमाणत उपलब्ध्या सिध्यति, या च
प्रमाणत उपलब्धिः, तत् बुद्ध्या विवेचनं भावानाम् ; तेन सर्व-
शास्त्राणि सर्वकर्माणि सर्वे च शरीरिणां व्यवहारा व्याप्ताः ।
परोक्षमाणो हि बुद्ध्याऽध्यवस्यति इदमस्तीदं नास्तीति ; तत्र
न सर्वभावानुपपत्तिः ॥ २९ ॥

प्रमाणोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥

एवञ्च सति सर्वं नास्तीति नोपपद्यते ; कस्मात् ?—प्रमाणो-
पपत्त्यनुपपत्तिभ्याम् ; यदि सर्वं नास्तीति प्रमाणमुपपद्यते,

ननु तन्मुपपत्तिर्भेदं पाथक्येन यत्तच्च स्वादित्येवाऽऽह ।—पृथग्ग्रहणं, यदि तत्त्व-
विषयकप्रत्यक्षविषयत्वं पटस्याऽऽपाद्यते । तत्रोत्तरं, तदाश्रयत्वादिति ।—पटा हि
तत्त्वान्वितः, तेन सामर्थ्योत्पत्त्यात्पटप्रत्यक्षस्य तन्मुविषयकत्वं यदि च भेदप्रत्यक्षं चापाद्यते,
तदा भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

ननु ज्ञानस्योभयवादिस्तिष्ठत्वात् तन्मात्रपटाद्येकत्वेन स्थापनात् तदतिरिक्तपटादीनां
भावसिद्धिः स्वादित्यत आह ।—पूर्वोक्तहेतुं समुच्चिनीति प्रकारः, चक्षुष्यपटादिः,
प्रतिपत्तेः प्रमाणाधीनत्वात् ; तथा च प्रामाणिकेऽर्थे गौरवं न वाचकमिति भावः,
अन्यथा ज्ञानमपि न सिध्येद्वैरवाऽऽदिशून्वताऽऽपत्तिः ॥ ३१ ॥

न वा वास्तव्यभावासाधनं संभवतीत्याह ।—व्याघातात् वास्तव्यभावं इति
शेषः । वास्तवं नास्तीत्यत्र यदि प्रमाणमस्ति, तदा प्रमाणस्य वास्तव्यं सत्त्वात् वास्तव्य-

सर्वं नास्त्येतद्वाहन्यते ; अथ प्रमाणं नोपपद्यते, सर्वं
नास्त्येत्यस्य कथं सिद्धिः ?—अथ प्रमाणमन्तरेण सिद्धिः ; सर्व-
मस्त्येत्यस्य कथं न सिद्धिः ? ॥ ३० ॥

स्वप्नाविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥ ३१ ॥

यथा स्वप्ने न विषयाः सन्ति, अथ चाभिमानो भवति,
एवं न प्रमाणानि प्रमेयाणि च सन्ति, अथ च प्रमाणप्रमेयाभि-
मानो भवति ॥ ३१ ॥

मायागन्धर्वनगरमृगटुष्णिकावहा ॥ ३२ ॥

हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥

स्वप्नान्ते विषयाभिमानवत् प्रमाणप्रमेयाभिमानः, न पुन-
र्जागरितान्ते विषयोपलब्धिवत्, इत्यत्र हेतुर्नास्ति, हेत्वभावाद-
सिद्धिः ; स्वप्नान्ते चासन्तो विषया उपलभ्यन्त इत्यत्रापि
हेत्वभावः, * प्रतिबोधेऽनुपलब्धादिति चेत्, प्रतिबोधविषयोप-
लब्धादप्रतिषेधः । * यदि प्रतिबोधेऽनुपलब्धात् स्वप्ने विषया न
सन्तीति, तर्हि इमे प्रतिबुद्धेन विषया उपलभ्यन्ते, उपलब्धात्
सन्तीति ; विपर्यये हि हेतुसामर्थ्यम्, उपलब्धाभावे सत्यनुप-
लब्धादभावः सिध्यति, उभयथा त्वभावे नानुपलब्धस्य सामर्थ्य-

भावः, ; अथ नास्ति, तदा निष्प्रमाणकत्वाच्च तत्सिद्धिरित्यर्थः ; किञ्च, घटाऽऽदौ यदि
प्रमाणमस्ति, तदा तत्र एव वाङ्मार्गसिद्धिः ; अथाप्रमाणं, तदा कथं घट इति ज्ञानस्य
घटाऽऽकारत्वं मत्स्ये ? ज्ञानस्यवानुत्पत्तेरिति ॥ ३० ॥

ननु प्रमाणप्रमेयव्यवहारो न पारमार्थिकः, परन्तु विज्ञानानि तत्तदाकाराणि
वासनापरिपाकवशादेव स्वाप्नप्रत्ययवदेन्द्रजालिकप्रतीतिवत्वाऽऽविर्भवन्तीत्याशयेन शङ्कते
सूत्राभ्याम् ।—अप्यष्टम् ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

समाचक्षते ।—वाङ्माभावस्यासिद्धिः हेत्वभावात् प्रमाणाभावात् ; अथवा,—हेतो-
श्चतुर्वादेरनभ्युपगमे घटोऽयमित्यादिज्ञानानामसिद्धिरित्यर्थः ; न च वासनावशात्

मस्ति ; यथा प्रदीपस्याभावाद्दीपस्यादर्शकमिति ; तत्र भावे
नाभावः समर्थत इति । * स्वप्नान्तविकल्पे च हेतुवचनम् । *
स्वप्नविषयाभिमानवदिति ब्रुवता स्वप्नान्तविकल्पे हेतुवचनः ;
कश्चित् स्वप्नो भयोपसंहितः, कश्चित् प्रमोदोपसंहितः, कश्चि-
दुभयावपरोतः, कदाचित् स्वप्नमेव न पश्यतीति ; निमित्तवस्तु
स्वप्नविषयाभिमानस्य निमित्तविकल्पादिकल्पोपपत्तिः ॥ ३३ ॥

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥ ३४ ॥

पूर्वोपलब्धो विषयः । यथा स्मृतिश्च सङ्कल्पश्च पूर्वोपलब्ध-
विषयो न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पते, तथा स्वप्ने विषय-
ग्रहणं पूर्वोपलब्धविषयं न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पते ; एवं
दृष्टविषयश्च स्वप्नान्तो जागरितान्तेन ; यः सुप्तः स्वप्नं पश्यति, स
एव जाग्रत् स्वप्नदर्शनानि प्रतिपश्यन्ते—इदमद्राक्षमिति ; तत्र
जाग्रद्बुद्धिर्जाग्रत्तवशात् स्वप्नविषयाभिमानो मिथ्येति व्यवसायः,
सति च प्रतिपत्त्यनेन या जाग्रतो बुद्धिर्वाप्तिः, तद्वशादयं व्यव-
सायः,—स्वप्नविषयाभिमानो मिथ्येति, * उभयाविशेषे तु
साधनाऽऽनर्थक्यम् । * यस्य स्वप्नान्तजागरितान्तयोरविशेषः, तस्य
स्वप्नविषयाभिमानवदिति साधनमनर्थकं, तदाश्रयप्रत्याख्या-
नात् ; अतस्मिंस्तदिति च व्यवसायः प्रधानाऽऽश्रयः, सपुत्रेषु

स्यादिति वाच्यं, वासनाया अतिरिक्तत्वे बाह्योपशतसङ्ख्यात् ; वासनायाः सत्त्वसत्त्व-
तया चाक्षुषादेरपि सन्तानाऽऽवतिरिति दिक् ॥ ३३ ॥

नन्वसद्विषया अहेतुका अपि स्वाप्नप्रत्यया इव भावनाप्रत्यया इव परेऽपि
प्रत्यया भवेयुरित्यत आह ।—पूर्वोपलब्धविषयः इति शेषः । सङ्कल्प उपनीतभानम् ;
यथा कृत्यादिः पूर्वोपलब्धविषयकः, तथा स्वाप्नप्रत्ययोऽपीति न निर्विषयकः । न च
स्वप्ने स्वमपि खादति, निजग्निरःखण्डनमपि पश्यति ; न त्विदं पूर्वोपलब्धमिति
वाच्यं, स्वस्य खादनस्य च निजग्निरसः खण्डनस्य च पूर्वोपलब्धत्वात्, ससर्गभानस्य
च भानत्वात् ; न वाऽहेतुकत्वे कृत्यादिदृष्टान्तेन, संस्कारस्य कृतौ कृतवत् विग्रहः

स्यान्तौ पुरुष इति व्यवसायः, स प्रधानाऽऽश्रयः ; न खलु पुरुषे-
ऽनुपलब्धे पुरुष इत्यपुरुषे व्यवसायो भवति ; एवं स्वप्नविषयस्य
व्यवसायां हस्तिनमद्राचं पर्वतमद्राक्षमिति प्रधानाऽऽश्रयो
भवितुमर्हति ॥ ३४ ॥

एवञ्च सति,—

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविष-
याभिमानप्रणाशवत् प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥

स्यान्तौ पुरुषोऽयमिति व्यवसायो मिथ्योपलब्धिरतस्मिन्-
स्तदिति ज्ञानम् ; स्यान्तौ स्यान्नुरिति व्यवसायस्तत्त्व-
ज्ञानम् ; तत्त्वज्ञानेन च मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्तते, नार्थः
स्यान्नपुरुषसामान्यलक्षणः, यथा प्रतिबोधे या ज्ञानवृत्तिः,
तथा स्वप्नविषयाभिमानो निवर्त्तते, नार्था विषयसामान्यलक्षणः ;
तथा मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकानामपि या बुद्ध्योऽतस्मिन्स्त-
दिति व्यवसायाः, तत्राप्यनेनैव कल्पेन मिथ्योपलब्धिविनाश-
स्तत्त्वज्ञानात्, नार्थप्रतिषेध इति । * उपादानवच्च मायाऽऽदिषु
मिथ्याज्ञानम् । * प्रज्ञापनीयस्वरूपञ्च द्रव्यमुपादाय साधनवान्
परस्य मिथ्याऽव्यवसायं करोति सा माया, नौहारप्रभृतीनां नगर-
स्वरूपसन्निवेशे दूरान्नगरबुद्धिरुत्पद्यते, विपर्यये तदभावात् ;
सूर्यमरीचिषु भौमेनोष्मणा संसृष्टेषु स्रग्दमानेषूदकबुद्धिर्भवति,
सामान्यग्रहणात् अन्तिकस्थस्य, विपर्यये तदभावात् ; क्वचित्
क्वदाचित् कस्यचित्च भावान्निमित्तं मिथ्याज्ञानम् । दृष्टञ्च

बुद्धौ च हेतुत्वस्याभिमतत्वात् ; तत्र भवे दोषः काव्यविशेषोऽदृष्टविशेषोकीधो
वेत्यन्यदेतत् ॥ ३४ ॥

ननु भवस्यापि सविषयकत्वे तत्प्रतिरोधः कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह ।—मिथ्यो-
पलब्धौ नांशान्धर्वनगराऽऽदिज्ञानस्य, तत्त्वज्ञानादनारोपितवस्तुमत्त्वात्, विनाशः

बुद्धिद्वैतं मायाप्रयोक्तुः परस्य च दूरान्तिकस्थयोगिर्भवन्नगर-
मृगदृष्टिकासु, सुप्तप्रतिबुद्धयोश्च स्वप्नविषये ; तदेतत् सर्वस्या-
भावे निरुपाऽऽख्यतायां निरात्मकत्वे नोपपद्यत इति ॥ ३५ ॥

बुद्धेर्बुद्धेऽर्थवदप्रतिषेधः ; कस्मात् ?—निमित्तोपलम्भात् ॥ ३६ ॥

मिथ्याबुद्धेश्चार्थवदप्रतिषेधः ; कस्मात् ?—निमित्तोपलम्भात्,
सङ्गावोपलम्भाच्च । उपलभ्यते मिथ्याबुद्धिनिमित्तम् ; मिथ्याबुद्धिश्च
प्रत्यात्ममुत्पन्ना गृह्यते संवेद्यत्वात्, तस्मात् मिथ्याबुद्धिरप्य-
स्तीति ॥ ३६ ॥

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥ ३७ ॥

तत्त्वं स्थाणुरिति, प्रधानं पुरुष इति, तत्त्वप्रधानयोरलोपा-
द्भेदात् स्थाणौ पुरुष इति मिथ्याबुद्धिरुत्पद्यते, सामान्यग्रहणात् ;
एवं पताकायां बलाकेति, लोष्टे कपोत इति ; न तु समाने
विषये मिथ्याबुद्धीनां समावेशः, सामान्यग्रहणाव्यवस्थानात् ।
यस्य तु निरात्मकं निरुपाऽऽख्यं सर्वं, तस्य समावेशः प्रसज्यते ;

प्रतिरीधी भ्रमत्वज्ञानं वा । एवं स्वप्नप्रत्ययस्यापि दर्पणसुखावधमस्य तत्त्वज्ञानेना-
प्रतिरीधिऽपि भ्रमत्वज्ञानं भवत्येवेति भावः ॥ ३५ ॥

माध्यमिकस्तु वच्छासत्त्वं प्रसाध्य तद्वृष्टान्तेन बुद्धेरप्यसत्त्वं साधयति, तं
प्रत्याह ।—एवं वाच्याबुद्धेरपि न प्रतिषेधः, निमित्तसङ्गावोपलम्भात् सहेतुकत्वस्य
प्रमितत्वात् ; न ह्यलोको सहेतुकं सम्भवति, अहेतुकत्वे च कादाचित्कालव्याप्तीः ।
केचित्तु,—“भ्रमस्य सद्विषयत्वे प्रमात्वं स्यादित्यत्राऽऽह, बुद्धेरिति ।—एवं प्रमात्वं,
निमित्तस्य प्रकारस्य, सङ्गावः सत्त्वं यत्र ; तथा च, शुक्तिरजतयोः सत्यत्वेऽपि शुक्तौ
रजतत्ववैशिष्ट्याभावाच्च तद्बुद्धेः प्रमात्वमिति भावः” इत्याहुः । अथ चोपलम्भापदनमिति
प्रयोजनकम् ॥ ३६ ॥

न वा मिथ्याबुद्धिदृष्टान्तेन ज्ञानमात्रस्यासम्भवात्विषयकत्वं सद्विषयकत्वाभावे
वा सम्भवतीत्याहुः ।—तत्त्वं धर्मस्वरूपप्रधानम् आरोप्यम् ; तथा च भ्रमे चर्चये
प्रमात्वमारोप्य रजतत्वाऽऽद्यं च भ्रमत्वमिति दृष्टान्तांसिद्धिरिति भावः । केचित्तु,—

गन्धाऽऽदौ च प्रमेये गन्धाऽऽदिबुद्ध्यो मिथ्याऽभिमताः, तत्त्व-
प्रधानयोः सामान्यग्रहणस्य चाभावात् तत्त्वबुद्ध्य एव भवन्ति ;
तस्मादयुक्तमेतत् प्रमाणप्रमेयबुद्ध्यो मिथ्येति ॥ ३७ ॥

“दार्ष्टान्तिमत्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः” इत्युक्तमिति ।
अथ कथं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इति ?—

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥

स तु प्रत्याहृतस्योन्द्रयेभ्यः मनसो धारकेण प्रयत्नेन धार्थ्य-
माणस्याऽऽत्मना संयोगस्तत्त्वबुभुक्षाविशिष्टः सति हि तस्मिन्नि-
न्द्रियार्थेषु बुद्ध्यो नोत्पद्यन्ते, तदभ्यासवशात् तत्त्वबुद्धि-
रुत्पद्यते ॥ ३८ ॥

यदुक्तं—“सति हि तस्मिन्निन्द्रियार्थेषु बुद्ध्यो नोत्पद्यन्ते”
इत्येतत्,—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥

अनिच्छतोऽपि बुद्ध्युत्पत्तेर्नैतदयुक्तम् ; कस्मात् ?—अर्थ-
विशेषप्राबल्यात् । अबुभुक्षमानस्यापि बुद्ध्युत्पत्तिर्दृष्टा,

“प्रमात्वाप्रमात्वयोर्विरोधान्नैकव समावेश इत्यत आह, तत्त्वेति।—तथा च, विषय-
भेदान्न विरोध इति भावः” इत्याहुः ॥ ३७ ॥

समाप्तं वाङ्मार्थभङ्गनिराकरणप्रकरणम् ।

ननु शास्त्राधीनं तत्त्वज्ञानं क्षणिकम्, अतस्तद्वाशं मिथ्याज्ञानं स्यादेव ; न हि
तादृशं किञ्चिदेव ज्ञानं दृढभूमिसदासनमिथ्याज्ञानसमुन्मूलनक्षमम्, अतस्तत्त्वज्ञान-
विबुद्धिप्रकरणमारभते ; तत्त्वज्ञानविबुद्धिस्तत्त्वज्ञानवासना, ततश्चाऽऽत्यन्तिको मिथ्या-
ज्ञाननाशः । तत्र तत्त्वज्ञानविबुद्धौ हेतुमाह ।—समाधिः चित्तस्याभिमतविषय-
निष्ठत्व, तस्य विशेषः प्रकर्षो विषयान्तरानभिषङ्गलक्षणः, तस्याभ्यासात् पौनःपुन्यात्,
तत्त्वज्ञानविबुद्धिः, तदेव च निदिध्यासनमाननानि । तत्त्वज्ञानविबुद्ध्या च मिथ्याज्ञान-
वासनातिरोभावः, तथा च योगसूत्रं,—“तज्ज्ञः संस्कारोऽन्यस्तारप्रतिबन्धी” (यो०
सू० सं० पा० ६५ सू०) । प्रतिबन्धः काव्याक्षमतासम्पादनं विनाशो वा ॥ ३९ ॥

यथा स्तनयितृशब्दप्रभृतिषु; तत्र समाधिविशेषो नोप-
पद्यते ॥ ३८ ॥

क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥

क्षुत्पिपासाभ्यां शीतोष्णाभ्यां व्याधिभिश्चानिच्छतोऽपि
बुद्ध्यः प्रवर्त्तन्ते; तस्मादैकाग्रानुपपत्तिरिति ॥ ४० ॥

अस्वेतत् समाधिव्युत्थाननिमित्तं समाधिप्रत्यनोकञ्च, सति
त्वेतस्मिन्,—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥

पूर्वकृतो जन्मान्तरोपचितस्तत्त्वज्ञानहेतुर्धर्मप्रविवेकः,
फलानुबन्धो योगाभ्याससामर्थ्यम्; निष्फले हि अभ्यासे
नाभ्यासा आदियेरन्, (प) दृष्टं हि लौकिकेषु कर्मस्वभ्यास-
सामर्थ्यम् ॥ ४१ ॥

ननु रागाऽऽदिभिः प्रतिबन्धात् समाधिरिव नोदेतीत्यादिपति सूत्राभ्याम् ।—
अर्थविशेषस्य तदनयवनिताऽऽदिरागस्य, प्राबल्याच्चिरकाळानुबन्धात्, तदनुसन्धानमवर्ज-
नीयमिति तदभावः, स्याच्च घनगर्जिताऽऽदिज्ञानेन प्रतिबन्धः; एवं क्षुत्तृष्णाभ्याऽऽदिभिः
प्रतिकुड्मस्तदुपशमाय प्रयतेत ॥ ३८ ॥ ४० ॥

परिहरति ।—जन्मान्तरकृतसमाधिजन्यसंस्कारवशात् समाधिसिद्धिरित्यर्थः, अत
एव चानेकजन्यसंसिद्ध इत्यादि संशङ्कते; वयन्तु—पूर्वकृतस्य प्रथमतः कृतस्वेष्टराऽऽरा-
धनस्य, फलं धर्मविशेषः, तत्सम्बन्धादित्यर्थः; तथा च योगसूत्रे,—“समाधिसिद्धिरीश्वर-
प्रणिधानात्” (योग सू० सा० पा० ४५ सू०) । स्वान्तरञ्च तत्रैव,—“ततः प्रत्यक्-
क्षेतनाऽधिममोऽप्यन्तरायाभावश्च” (योग सू० सं० पा० २८ सू०) । तत ईश्वर-
प्रणिधानात्, विषयप्राप्तिकृत्त्वेन चित्तावस्थानं प्रत्यङ्गाभावश्चेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

प्रत्यनोकपरिहारार्थञ्च,—

अरण्यगुहापुलिनाऽऽदिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥

योगाभ्यासजनितो धर्मो जन्मान्तरेऽप्यनुवर्तते, प्रचयकाष्ठा-
गते तत्त्वज्ञानहेतौ धर्मे प्रकृष्टायां समाधिभावनायां तत्त्वज्ञान-
मुत्पद्यत इति; दृष्टञ्च समाधिनाऽर्थविशेषप्राबल्याभिभवः, 'नाह-
मेतदश्रीषं, नाहमेतदज्ञासिषम्, अन्यत्र मे मनोऽभूत्' इत्याह
लौकिक इति ॥ ४२ ॥

यदर्थेऽर्थविशेषप्राबल्यादनिच्छतोऽपि बुद्धुत्पत्तिरनुज्ञायते,—

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ४३ ॥

मुक्तस्यापि वाञ्छार्थसामर्थ्याद्बुद्धय उत्पद्येरन्निति ॥ ४३ ॥

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥

कर्मवशान्निष्पन्नशरीरे चेष्टेन्द्रियार्थाऽऽश्रये निमित्तभाव-
दवश्यम्भावी बुद्धीनामुत्पादः; न च प्रबलोऽपि सन् वाञ्छोऽर्थ
आत्मनो बुद्धुत्पादे समर्थो भवति, तस्येन्द्रियेण संयोगाद्-
बुद्धुत्पादे सामर्थ्यं दृष्टमिति ॥ ४४ ॥

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥

तस्य बुद्धिनिमित्ताऽऽश्रयस्य शरीरेन्द्रियस्य धर्माधर्माभावाद्-
भावोऽपवर्गे, तत्र यदुक्तम्—“अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः” इति,
तदयुक्तम्; तस्मात् सर्वदुःखविमोक्षोऽपवर्गः। यस्मात् सर्व-

योगाभ्यासस्थानमुपदिशति।—तत्र स्थिरचित्तता स्यादिति भावः। इदं न सूचं,
भाष्यमिति केचित् ॥ ४२ ॥

तटस्थः शङ्कते।—एवं प्रसङ्गः अर्थविशेषप्राबल्यादिवशावभासप्रसङ्गः ॥ ४३ ॥

समाधत्ते।—निष्पन्नञ्च शरीराऽऽदेः, अवश्यम्भावित्वात् कारणत्वात्, ज्ञानाऽऽदि-
वृत्ति शेषः ॥ ४४ ॥

दुःखबीजं सर्वदुःखाऽऽयतनं चापवर्मे विच्छिद्यते, तस्मात् सर्वेण
दुःखेन विमुक्तिरपवर्गः, न निर्बीजं निरायतनञ्च दुःखमुत्पद्यत
इति ॥ ४५ ॥

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योग-
साध्यात्मविध्युपायैः ॥ ४६ ॥

तस्यापवर्गस्वाधिगमाय यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः ; यमः

ननु किमेतावता ? इत्यत आह ।—तस्य शरीराऽऽदेः, अभावः, तदारभ्यकथमाधर्म-
विरहादिति भावः ॥ ४५ ॥

ननु समाधिसाधनादेव विष्णुलुङ्घोऽपवर्गः स्वात् ?—साधनान्तरं वाऽपेक्षणीयम् ?
अत आह ; यदा,—समाधिसाधनान्वाह ।—तदर्थमपवर्गार्थमिति भाष्याऽऽदौ, तदर्थं
समाध्यर्थमिति वा । यमावाह योगसूत्रम्,—“अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्योपरिग्रहा-
यमाः” (यो० सू० सा० पा० ३० सू०) । नियमानाह,—“श्रीचसन्तोषतपः-
स्वाध्यावेश्वरप्रणिधानानि वियमाः” (यो० सू० सा० पा० ३२ सू०) । स्वाध्यायः स्वाभिमत-
मन्त्रजपः । निषिद्धानाचरणतत्तदाश्रमविहिताचरणे यमनियमा इत्यन्ते । आत्म-
संस्कारः आत्मनोऽपवर्गाधिगमकमता । ननु यमवियमावेव साधने, उताहो
अन्यदस्ति ? इत्यत आह, योगादिति ।—आत्मविधिः आत्मसाक्षात्कारविधायक-
वाक्यम्,—“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” (उद्० उप० ४ अध्या० ५ ब्राह्म० ६ मन्त्रः)
“आत्मानं चेद्विजानीयात्” (उद्० उप० ४ अध्या० ४ ब्राह्म० १२ मन्त्रः)
इत्यादि । योगादिति प्रतिपाद्यत्वं पञ्चम्यर्थः ; तथा च, योगशास्त्रीकाऽऽत्मतत्त्वाधि-
गमसाधनैश्चाऽऽत्मसंस्कारः कर्तव्य इत्यर्थः ; तथा च योगसूत्रम्,—“योगाङ्गानुष्ठानाद-
शुद्धिश्चैव ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः” (यो० सू० सा० पा० २८ सू०) ; तदर्थश्च,—
योगाङ्गानां यमनियमाऽऽदीनाम्, अनुष्ठानाच्चित्तस्याशुद्धेरविद्याऽऽदिरूपायाः, चये
सति ज्ञानस्य दीप्तिः प्रकर्षः, स च विवेकख्यातिपयेन्तो जायते, सा च सत्त्वगुरुत्वान्वता-
साक्षात्कारः । अन्त्यतः तु,—देहाऽऽदिभिन्नऽऽत्मसाक्षात्कारः, स च नेदानौमविद्या-
प्रतिबन्धाद्देहाऽऽत्मनोर्मनश्चक्षुराद्ययोग्यत्वाच्च ; भवति चासौ योगजधर्मात् ; योगाङ्गानि
तत्रोक्तानि,—“यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि”
इति (यो० सू० सा० पा० २८ सू०) ; आसनं पद्माऽऽसनाऽऽदि कुशाऽऽसनाऽऽदि च,
“चेत्ताजिनकुशोत्तरम्” (गौ० ६ अध्या० ११ श्लो०) इति भगवद्वचनात् ।

समानमाश्रमिणां धर्मसाधनं, नियमस्तु विशिष्टम्, आत्म-
संस्कारः पुनर्धर्मज्ञानं धर्मोपचयश्च ; योगशास्त्राच्चाध्यात्म-
विधिः प्रतिपत्तव्यः ; स पुनस्तपः प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं
धारणा इति । इन्द्रियाविषयेषु प्रसङ्गग्रानाभ्यासो रागद्वेषप्रहा-
णार्थः, उपायस्तु योगाऽऽचारविधानमिति ॥ ४६ ॥

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥

तदर्थमिति । प्रकृतं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमात्मविद्या-
शास्त्रं, तस्य ग्रहणमध्ययनधारणे, अभ्यासः सततक्रिया-
ऽध्ययनश्रवणचिन्तनानि, तद्विद्यैश्च सह संवाद इति प्रज्ञाप-
पाकार्यम् ; परिपाकस्तु संशयच्छेदनमविज्ञातार्थावबोधोऽध्य-
वसिताभ्यनुज्ञानमिति । समया वादः संवादः ॥ ४७ ॥

प्राणाग्रानमाह योगसूत्रम् ;—“तस्मिन् सति आसप्रश्वासयोगैर्मतिविच्छेदः प्राणायामः”
(यो० सू० सा० पा० ४८ सू०) । तस्मिन् आसनस्थैर्ये, प्राणवायोरेव निर्गमप्रवेश-
रूपक्रियाविशेषात् आसप्रश्वासस्यपदेशः । वह्निरिन्द्रियाणां स्वस्वविषयवैमुख्येनावस्थानं
प्रत्याहारः । धारणांमाह योगसूत्रम् ;—“देशकल्पितस्य धारणा” (यो० सू० वि०
पा० १ सू०) । देशं नाभिचक्राऽऽदौ, चित्तस्य बन्धो विषयान्तरवैमुख्येनावस्थानम् ।
ध्यानमाह,—“तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्” (यो० सू० वि० पा० २ सू०) ।
धारणैव धारावाहिनी ध्यानमित्यर्थः । समाधिमाह,—“तदेवायंमात्रनिर्भासं
स्वरूपमव्यभिच समधिः” (यो० सू० वि० पा० ३ सू०) । अर्थस्य धर्मो ज्ञानस्वरूपश्च
यदि ध्याने न भासते, तदा समाधिरित्यर्थः । सूत्रान्तरम् ;—“तदयमन्तरङ्गं पूर्वभ्यः”
(यो० सू० वि० पा० ७ सू०), चरमतयं साक्षादुपकारकमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

नन्वेवं किमात्मीचिन्त्या ? इत्यत आह ।—तदर्थमित्यनुवर्त्तते । ज्ञायतेऽनेनेति
ज्ञानं शास्त्रं प्रकृतं, तस्य ग्रहणमध्ययनधारणे, तदाभ्यासो दृढतरसंस्कारः, तद्विद्यै-
स्तदभिप्रेत्युक्तैः, संवादः, स्वानुभवदाव्याय, न हि योगाङ्गज्ञानाय ; तत्सापेक्षत्वेन न
प्रकृतशास्त्रवैफल्य, अध्ययनरूपवैचक्षण्यत् ॥ ४७ ॥

“तद्विद्यैश्च सह संवादः” इत्यविभक्तार्थं वचनं विभज्यते,—
तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभि-
रनसूयिभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥

एतन्निगदेनैव नीतार्थमिति ॥ ४८ ॥

यदिदं मन्येत पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः प्रतिकूलः परस्येति,—
प्रतिपक्षहोनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥ ४९ ॥

तमभ्युपेयादिति अनुवर्त्तते । परतः प्रज्ञामुपादित्तमान-
स्तत्त्वबुभुक्षाप्रकाशनेन स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परि-
शोधयेदिति ॥ ४९ ॥

अन्योऽन्यप्रत्यनौकानि च प्रावादुकानां दर्शनानि, स्वपक्ष-
रागेण चैके न्यायमतिवर्त्तन्ते तत्र,—

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीज-
प्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखाऽऽवरणवत् ॥ ५० ॥

अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामप्रहोणदोषाणां तदर्थं घटमानाना-
मेतदिति । विद्यानिर्वेदाऽऽदिभिश्च परेणावज्ञायमानस्य ताभ्यां

संवादप्रकारं दर्शयितुमाह ।—तं तद्विद्यं, सब्रह्मचारो सहाध्यायी, विशिष्टः प्रकृत-
ज्ञानवान्, श्रेयोऽर्थो सुसुचुः ; “विशिष्टः पूर्वोक्तभिन्न इत्यर्थः” इति कश्चित् । विजगोष-
व्यावृत्त्यर्थं अनसूयिभिरिति ॥ ४८ ॥

संवादप्रकारमाह ।—वाग्वन्दो निश्चयार्थः । अर्थित्वे तत्त्वबुभुक्षायां सत्यां,
प्रयोजनार्थं तत्त्वनिर्णयार्थं, प्रतिपक्षहोनं प्रतिकूलपक्षहोनं, यथा स्यात् तथाऽभ्युपेयात् ;
तथा च भाष्यम् ;—“स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परिशोधयेत्” इति ;
तत्त्वनिर्णीधुतयान् पक्षपात इति भावः ॥ ४९ ॥

समाप्त तत्त्वज्ञानविहङ्गिप्रकरणम् ।

तद्विद्यैः सह संवाद इत्यत्र त्रयीवाह्यैः सह संवादः न कर्त्तव्य इति भर्मा मा-
भूदिति तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणमारभते ।—तत्त्वाध्यवसायस्य तत्त्वनिर्णयस्य, संरक्षणं

विगृह्य कथनम् ; विगृह्येति विजिगीषया, न तत्त्वबुद्ध्युत्थयेति,
तदेतद्विद्यापालनार्थं, न लाभपूजा-ख्यात्यर्थमिति ॥ ५० ॥

ताभ्यां विगृह्य कथनम् ॥ ५० ॥ क ॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तश्चायं चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

परीतदूषणाऽऽस्कन्देनाप्रामाण्यशङ्काविघटनं, तदर्थं, जल्पवितण्डे, पूर्वमुक्ते इति
शेषः ॥ ५० ॥

ननु ताभ्यां किं कार्यम् ? इत्यत आह ।—अयमर्थः,—वयौवाह्यैः तद्दर्शनाभ्यासा-
हितकुत्रानैरपरैर्वा यदि स्वपक्ष आचिष्यते, तदा ताभ्यां जल्पवितण्डाभ्याम् ; सावधारणं
चैतत् । व्यत्यन्तःपातिनामात्रेपि तु वादजल्पवितण्डाभिर्यथेच्छं कथयेदिति भावः ।
वस्तुतस्तु मुमुक्षोर्न तादृशैः सह संवादः, बीतरसमत्वात् ; न हि शास्त्रपरिपालनमपि
तदुद्देश्यं, न वा तदुपेक्षयैव शास्त्रं गच्छति, किन्तु शास्त्रमभ्यस्येतेति तत्त्वमिति ।
इति वृत्तिसम्मतम् अधिकारपूर्वम् ॥ ५० ॥ क ॥

समाप्तं तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम् ।

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

इति महामहोपाध्याययौनद्विद्यानिवासभट्टाचार्याऽऽत्मज-श्रीविश्वनाथसिद्धान्त-
सञ्ज्ञानभट्टाचार्यकृतायां न्यायसूत्रवृत्तौ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्व-
मिति सङ्क्षेपेणोक्तम् ; तद्विस्तरेण विभज्यते । ताः खल्विमा-
जातयः स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते चतुर्विंशतिः प्रतिषेधहेतवः ।

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यविकल्प-
साध्य-प्राप्तप्राप्तिप्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशय-
प्रकरणहेत्वर्थापत्यविशेषोपपत्त्युपलब्धानुपलब्धि-
नित्यानित्यकार्यसमाः ॥ १ ॥

साधर्म्येण प्रत्यवस्थानमविशिष्टमाणां स्थापनाहेतुतः

नत्वा शङ्करचरणं शरणं दीनस्य दुर्गमे तरणम् ।

सम्प्रति निरूपयामः पञ्चममध्यायमतिगहनम् ॥

अथ जातिनिरूपणानयोक्तृद्वितीयोक्तितयोर्बहुलं “तद्विकल्पाज्जातिनिरूपण-
बहुत्वम्” इत्यनेन सूचितं बलवत्किञ्चिज्ज्ञासाऽनुसारिप्रमाणाऽऽदिपरीक्षाऽन्तरितं,
सम्प्रत्यवसरतः प्रपञ्चनीयम् ; तत्र जातिपरीक्षासहितजातिनिरूपणविशेषलक्षण-
मध्यायार्थः । जातिपरीक्षासहितजातिविशेषलक्षणं प्रथमाऽऽह्निकायाः ; सप्तदश चात्र
प्रकरणानि, तत्राऽऽदौ सत्प्रतिपक्षदेशनाभासप्रकरणम्, अन्यानि च यथास्थानं वक्तव्ये,
तत्र च विशेषलक्षणार्थं जातिं विभजते ।

अत्र च साधर्म्याऽऽदीनां कार्यान्तानां द्वन्द्वे तैः समा इत्यर्थात् साधर्म्यसमादय-
श्चतुर्विंशतिजातयः इत्यर्थः, अत्र च जातेर्विशेष्यत्वात् स्त्रीलिङ्गं समाशब्दं मन्यन्ते ; भाष्य-
वार्त्तिकेऽऽदौ समशब्दः ; अयिमसूत्रेषु तु समशब्दो निर्विवाद एव, तत्र जातिशब्दस्य
स्त्रीलिङ्गतया यद्यपि नान्यत्र, तथापि प्रतिषेधो विशेष इति भाष्याऽऽदयः ।
वयन्तु,—“तद्विकल्पात्” इति स्वस्थविकल्पस्यैव विशेष्यत्वम् ; विविधः कल्पः प्रकारो
विकल्पः ; तथा चेत् साधर्म्यसमाऽऽदयो जातिविकल्पाः, एवमयिमसूत्रेष्वपि । इत्यत्र
जातेर्विशेष्यत्वे साधर्म्यसमेत्यपीति ब्रूमः । “समीकरणार्थं प्रयोगः समः” इति वार्त्तिकम् ।

साधर्म्यसमः, अविशेषं तत्र तत्रोदाहरिष्यामः । एवं वैधर्म्य-
समप्रभृतयोऽपि निर्वक्तव्याः ॥ १ ॥

लक्षणन्तु.—

साधर्म्यवैधर्म्यामुपसंहारे तद्वर्मविपर्ययोप-
पत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥

साधर्म्योपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव
प्रत्यवस्थानमविशिष्टमात्रं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः ।
निदर्शनम्;—क्रियावानात्मा, द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात्; द्रव्यं
लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावान्, तथा चाऽऽत्मा, तस्मात्
क्रियावानिति । एवमुपसंहृते परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते,
निष्क्रिय आत्मा, विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वात्; विभु चाऽऽकाशं
निष्क्रियञ्च, तथा चाऽऽत्मा, तस्मान्निष्क्रिय इति । न चास्ति
विशेषहेतुः, क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं, न पुनर-
क्रियसाधर्म्यात् निष्क्रियेण, इति विशेषहेत्वभावात् साधर्म्यसमः

यद्यपि नैतावता समीकरणं, तथाऽपि समीकरणाद्देशकत्वमस्यैव; अथवा साधर्म्येव
समं यत्र स साधर्म्यसमः, एकत्र व्याप्तेराधिक्येऽपि साधर्म्यं सममेवेति भावः ॥ १ ॥

साधर्म्यवैधर्म्यसमौ लक्षयति ।—उपसंहारे साध्यस्थोपसंहारे वादिना कृते,
तद्वर्मस्य साध्यरूपधर्मस्य, यो विपर्ययो व्यतिरेकः, तस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां केवलाभ्यां
व्याप्त्यनुपपत्त्यां, यदुपपादनं, ततो हेतोः साधर्म्यवैधर्म्यसमावृत्तेः; तदयमर्थः,—
वादिना अन्वयेन व्यतिरेकेण वा साध्ये साधिते प्रतिवादिनः साधर्म्यमावप्रवृत्तहेतुना
तदभावाऽऽपादनं साधर्म्यसमा, वैधर्म्यमावप्रवृत्तहेतुना तदभावाऽऽपादनं वैधर्म्यसमा;
एव साधर्म्यसमा यथा,—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद्दृष्टवत्, व्यतिरेकेण वा श्मिमवदित्युप-
संहृतं नैतदेवम्; यद्यनित्यघटसाधर्म्यान्नित्याऽऽकाशवैधर्म्याद्वाऽनित्यः स्यात्, नित्याऽऽकाश-
साधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्यः स्यात्, विशेषो वा वक्तव्यः । वैधर्म्यसमा यथा,—शब्दोऽनित्यः
कृतकत्वाद्दृष्टवत् आकाशवद्वा, इति स्थापनायाम् अनित्यघटवैधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्यः
स्यात् विशेषो वा वक्तव्य इति । अत्र साधर्म्यत्वमात्रं वैधर्म्यत्वमात्रं वा गमकतौपयिक-

प्रतिषेधो भवति । अथ वैधर्म्यसमः ;—क्रियाहेतुगुणयुक्तो लोष्टः
 पारिच्छिन्नो दृष्टः, न च तथाऽऽत्मा ; तस्मान्न लोष्टवत् क्रियावा-
 निति ; न चास्ति विशेषहेतुः, क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता
 भावितव्यं, न पुनः क्रियावद्वैधर्म्यादक्रियेण, इति विशेषहेत्व-
 भावावैधर्म्यसमः । वैधर्म्येण चापसंहारं निष्कृत्य आत्मा,
 विभुत्वात् ; क्रियावद्द्रव्यमविभु दृष्टम् ; यथा लोष्टः, न च तथा-
 ऽऽत्मा, तस्मान्निष्कृत्यः, इति वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम् ; निष्कृत्यं
 द्रव्यमाकाशं क्रियाहेतुगुणरहितं दृष्टं, न तथाऽऽत्मा, तस्मान्न
 निष्कृत्य इति ; न चास्ति विशेषहेतुः, क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रि-
 येण भवितव्यं, न पुनरक्रियवैधर्म्यात्, क्रियावर्तति विशेष-
 हेत्वभावावैधर्म्यसमः । क्रियावान् लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तो
 दृष्टः, तथा चाऽऽत्मा, तस्मात् क्रियावानिति ; न चास्ति विशेष-
 हेतुः, क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्कृत्यः, न पुनः क्रियावत्साधर्म्यात्
 क्रियावानिति विशेषहेत्वभावात् साधर्म्यसमः ॥ २ ॥

अनयोरुत्तरम्,—

गोत्वाङ्गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

साधर्म्यमात्रेण वैधर्म्यमात्रेण च साध्यमाधने प्रतिज्ञायमाने
 स्यादव्यवस्था, सा तु धर्मविशेषे नोपपद्यते ; गोसाधर्म्यात्
 गोत्वाङ्गातिविशेषादौ ; सिध्यति, न तु सास्त्राऽऽदिमन्बन्धात् (फ)
 अस्त्राऽऽदिवैधर्म्याद्गोत्वादेव गोः सिध्यति, न गुणादिभेदात् ;

मित्यभिमानात् सत्यतिपक्षदेशनाभासे चेति । “अनेकान्तिकदेशनाभासा” इति वार्तिके
 त्वनेकान्तिकपदं योगात् सत्यतिपक्षपरम्, एकान्ततः साध्यसाधकत्वाभावात् ॥ २ ॥

अनयोरसदुत्तरत्वे बीजमाह ।—गोत्वात् गोसिद्धिर्गोव्यवहार इति सम्प्रदायः ।
 वयन्तु,—गोत्वाङ्गवैतरासमवेतत्वे सति गोसमवेतास्त्रादितः, एतेन व्याप्तिपक्षधर्मत्वे
 दर्शितं ; गोर्गोत्वस्य तादात्म्येण गोरेव वा सिद्धिर्यथा, तथैव कृतकत्वादपि व्याप्ति-

(फ) अत्राप्युक्तं सविज्ञानी बहुव्रीहिः ।

तच्चैतत् कृतव्यवस्थानमवयवप्रकरणे ; प्रमाणानामभिसम्बन्धा-
च्चैकार्थकारित्वं समानं वाक्य इति, हेत्वाभासाऽऽश्रया खल्वियम-
व्यवस्थेति ॥ ३ ॥

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्-
कर्षापकर्षवर्ण्यवर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥

दृष्टान्तधर्मं साध्येन समासञ्जयन्नुत्कर्षसमः । यदि
क्रियाहेतुगुणयोगोऽष्टवत् क्रियावानेवाऽऽत्मा, सोऽष्टवदेव स्पर्श-

पञ्चधर्मतासहितादनित्यत्वसिद्धिः, न तु व्याप्तिपञ्चधर्मतारहितात् साधस्यमात्रात् ; तथा
इति अदूषकसाधर्यात् प्रमेयत्वादितस्तद्वचनसम्यग्दूषकं स्यादित्ययं विशेषः ॥ ३ ॥

इति सत्यपिपक्षदेशनाभासप्रकरणम् ।

क्रममात्रं जातिषट्कं निरूपयति ।—उत्कर्षेण सम उत्कर्षसमः, एवमपकर्ष-
समोऽपि । वर्ण्यवर्ण्यमाधेति भावप्रधानी निर्देशः ; वर्ण्यत्वाऽऽदिना समो वर्ण्यसमाऽऽदिः ।
अविद्यमानधर्मोऽऽरोप उत्कर्षः, विद्यमानधर्मोपचयोऽपकर्षः, वर्ण्यत्वं वर्णनीयत्वं, तच्च
अदिग्धसाध्यकत्वाऽऽदि, तदभावीऽवर्ण्यत्वं, विकल्पो वैविध्यं, साध्यत्वं पञ्चावयव-
जाधनीयत्वम् ; साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादिति पञ्चानामुत्थानवौजम् ; उभयसाध्य-
त्वादिति षष्ठम् । तदवगमः,—साध्यतेऽवेति साध्यं पक्षः, तथा च साध्यदृष्टान्तयो-
रित्यस्य पक्षदृष्टान्तयोरन्यतरस्मिन्नित्यर्थः, धर्मविकल्पो धर्मस्य वैविध्यम् ; तच्च कश्चित्सत्त्वं,
कश्चिदसत्त्वम् ; प्रकृते साध्यसाधनान्यतररूपस्य धर्मस्य विकल्पात्सात्वादयोऽविद्यमान-
धर्मोऽऽरोपः, स उत्कर्षसमः, व्याप्तिमपूरकृत्य पक्षदृष्टान्तान्यतरस्मिन् साध्यसाधनान्य-
तरेणाविद्यमानधर्मप्रसञ्जनम् उत्कर्षसम इति कश्चित्तार्थः ; यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वा-
दिति स्थापनाद्याम्, अनित्यत्वेन कृतकत्वं घटे रूपमद्वयविरहितम्, अतः शब्दोऽपि रूपवान्
स्यात् ; तथा च विवक्षितविपरीतसाधनादिशेषविरहो हेतुः, तद्देशनाभासा चेयम् । एवं
आवयवशब्दसाधर्यात् कृतकत्वादटोऽपि आवयवः स्यादविशेषात् ; वस्तुतस्तु घटे आवयव-
त्वाऽऽपादनेऽर्थान्तरम्, अत उक्तवचने दृष्टान्तपदं साध्यपदञ्च न हेयम् । अपकर्ष-
समायान्तु धर्मविकल्पः, धर्मस्य सहचरितधर्मस्य विकल्पोऽसत्त्वं, ततः अपकर्षः साध्य-
साधनान्यतरस्याभावप्रसञ्जनम् ; तथा च पक्षदृष्टान्तान्यतरस्मिन् व्याप्तिमपूरकृत्य
सहचरितधर्माभावेण हेतुसाधनान्यतराभावप्रसञ्जनमपकर्षसमा ; यथा शब्दोऽनित्यः

वानपि प्राप्नोति ; अथ न स्पशंवान्, लोष्टवत् क्रियावानपि न प्राप्नोति, विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति । साध्ये धर्माभावः

कृतकत्वादित्यत्र यद्यनित्यत्वसहचरितघटधर्मात् कृतकत्वादान्त्यः शब्दः, तदा कृतकत्वानित्यत्वसहचरितघटधर्मरूपत्वव्यावृत्त्या शब्दः कृतकत्वानित्यत्वस्य च आहतिः स्यात्, आद्य — असिद्धिदेशना, द्वितीय — बाधदेशना ; एवं शब्दे कृतकत्वसहचरितयावत्त्वस्य संयोगादावनित्यत्वकृतकत्वसहचरितगुणत्वस्य च व्यावृत्त्या घटेऽनित्यत्वं कृतकत्वञ्च व्यावर्ततेति । दृष्टान्ते साध्यसाधनवक्तव्यदेशनाभासाऽपीयम् ; यत्, वार्तिके, — “शब्दो नीरूपः इतिवत् घटाऽपि नीरूपः स्यादित्यपकर्ष इति” तदसत्, घटे नीरूपत्वाऽऽपादनस्याधान्तरत्वात् ; आचार्यस्वरसंऽप्येवम् ; यत् वैधर्म्यसमाया अत्रैवान्तर्भावः स्यादिति, तत्र, उपधेयसङ्घर्षोऽप्युपाधेरसङ्घर्षात् । वर्ण्यसमायात् साध्यः निवृत्ताभाववान् सन्दिग्धसाध्यकाऽऽदिष्टो, तस्य धर्मः सन्दिग्धसाध्यकाऽऽदृष्टिहेतुः, तस्य विकल्पाकत्वात्, दृष्टान्ते वक्ष्यत्वस्य सन्दिग्धसाध्यकत्वस्याऽऽपादनं वर्ण्यसमा ; तदयमर्थः, — पक्षहान्तिहेतुर्हि यमकः, पक्षश्च सन्दिग्धसाध्यकः, तथा च सन्दिग्धसाध्यकज्ञानहेतुस्त्वया दृष्टान्तेऽपि स्वीकार्यः, तथा च दृष्टान्तस्यापि सन्दिग्धसाध्यकत्वात्संयत्तात्त्विकान्ययादसाधारणा हेतुः, तद्देशनाभासा चेयं, हेतुः सन्दिग्धसाध्यकवर्तिर्यदि न दृष्टान्तं, तदा गमकहेत्वभावात् साधनविकल्पो दृष्टान्तः स्यादिति भावः । अथर्वमनायात् दृष्टान्ते निवृत्ताध्यके यो धर्मो हेतुः, तस्य सत्त्वात्, पक्षे शब्दादावसन्दिग्धसाध्यकत्वाऽऽपादनमवर्ण्यसमा, दृष्टान्तं हेतोर्ग्राह्यत्वं, तादृशो हेतुरेव गमक इत्यभिभावेन पक्षसापादनम् ; दृष्टान्तो यो हेतुः निवृत्ताध्यकवर्तिः, स चेन्न पक्षे, तदा गमकहेत्वभावात् स्वरूपासिद्धिः स्यात्, अतस्तत्तादृशो हेतुरवश्यं पक्षत्वाभिमतं स्वीकार्यः ; तथा च सन्दिग्धसाध्यकत्वञ्च पक्षत्वभावादाश्रयांसिद्धिः ; असिद्धिदेशनाभासा चयम् । विकल्पसमायात् पक्षे दृष्टान्ते च यो धर्मः, तस्य विकल्पो विरुद्धः कल्पो अभिचारित्वम् ; उपपन्नञ्च चैतत् पक्षहान्तिर्जनस्यापि नोभ्यम् । अभिचारोऽपि हेतोर्धर्मान्तरं प्रति, धर्मान्तरस्य साध्यं प्रति, धर्मान्तरस्य धर्मान्तरं प्रति वा ; तथा च कस्यचिद्धर्मस्य क्वचिद्वाभिचारदर्शनेन धर्मत्वाविशेषात् प्रकृतहेतोः प्रकृतसाध्यं प्रति व्यभिचाराऽऽपादनं विकल्पसमा ; यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यत्र कृतकत्वस्य गुरुत्वव्यभिचारदर्शनाद्गुरुत्वस्यानित्यत्वव्यभिचारदर्शनादानित्यत्वस्य मूलत्वव्यभिचारदर्शनाद्धर्मत्वाविशेषात् कृतकत्वमप्यनित्यत्वव्यभिचरेत् ; इत्यनैकान्तिकदेशनाभासा चयम् । पक्षदृष्टान्ताऽऽदेः प्रकृतसाध्यः बुद्ध्युत्पादाऽऽपादनं साध्यसमा ; तवायमाशयः, — एतन्मोहसाध्यस्यैवाश्रयमिति विषयत्वम् ;

दृष्टान्तात् प्रसञ्जयतोऽपकर्षममः । लोष्टः खलु क्रियावान-
विभुदृष्टः, काममात्माऽपि क्रियावानविभुरस्तु, विपर्यये वा
विशेषो वक्तव्य इति । ख्यापनीयो वण्यः, विपर्ययादवण्यः,
तावेतौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ, विपर्ययस्य तौ वण्यवण्यसमी
भवतः । साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात् साध्यधर्म-
विकल्पं प्रसञ्जयतो विकल्पसमः । क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चिद्गुरु,
यथा लोष्टः ; किञ्चिद्विषु, यथा वायुः । एवं क्रियाहेतुगुणयुक्तं
किञ्चित् क्रियावत् स्यात्, यथा लोष्टः ; किञ्चिदक्रियं, यथाऽऽत्मा,
विशेषो वा वाच्य इति । हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्मः साध्यः,
तं दृष्टान्ते प्रसञ्जयतः साध्यसमः । यदि यथा लोष्टः, तथाऽऽत्मा
प्राप्तः, तर्हि यथाऽऽत्मा, तथा लोष्ट इति ; साध्यश्चायमात्मा
क्रियावानिति, कामं लोष्टोऽपि साध्यः ; अथ नैवं, न तर्हि
यथा लोष्टः, तथाऽऽत्मा ॥ ४ ॥

एतेषामुत्तरम्,—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

अलभ्यः सिद्धस्य निष्कवः, सिद्धञ्च किञ्चित्साधर्म्यादुप-

तथा च पक्षाऽऽदेरज्ञानाविषयत्वात् साध्यवदेतत्प्रयोगसाध्यत्वम्, अतः साध्यसमा ;
तथा हि, पक्षाऽऽदेः पूर्वं सिद्धत्वे एतत्प्रयोगसाध्यत्वाभावाद्भानुमिति विषयत्वम् ;
पूर्वमसिद्धत्वे पक्षाऽऽदेरज्ञानादाश्रयासिद्धादयः ; तद्देशनाभावा चेयम् । सूत्रार्थस्तु
उभयसाध्यत्वात्, उभयं पक्षदृष्टान्तौ, तद्वर्गौ हेत्वादिः, तत्साध्यत्वं तदधीनानुमिति-
विषयत्वम् ; साध्यस्त्वेव पक्षाऽऽदेरपीति तुल्यताऽऽपादनम् इति, लिङ्गोपहितभानुमते
लिङ्गस्यानुमिति विषयत्वात् साध्यसमत्वं, हेतोश्च साध्यत्वे हेतुभानं, दृष्टान्तोऽपि
साध्य इत्याशयः ॥ ४ ॥

एतासामुत्तरत्वे बीजमाह ।—किञ्चित्साधर्म्यात् साधर्म्यविशेषात् व्याप्ति-
सहितात्, उपसंहारसिद्धेः साध्यसिद्धेः, वैधर्म्यादेतद्विपरीतात्, व्याप्तिनिरपेक्षात्
साधर्म्यमावात्, भवता जनः प्रतिषेधो न सम्भवतीत्यर्थः, अन्यथा प्रमेयत्वरूपासाधक-
साधर्म्यात् तद्वृषणमप्यसम्भूतमिति भावः ; तथा चायं क्रमः,—अन्तित्वव्याप्यात्

मानम् ; यथा गौस्तथा गवय इति ; तन्न न लभ्यी गोगवययो-
धर्मविकल्पयोदयितुम् ; एवं साधके धर्मे दृष्टान्ताऽऽदिसामर्थ्ययुक्ते
न लभ्यः साध्यदृष्टान्तयार्धमविकल्पाद्बैधर्म्यात् प्रतिषेधो वक्तु-
मिति ॥ ५ ॥

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥

यत्र लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धिसाम्यं, तेनाविपरीतोऽर्थो-
ऽतिदिश्यते प्रज्ञापनार्थम् ; एवं साध्यातिदेशाद्दृष्टान्त उपपद्य-
माने साध्यत्वमनुपपन्नमिति ॥ ६ ॥

कृतकत्वात् शब्देऽनित्यत्वमुपमहरामः, न तु कृतकत्वं रूपस्यापि व्याप्यं, येन ततो
रूपमप्यापारदनीयं शब्दः ; एवम् अनित्यत्वं न रूपव्याप्यं, येन रूपाभावादनित्यत्वाभावः
शब्दे स्यात् ; एवं वस्तुसमेऽपि किञ्चित्साधन्यात् व्याप्यताऽवच्छेदकावच्छिन्नाहेतोः
साध्यसिद्धिः, तादृशहेतुमत्त्वञ्च दृष्टान्तताप्रबोजनं, न तु पक्षे यावद्दिशेषावाच्छेदो
हेतुः, तावदवच्छिन्नहेतुमत्त्वम्, अन्यथा त्वस्यापि दूषणीयो दृष्टान्तो कर्तव्यः, सोऽपि
न स्यात् ; एवमवस्थसमेऽपि व्याप्यताऽवच्छेदकावच्छिन्नस्य दृष्टान्तदृष्टस्य पक्षे सत्त्वात्
साध्यसिद्धिः, न तु दृष्टान्तवृत्तिभावज्ञमावच्छिन्नस्य पक्षे सत्त्वम् ; एवं विकल्पसमेऽपि
प्रकृतसाध्यव्याप्यात् प्रकृतहेतोः साध्यसिद्धिः, तद्वैधर्म्यात् यत्किञ्चिद्व्यभिचारात् कृतः
प्रतिषेधो न सम्भवति, न हि यत्किञ्चिद्व्यभिचारादेव प्रकृतहेतोः प्रकृतसाध्यासाधकत्वम्,
अतिप्रसङ्गात् ; एवं साध्यसमेऽपि व्याप्यहेतोः सिद्धे पक्षे साध्यसिद्धिः, न तु पक्ष-
दृष्टान्तादर्थोपपत्तेन साध्यत्वे ; तथा सति क्वचिदपि साध्यसिद्धिर्न स्यात्, त्वदीयदूषण-
मापि विस्तीर्ण्यते ॥ ५ ॥

व्याप्यवस्तुसाध्यसमासु समाध्यन्तरमप्याह ।—दृष्टान्तोपपत्तिः साध्यातिदेशात्,
दृष्टान्ते हि साध्यमतिदिश्यते, तावत्तैव दृष्टान्तत्वमुपपद्यते, न त्वंशो धर्मः, पक्ष-
दृष्टान्तबीरभेदाऽऽपत्तेः ; पक्षाऽऽदिरपि साध्यसमत्वमेतेन प्रत्युक्तम् । दृष्टोऽन्तो दृष्टान्तः
पक्षः, तस्याह्निकमानित्यतः पक्षात्कीर्त्तनात् ; तथा च साध्यस्यातिदेशात् साधनात् पक्ष-
इत्युच्यते, न तु पक्षोऽपि साध्यते, अतिप्रसङ्गादिति भावः ॥ ६ ॥

समासं जातिषट्कप्रकरणम् ।

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्ता अवि-
शिष्टत्वादप्राप्ता असाधकत्वाच्च प्राप्ताप्राप्ति-
समौ ॥ ७ ॥

हेतुः प्राप्य वा साध्यं साधयेत् ?—अप्राप्य वा ? न तावत्
प्राप्य, प्राप्यामविशिष्टत्वादसाधकः ; द्वयोर्विद्यमानयोः प्राप्ते
सत्यां किं कस्य साधकं साध्यं वा ? अप्राप्य साधकं न भवति,
नाप्राप्तः प्रदीपः प्रकाशयतीति ; प्राप्या प्रत्यवस्थानं प्राप्तिः समः,
अप्राप्या प्रत्यवस्थानमप्राप्तिः समः ॥ ७ ॥

अनयोरुत्तरम्,—

घटाऽऽदिनिष्पत्तिर्दर्शनात् पीडने चाभि-
चारादप्रतिषेधः ॥ ८ ॥

उभयथा खल्वयुक्तः प्रतिषेधः, कर्तृकरणाधिकरणानि प्राप्य

क्रमप्राप्तौ प्राप्तप्राप्तिसमौ लक्ष्यति ।—हेतोरिति साधकत्वमिति शङ्कः । प्राप्तिपक्षे
दोषमाह, प्राप्तप्राप्तिविशिष्टत्वादिति ।—द्वयोरपि प्राप्तत्वाविशेषात् किं कस्य साधकम् ?
अप्राप्तिपक्षे दोषमाह, अप्राप्तेति ।—अप्राप्तस्य साधकत्वेति प्रसङ्गात्, साधकत्वञ्चाव-
कारकज्ञापकसाधारणम् ; एवञ्च कारकज्ञापकत्वज्ञानं साधनं कार्येज्ञाप्यत्वज्ञानेन
साध्येन सम्बद्धं सत्साधकं चेत्, तदा सत्त्वाविशेषाच्च कार्यकारणभावः, तत्सम्बन्ध-
प्रागेव ज्ञातत्वाच्च ज्ञाप्यज्ञापकभावः, प्राप्त्यर्थेन जन्यजनकभावः । प्राप्तत्वेन लवणो-
दकघोरिवाभेदादित्याशय इत्यन्ये ; तथा च प्राप्तप्राप्तिविशेषादान् घटाऽऽपादनेन प्रत्यवस्थानं
प्राप्तिसमा । यदि चाप्राप्य लिङ्गं साध्यवृद्धिं जनयति, साध्याभाववृद्धिमेव किं तत्र
जनयेत् ? अप्राप्तत्वाविशेषात् ; तथा चाप्राप्या साधकत्वादान् घटाऽऽपादनमप्राप्तिसमा ।
प्रतिकूलतर्कदर्शनाभासे चेमे ॥ ७ ॥

अनघोरसदुत्तरत्वे बीजमाह ।—दण्डादितो घटाऽऽदिनिष्पत्तिर्दर्शनात् सर्वलोका-
प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, अभिचारात् श्रेणादितः, शत्रुपीडने च अभिचाराच्च त्वदुक्तः प्रतिषेधः
सम्भवति ; न हि कारणं दण्डःऽऽदि प्रागेव घटाऽऽदिना सम्बद्धम्, अपि तु तदादिना ;

सदं घटाऽऽदिकार्यं निष्पादयन्ति, अभिचाराच्च पीडने सति
दृष्टमप्राप्य साधकत्वमिति ॥ ८ ॥

दृष्टान्तस्य कारणानुपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च
प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥ ९ ॥

साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गे प्रत्यवस्थानं
प्रसङ्गसमः प्रतिषेधः । क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोष्ट
इति हेतुर्नापदिश्यते ; न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति । प्रति-
दृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमः । क्रियावानात्मा, क्रिया-
हेतुगुणयोगात् लाष्टर्वादित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते, क्रिया-
हेतुगुणयुक्तमाकाशं निर्वाक्यमिति । कः पुनराकाशस्य क्रिया-
हेतुगुणः ? वायुना संयोगः संस्कारापेक्षः वायुवनस्यतिसंयोग-
वर्दात ॥ ९ ॥

अथेनाऽऽदिरस्युद्देश्यतया पीडा जनयति, अन्यथा लोकवर्दासङ्गकार्यकारणभावाच्चेदे-
त्वदुक्तो हेतुरप्यसाधकः स्यादिति ॥ ८ ॥

इति प्राङ्गप्राप्तिरुमजातिव्ययप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तिं प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ नाती लक्षयति ।—दृष्टान्तस्य कारणं प्रमाण-
लक्षणपदेशोऽनभिधानम्, अभिधानज्ञानतिप्रयोजनकम् ; यथा च दृष्टान्तस्य साध्यवत्त्वं
प्रमाणाभावात् प्रत्यवस्थानमर्थः ; यद्यपीदं सदुत्तरमेव, तथाऽपि दृष्टान्ते प्रमाण-
वाच्यं, तत्रापि प्रमाणान्तरमित्यनवस्थया प्रत्यवस्थाने तात्पर्यम् ; तदुक्तमाचार्यैः,—
“अनवस्थाभासप्रसङ्गः प्रसङ्गसमः” इति । एतन्मते हेतोर्हेतुमन्तरमित्यनवस्थाऽपि
प्रसङ्गसम एव ; पूर्वमते तु हेतुनवस्थाऽऽदिकं वक्ष्यमाणऽऽकृतिगणेष्वन्तर्भूतमिति
विशेषः । अनवस्थादेशनाभासा चयम् । प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानात् प्रतिदृष्टान्तसमः
एतच्च सावधारणम् ; तेन प्रतिदृष्टान्तमात्रवत्त्वेन व्याप्तिमपुरुक्त्यै प्रत्यवस्थानमर्थः, तेन
साध्यस्य समावृत्तादयः । यदि घटदृष्टान्तवत्त्वेनानित्यः शब्दः, तदाऽऽकाशदृष्टान्तवत्त्वेन
नित्य एव स्यात्, नित्यः किं न स्यादिति बाधः प्रतिरोधी वाऽऽपादनीयः, हेतुरनङ्गम् ।
दृष्टान्तमात्रवत्त्वादेव साध्यसिद्धिरित्यभिमानः । बाधप्रतिरोधान्यवरदेशनाभासा-
चयम् ॥ ९ ॥

अनयोरुत्तरम्,—

प्रदीपाऽऽदानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥

इदं तावदयं पृष्ठो वक्तुमर्हति, अथ के प्रदीपमुपाददते ?—
किमर्थं वा ?—इति ; दिदृक्षमाणाः दृश्यदर्शनार्थमिति । अथ
प्रदीपं दिदृक्षमाणाः प्रदीपान्तरं कस्मान्नोपाददते ? अन्तरेणापि
प्रदीपान्तरं दृश्यते प्रदीपः, तत्र प्रदीपदर्शनार्थं प्रदीपोपादानं
निरर्थकम् । अथ दृष्टान्तः किमर्थमुच्यते इति ?—अप्रज्ञातस्य
ज्ञापनार्थमिति । अथ दृष्टान्ते कारणापदेशः किमर्थं दृश्यते ?
यदि प्रज्ञापनार्थं, प्रज्ञातो दृष्टान्तः ; स खलु लौकिकपरोक्ष-
काणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिमास्यं, स दृष्टान्तः, इति तत्प्रज्ञानार्थः
कारणापदेशो निरर्थकः, इति प्रसङ्गसमस्योत्तरम् ॥ १० ॥

अथ प्रतिदृष्टान्तसमस्योत्तरम्,—

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥ ११ ॥

प्रतिदृष्टान्तं ब्रुवता न विशेषहेतुरपदिश्यते,—अनेन
प्रकारेण प्रतिदृष्टान्तः साधकः, न दृष्टान्त इति ; एवं प्रति-

प्रसङ्गसमं प्रत्युत्तरमाह ।—दृष्टान्तो हि निदर्शनस्थानत्वेन साध्यनिश्चयाद्यर्थमपेक्ष्यते,
न तु दृष्टान्तदृष्टान्ताऽऽद्यनर्वास्तवपरम्परा लोकसिद्धा युक्तिसिद्धा वा ; अन्वया-
वृत्त्याऽऽदिप्रत्यक्षायां प्रदीप इव प्रदीपप्रत्ययाद्यर्थमनर्वास्तवपरम्परा प्रसज्येत, त्वदीय-
साधनमपि व्याह्रयेत् ॥ १० ॥

प्रतिदृष्टान्तसमं प्रत्युत्तरमाह ।—अत्रायमुत्तरक्रमः,—प्रतिदृष्टान्तस्त्वया किमर्थ-
मुपादीयते ?—सदीयहेतोर्वोधार्थं, सत्यतिपक्षितत्वार्थं वा ? नाऽऽद्यः, यतः प्रतिदृष्टान्तस्य
हेतुत्वे स्वार्थसाधकत्वे, सदीयो दृष्टान्तो नाहेतुः नासाधकः, तथा च तुल्यबलत्वाद्
बाधः ; न वा त्रितयीऽपि, यतः प्रतिदृष्टान्तस्य स्वार्थसाधकत्वे उच्यमाने नाहेतु-
र्दृष्टान्तः, सदीयो दृष्टान्तस्तु सहेतुकत्वादाधिक्यबलः । हेतुतो हेतुं विना दृष्टान्त-

दृष्टान्तहेतुत्वे नाहेतुदृष्टान्त इत्युपपद्यते; स च कथमहेतुर्न
स्यात् ? यद्यप्रतिषेधः साधकः स्यादिति ॥ ११ ॥

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥

अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरोपकल्पात् घटवदित्युक्ते अपर
आह, — प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दे प्रयत्नानन्तरोपकल्पमनित्यत्व-
कारणं नास्ति, तदभावान्नित्यत्वं प्राप्तं, नित्यस्य चोत्पत्तिर्नास्ति;
अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥

अस्योत्तरम्,—

**तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रति-
षेधः ॥ १३ ॥**

तथाभावादुत्पन्नप्रेति, उत्पन्नः स्वत्वयं शब्द इति भवति,

भावेन न संप्रतिपन्नमभावना, तदभावस्याप्यवताजानाभावात्; हेतुपादाने तु
सः स्वरत्वमेवोक्तं भावः इति ॥ ११ ॥

इति प्रसङ्गसमप्रतिदृष्टान्तसमप्रकरणम् ।

कसंप्राप्तमनुत्पत्तिमनं लक्षयति ।—प्रागुत्पत्तेरिति, साधनाह्नयेति शेषः । कारण-
भावात् हेतुभावात्; तथा च, साधनाह्नयवहेतुदृष्टान्तानामुत्पत्तेः प्राक् हेत्वभाव-
इत्यनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमः; यथा घटी रूपवान् गन्धात् पटवदित्युक्ते
घटीत्यन्तेरेवोत्पत्तयः पूर्वे हेत्वभावादसिद्धिः; पटे च गन्धात्पत्तेः पूर्वे हेत्वभावेन
दृष्टान्तसिद्धिः, एवम् आद्यक्षणे रूपाभावाद्वाधश्च, अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानस्य तत्त्व-
सत्त्वात् उत्पत्तेः पूर्वे हेत्वाद्यभावेन प्रत्यवस्थानस्यैव लक्षणत्वात् जातित्वे सतीति न
विशेषणीयम्; तेनोत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटी गन्धानित्यव बाधेन प्रत्यवस्थाने
नातिव्याप्तः । अग्निद्वारादिदेशनाभावाच्चैवम् ॥ १२ ॥

अत्रोत्तरनाह ।—उत्पन्नस्य तथाभावात् घटाद्यात्मकत्वात्, तस्य कारणस्य
हेतोः, उपपत्तेः सत्त्वात्, कथं कारणप्रातर्षेधः ? अयमाशयः,—पक्षे हेत्वभावात्सिद्धिः,
न त्वनुत्पन्ने हेत्वभावः सम्भवति, अधिकरणाभावात्; न हि हेत्वभावमात्रासिद्धिः,
अदोषहेतोरपि कश्चिदभावसत्त्वात्; एतेन दृष्टान्तसिद्धिर्व्याख्याता, यदा कदाचिहेतु-

प्रागुत्पत्तेः शब्द एव नास्ति, उत्पन्नस्य शब्दभावात् ; शब्दस्य सतः प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यकारणमुपपद्यते, कारणोपपत्तेरयुक्तोऽयं दाषः, प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादिति ॥ १३ ॥

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्या-
नित्यसाधर्म्यात् संशयसमः ॥ १४ ॥

अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् घटवत्, इत्युक्ते हेतौ संशयेन प्रत्यवतिष्ठते, सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वे अस्त्येवास्य नित्येन सामान्येन साधर्म्यमैन्द्रियकत्वम्, अस्ति च घटेना-
नित्येन, अतो नित्यानित्यसाधर्म्यादनिवृत्तः संशय इति ॥ १४ ॥

अस्योत्तरम्,—

साधर्म्यात् संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा
वा संशयो(ये)ऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युप-
गमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥ १५ ॥

विशेषाद्वैधर्म्यादवधार्यमाणेऽर्थे पुरुष इति न स्थाणुपुरुष-

सत्त्वेनैव दृष्टान्तलोपपत्तेः ; एवं हेत्वादीनां यदा कदाचित्त्वे सत्त्वादेव हेत्वादि-
भावः, न तु सार्वत्रिकी तदपेक्षित ॥ १३ ॥

इत्युत्पत्तिसमप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तं संशयसमं लक्षयति ।—नित्यानित्यसाधर्म्यादिति संशयकारणीपलक्षणम् ;
तेन समानधर्मदर्शनाऽऽदिष्टत्वात्संशयकारणवत्त्वात् संशयेन प्रत्यवस्थानं संशयसमः ;
अधिकानु उदाहरणपरम् । तथा हि, शब्दोऽनित्यः काव्येत्वादवदित्युक्ते, सामान्ये
बीलाऽऽदौ दृष्टान्ते घटे ऐन्द्रियकत्वं तुल्यम् ; यथा काव्येत्वादिनिर्णयकादनित्यत्वं निर्णय-
यते, तथा ऐन्द्रियकत्वात् संशयकारणादनित्यत्वं सन्दिह्यताम् ; एवं शब्दत्वाऽऽद्यसाधर्म्य-
दर्शनादपि संशयो बोध्यः ; तथा च हेतुज्ञानेऽप्रामाण्यशङ्काऽऽधानद्वारा साध्यसंशयात्
सम्प्रतिपक्षदेशनाभासेयम् ॥ १४ ॥

अस्योत्तरम् ।—साधर्म्यात् साधर्म्यदर्शनात्, संशये आपादमानेऽपि न संशयः,

साधर्म्यात् संशयोऽवकाशं लभते, एवं वैधर्म्याद्विशेषात् प्रयत्नानन्तरोयकत्वादवधार्यमाणे शब्दस्यानित्यत्वे नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयोऽवकाशं न लभते, यदि वै लभेत, ततः स्थाणुपुरुषसाधर्म्यानुच्छेदादत्यन्तं संशयः स्यात्, गृह्यमाणे च विशेषे नित्यसाधर्म्यं संशयहेतुरिति नाभ्युपगम्यते, न हि गृह्यमाणे पुरुषस्य विशेषे स्थाणुपुरुषसाधर्म्यं संशयहेतुर्भवति ॥ १५ ॥

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥

उभयेन नित्येन चानित्येन साधर्म्यात् पक्षप्रतिपक्षयोः प्रवृत्तिः प्रक्रिया ; अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरोयकत्वाद्दृष्टवदित्येकः पक्षं प्रवर्त्तयति, द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात् प्रतिपक्षं प्रवर्त्तयति, नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत् इति । एवञ्च सति प्रयत्नानन्तरोयकत्वादिति हेतुरनित्यसाधर्म्येणोच्यमानो न प्रकरणमतिवर्त्तते, प्रकरणानतिवृत्तेः निर्णयानतिवर्त्तनम् ; समानच्चैतन्नित्यसाधर्म्येणोच्यमाने हेतौ, तदिदं प्रकरणा-

वैधर्म्याद्वैधर्म्यदर्शनात् ; यदि च कार्यत्वरूपविशेषदर्शनेऽपि संशयः, तदाऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गः संशयानुच्छेदप्रसङ्गः । न च तथाऽभ्युपगमं शक्यमित्याह, नित्यत्वेति । — सामान्यस्य समानधर्मदर्शनस्य, नित्यत्वानभ्युपगमात् नित्यसंशयजनकत्वानभ्युपगमात् ; तथा सति त्वदीयहेतुरपि न परपक्षप्रतिषेधकः स्यादिति भावः । सामान्यस्य गीत्वाऽऽदे-
नित्यत्वानभ्युपगमात् नित्यत्वानभ्युपगमप्रसङ्गात् ; तथापि साधारणधर्मसंज्ञेतत्वाऽऽदिना संशय एव स्यादिति केचित् ॥ १५ ॥

इति संशयसमप्रकरणम् ।

कसप्राप्तं प्रकरणसमं लक्षयति :—उभयसाधर्म्यात् शब्दसहचारावातिरेकसहचारावा, प्रक्रिया प्रकर्षेण क्रियासाधनं, विपर्येतसाधनमिति फलिताशङ्कः, तत्किञ्चिन्न पूर्वमेव सिद्धेः ; तथा चाधिकवृत्तेः शरीरपितृप्रमाणान्तरं बाधेन

नतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमः । समानञ्चैतद्वैधर्म्येऽपि ;
उभयवैधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसम इति ॥ १६ ॥

अस्योत्तरम्.—

प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः
प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १७ ॥

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धिं ब्रुवता प्रतिपक्षात् प्रक्रिया-
सिद्धिरुक्ता भवति, यद्युभयसाधर्म्यं, तत्रैकतरः प्रतिपक्ष
इति, एवं सत्युपपन्नः प्रतिपक्षा भवति, प्रतिपक्षोपपत्ते-
रनुपपन्नः प्रतिषेधः, यतः प्रतिपक्षोपपत्तिः प्रतिषेधोपपत्ति-
श्चेति, विप्रतिषिद्धमिति, तत्त्वानवधारणाच्च प्रक्रियासिद्धिः,
विपर्यये प्रकरणावसानात्, तत्त्वावधारणे ह्यवसितं प्रकरणं
भवतीति ॥ १७ ॥

वैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥

हेतुः साधनम् ; तत् साध्यात् पूर्वं पश्चात् सह वा भवेत् ?

प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमः ; यथा शब्दाऽनित्यः कृतकत्वादित्युक्ते नैतदेव, आवणत्वेन
नित्यत्वसाधकेन बाधात् । बाधदेशनाभासा चेद्यम् ॥ १६ ॥

अलोत्तरमाह ।—प्रतिपक्षाद्विपर्ययसाध्यसाधकत्वेनाभिमतान् आवणत्वाऽऽदितः,
प्रकरणसिद्धिद्वारा मदीयसाध्यस्य यः प्रतिषेधः त्वया क्रियते, तस्यानुपपत्तिः ;
कुतः ?—प्रतिपक्षोपपत्तेः त्वत्पक्षापेक्षया प्रतिपक्षस्य मदीयपक्षस्य, उपपत्तेः साधनात् ।
अयमाशयः,—आवणत्वेन पूर्वं नित्यत्वस्य साधनात् यो बाध उच्यते, स नापपद्यते,
पूर्वं साधितस्य बलवत्त्वाभावात् ; कदाचित् कृतकत्वेनानित्यत्वस्यापि पूर्वं साधनादिति
त्वत्पक्षप्रतिषेधोऽपि स्यात् ॥ १७ ॥

इति प्रकरणसमप्रकरणम् ।

कस्य प्राप्तमहेतुसमं लक्षयति ।—वैकाल्यं कार्यकालतत्पूवापरकालाः, तेन हेतोर-
सिद्धेः हेतुत्वासिद्धेः ; अयमर्थः,—दण्डाऽऽदिकं घटाऽऽदेनं पूर्ववर्तितया कारणम् ;
लदानौ घटाऽऽदेरभावात् कस्य कारणं स्यात् ? अत एव न घटाद्यन्तरकालवर्तितयाऽपि

यदि पूर्वं साधनम्, असति साध्ये कस्य साधनम् ? अथ पश्चात्,
असति साधने कस्येदं साध्यम् ? अथ युगपत् साध्यसाधने,
द्वयोर्विद्यमानयोः किं कस्य साधनम् ? किं कस्य साध्यम् ? इति
हेतुना न विशिष्यते ; अहेतुना साधर्म्यात् प्रत्यवस्थानमहेतु-
समः ॥ १८ ॥

अस्योत्तरम्,—

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्वैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥

न त्रैकाल्यासिद्धिः ; कस्मात् ?—हेतुतः साध्यसिद्धेः ।
निर्वर्तनीयस्य निर्वृत्तिः विज्ञेयस्य विज्ञानम् उभयं कारणतो
दृश्यते, सोऽयं महान् प्रत्यक्षविषय उदाहरणमिति । यत्तु
खलुक्तम् “असति साध्ये कस्य साधनम्” इति ?—यत्तु, निर्वर्त्यते,
यच्च विज्ञाप्यते, तस्येति ॥ १९ ॥

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥ २० ॥

पूर्वं पश्चात् युगपद्वा प्रतिषेध इति नोपपद्यते, प्रतिषेधानुप-
पत्तेः स्थापनाहेतुः सिद्ध इति ॥ २० ॥

न वा समानकालवर्त्तितया तुल्यकालवर्त्तिनोः सव्येतरविघ्नाण्योरिवाविनिगमनाऽऽपत्तेः
तथा च कालसम्बन्धखण्डनेनाहेतुतया प्रत्यवस्थानमहेतुसमः, कारणमात्रखण्डनेन
ज्ञातिहेतोरपि खण्डनाद् तदसङ्गः । प्रतिकूलतर्कदेशनाभासा चेयम् ॥ १८ ॥

अस्योत्तरमाह ।—त्रैकाल्यासिद्धिस्त्वैकाल्येन याऽसिद्धिरुक्ता, सा न ; कुतः ?—
हेतुतः साध्यसिद्धेः त्वयाऽप्यभ्युपगमात् ॥ १९ ॥

पूर्ववर्त्तितामात्रेणैव हेतुतासम्भवात्, अन्यथा त्वदीयहेतोरपि साध्यं न सिध्ये-
दित्याह ।—हेतुफलभावखण्डने प्रतिषेधस्याप्यनुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्यस्य परकीयहेतौर्न
प्रतिषेध इत्यर्थः ॥ २० ॥

इति अहेतुसमप्रकरणम् ।

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥ २१ ॥

अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरायकत्वादट्वादिति स्थापिते पक्षे अर्थापत्त्या प्रतिपक्षं साधयतां अर्थापत्तिसमः, यदि प्रयत्नानन्तरायकत्वादनित्यसाधर्म्यादनित्यः शब्द इति, अर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति ; अस्ति तु अस्य नित्येन साधर्म्यमस्पर्शत्वमिति ॥ २१ ॥

अस्योत्तरम्.—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानिरुपपत्तिरनुक्तत्वा-
दनैकान्तिकत्वाच्चार्यापत्तेः ॥ २२ ॥

अनुपपाद्य सामर्थ्येऽनुक्तमर्थादापद्यत इति ब्रुवतः पक्ष-
हानिरुपपत्तिः, अनुक्तत्वात् अनित्यपक्षसिद्धावर्थादापन्नं नित्य-
पक्षस्य हानिरिति, अनैकान्तिकत्वाच्चार्यापत्तेः ; उभयपक्षसमा-
चेयमर्थापत्तिः, यदि नित्यसाधर्म्यादस्पर्शत्वादाकाशवच्च नित्यः
शब्दः, अर्थादापन्नमनित्यसाधर्म्यात् प्रयत्नानन्तरायकत्वादनित्य
इति ; न चेयं विपर्ययमात्रादेकान्तेनार्थापत्तिः, न खलु वै

क्रमप्राप्तमर्थापत्तिसमं लक्षयति ।—अर्थापत्तिरर्थापत्त्याभासः ; तथा चार्थापत्त्या-
भासेन प्रतिपक्षसाधनाय प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमः ; अयमाशयः,—अर्थापत्तिर्हि
उक्तेनानुक्तमादिपत्तिः ; यथा शब्दोऽनित्य इत्युक्तेऽर्थादापद्य इत्यन्तं नित्यम् ; तथा च
दृष्टान्तासिद्धिः विरोधश्च । कृतकत्वादनित्य इत्युक्तेऽर्थादापन्नम् अन्यस्मादेतीवाधी-
स्यप्रतिपक्षो वा । अनुमानादनित्य इत्युक्ते प्रत्यक्षान्तिश्च इति च वाधः, विशेषविधेः
श्रुतिविषेधफलकत्वमित्यभिमानः । सर्वदोषदेशनाभासा चेयम् ॥ २१ ॥

अस्योत्तरम्.—किमुक्तेन अनुक्तं यत्किञ्चिद्वाधादापद्यते ?—उक्तोपपादकं वा ?
आद्ये,—तत्पक्षहानिरप्यापाद्यता, त्वयाऽनुक्तत्वात् ; अन्ये,—अस्या अर्थापत्तेरनैकान्ति-
कत्वम्, ऐकान्तिकत्वम् एकपक्षसाधकत्वं बलं, तन्नास्ति ; न हि अनित्य इत्यस्योपपादकं

अथ वायुः पतनमित्यर्थादापद्यते द्रवाभ्यां पतनभाव इति ॥ २२ ॥

एकधर्मीपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्
सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥ २३ ॥

एको धर्मः प्रयत्नान्तरीयकत्वं शब्दघटयोरेवमप्यत इत्य-
विशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते ; कथम् ?—
सद्भावोपपत्तेः ; एको धर्मः सद्भावः सर्वस्योपपद्यते, सद्भावोपपत्तेः
सर्वाविशेषप्रसङ्गात् प्रत्यवस्थानमविशेषसमः ॥ २३ ॥

अस्योत्तरम्,—

क्वचित्तद्वर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधा-
भावः ॥ २४ ॥

यथा साध्यदृष्टान्तयोरिकधर्मस्य प्रयत्नान्तरीयकत्वस्योप-

नित्यत्वमिति ; न हि विशेषविचिन्मात्रं शेषनिषेधकत्वकम्, अपि तु सति सामान्ये
क्वचित्, न हि नीलो घट इत्युक्ते सर्वमव्यदनीलमिति क्वचित् प्रतिषेधते ॥ २२ ॥

इति अर्थप्रतिसमप्रकरणम् ।

अविशेषसमं सत्यमिति ।—एकस्य धर्मस्य कृतकत्वाद्देः, शब्दे घटे चोपपत्तेः
सत्त्वान् ; यदि शब्दघटयोरनित्यत्वेनाविशेष सज्यते, तदा सर्वेषामविशेषप्रसङ्गः ;
कृतः ?—सद्भावोपपत्तेः (ब) सतः सत्त्वावस्य, ये भावधर्माः सत्त्वप्रमेयत्वाद्देः,
तन्नामुपपत्तेः सत्त्वान् ; तन्नां च सर्वेषामभेदे पक्षाद्भवविभाजः, सर्वेषामेक-
जातीयत्वेऽपान्तरात्पच्छेदः, सर्वेषामनित्यत्वे आत्मादिविषय इत्यादि । तथा च,
सत्त्वावस्यहृत्तिधर्मेणाविशेषाद्पादनमविशेषसम इति फलितम् । अथ चाविशेषसम इति
कृत्यविदेशः, सद्भावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्गादिति सत्यं, शेषं व्युत्पादकम् । प्रतिकूल-
तर्कदर्शनाभावात् शेषम् ॥ २३ ॥

अस्योत्तरमाह ।—वस्तुसंशय इती, धर्मो व्याप्यादिः, तस्य क्वचित् कृतकत्वाद्देः,

(॥) अष्टमः ।

न्या—२७

पक्षेऽनित्यत्वधर्मान्तरमविशेषः, न एवं सर्वभावानां सद्भावोप-
पत्तिनिमित्तं धर्मान्तरमस्ति, येनाविशेषः स्यात् ; अथ मतम्,
अनित्यत्वमेव धर्मान्तरं सद्भावोपपत्तिनिमित्तं भावानां सर्वत्र
स्यात्, इत्थं सत्तु वै कल्पमानि अनित्याः सर्वे भावाः सद्भावोप-
पत्तेरिति पक्षः प्राप्नोति ; तत्र प्रतिज्ञाऽर्थव्यतिरिक्तमन्यदुदाहरणं
नास्ति, अनुदाहरणस्य हेतुर्नास्तीति, प्रतिज्ञैकदेशस्य च
उदाहरणत्वमनुपपन्नम् ; न हि साध्यमुदाहरणं भवति, ततश्च
नित्यानित्यभावादनित्यनित्यत्वानुपपत्तिः ; तस्मात् सद्भावोप-
पत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्ग इति निरभिधेयमेतदाक्यमिति । सर्व-
भावानां सद्भावोपपत्तेरनित्यत्वमिति ब्रुवताऽनुज्ञातं शब्द-
स्थानित्यत्वं, तत्त्वानुपपन्नः प्रतिषेध इति ॥ २४ ॥

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

यद्यनित्यत्वकारणमुपपद्यते शब्दस्थेनित्यः शब्दः, नित्यत्व-
कारणमप्युपपद्यते अस्थाय्यशत्वम्, इति नित्यत्वमप्युपपद्यते ;
उभयस्थानित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थान-
मुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

उपपत्तेः सत्त्वात्, क्वचित् सत्त्वाऽऽदौ, अनुपपत्तेः अभावात्, तदुक्तस्य प्रतिषेधस्याभावो-
ऽसम्भव इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इति अविशेषसमप्रकरणम् ।

उपपत्तिसमं लक्षयति ।—उभयं पक्षप्रतिपक्षौ, तयोः कारणस्य प्रमाणस्य,
उपपत्तेः सत्त्वात् ; तथा च व्याप्तिमपूरकस्य यत्किञ्चिद्दर्मेण परपक्षदृष्टान्तेन स्वपक्ष-
साधनेन प्रत्यवस्थानम् उपपत्तिसमः ; यथा—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्युक्ते, यथा
त्वत्त्वोऽनित्यत्वे प्रमाणमस्ति, तथा मत्त्वोऽपि सप्रमाणकः, तत्त्वमन्वत्त्वान्यतरत्वात्
तत्त्वत्वं । तथा च बाधः प्रतिरीषो वा, तद्देशनाभावात् चेयम् ॥ २५ ॥

अस्योत्तरम्,—

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥

“उभयकारणोपपत्तेः” इति भुवता नानित्यत्वकारणाप्रपत्तेर-
नित्यत्वं प्रतिषिध्यते, यदि प्रतिषिध्यते, नोभयकारणोपपत्तिः
स्यात् ; उभयकारणोपपत्तिवचनादनित्यत्वकारणापत्तिरभ्यनु-
ज्ञायते, अभ्यनुज्ञानादनुपपन्नः प्रतिषेधः ; व्याघातात् प्रतिषेध
इति चेत् ?—समानो व्याघातः ; एकस्य नित्यत्वानित्यत्वप्रसङ्गं
व्याहतं भुवतोक्तः प्रतिषेध इति चेत् ?—स्वयमपरपक्षयोः
समानो व्याघातः, स च नैकतरस्य साधक इति ॥ २६ ॥

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥

निर्दिष्टप्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्वकारणस्याभावेऽपि
वायुनोदनात् वृक्षशाखाभङ्गजस्य शब्दस्यानित्यत्वमुपलभ्यते ;
निर्दिष्टस्य साधनस्याभावेऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थान-
मुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥

अस्योत्तरमाह ।—अयं तदुक्तप्रतिषेधो न सम्भवति ; कुतः ?—मन्त्रस्य उपपत्ति-
कारणस्य मन्त्रसाधकप्रमाणास्य, त्वयः अभ्यनुज्ञानात् ; त्वया हि मन्त्रस्य दृष्टान्ती-
करणेन सप्रमाणाकत्वमनुज्ञातम्, अतः कथं तत्रातिषेधः प्रकरोते कर्तुम् ? अनुज्ञात-
स्यापि प्रतिषेधे स्वपक्ष एव किं न प्रतिषिध्यते ? ॥ २६ ॥

इति उपपत्तिसमप्रकरणम् ।

उपलब्धिसमं लक्षयति ।—वादिना निर्दिष्टस्य कारणस्य साधनस्य, अभावेऽपि
साध्यस्योपलम्भात् प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसम इत्यर्थः ; तथा हि, पर्वतो वक्रिमान्
धूमादित्यादिकं वक्रप्रधारणायमुच्यते, न च तत् सम्भवति, धूमं विना आलोक-
ऽऽदितोऽपि वक्रिषिद्धेः ; तथा च न तस्य साधकत्वमिति प्रतिकूलतर्कः, न वा धूमा-
वक्रिमानेवैयवधारणं, द्रव्यत्वादेरपि धूमेन साधनात् ; न वा पर्वत एव वक्रिमाने
वेत्यादिकम् अवधारयितुं शक्यते, महानसादेरपि वक्रिमत्त्वात् ; अन्यथा दृष्टान्तासिद्धिः
स्यात् । एवं वक्रियून्पर्वतस्यापि सत्त्वादाय इत्यादि । तद्वैयव्याभासा चेद्यम् ॥ २७ ॥

अस्योत्तरम्,—

कारणान्तरादपि तद्वर्गीपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

प्रयत्नान्तरीयकत्वादिति ब्रुवता कारणत उत्पत्तिरभि-
धीयते, न कार्यस्य कारणनियमः ; यदि च कारणान्तरादप्युप-
पद्यमानस्य शब्दस्य तदनित्यत्वमुपपद्यते, किमत प्रतिषेध्यत
इति ? न प्रागुच्चारणात् विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः ;
कस्मात् ?—आवरणायानुपलब्धेः ; यथा विद्यमानस्योदकादेरर्थ-
स्याऽऽवरणादेरनुपलब्धिः ; नैवं शब्दस्याग्रहणकारणेनाऽऽवरणा-
ऽऽदिनाऽनुपलब्धिः, गृह्येत चैतदस्याग्रहणकारणमुदकाऽऽदिवत्,
न गृह्यते ; तस्मादुदकाऽऽदिविपरीतः शब्दोऽनुपलभ्यमान
इति ॥ २८ ॥

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विप-
रीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥ २९ ॥

तेषामावरणाऽऽदौनामनुपलब्धिर्नोपलभ्यते, अनुपलम्भात्

अन्योत्तरमाह ।—कारणान्तरात् साधनान्तरादालोकादितीऽपि, तस्य धर्मस्य
साध्यस्य, उपलब्धेस्तदुक्तः प्रतिषेधो न सम्भवति ; अयमाशयः,—न हि वयमव-
धारणायां वर्तमानां धूमादिव्यादिकं प्रयुक्तामहे, अपि तु सन्निध्यस्य वस्तेः सिद्धायेन ;
अन्वयात् अदुक्तगताधकतासाधनमपि न स्यात्, असाध्यकतासाधनान्तरस्यापि
सत्त्वात् ॥ २९ ॥

इति उपलब्धिसमप्रकरणम् ।

अनुपलब्धिसमं लक्षयति ।—तदपि चेयं द्वितीयाध्याये दर्शिता दूषिता च,
तच्चानुपलब्धिसमजातिः एवम्, इति तत्रानुतेरव क्रमप्राप्ताभिधीयते ; तत्रायं
क्रमः,—नेम्यधिकैतावच्छेदानित्यत्वमेव साध्यते, यदि शब्दो नित्यः स्यात्, उच्चारणात्
शब्दं कुतो नोपलभ्यते ? न हि कटाऽऽद्यावरणकुल्याऽऽदिवत्कटस्याऽऽवरणमिति,
तदनुपलब्धेर्मिति । तत्रैवं जातिबाधो प्रत्यवतिष्ठते,—यथावरणानुपलब्धेरवरणभाक्,

स्तीत्यभावोऽस्याः सिध्यति, अभावसिद्धौ हेत्वभावात् तद्विपरीत-
मस्ति त्वमावरणाऽऽदीनामवधार्यते, तद्विपरीतोपपत्तेर्यत् प्रति-
ज्ञातं,—“न प्रागुच्चारणद्वियमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः”
इत्येतच्च सिध्यति ; सोऽयं हेतुरावरणाद्यनुपलब्धेरित्यावरणा-
ऽऽदिषु चाऽऽवरणाद्यनुपलब्धौ च समयानुपलब्ध्या प्रत्यवस्थितो-
ऽनुपलब्धिसमो भवति ॥ २८ ॥

अस्योत्तरम्,—

अनुपलब्धाऽऽत्मकत्वादनूपलब्धेरहेतुः ॥ ३० ॥

आवरणाऽऽद्यनुपलब्धिर्नास्ति, अनुपलब्धात्, इत्यहेतुः ;
कस्मात् ?—अनुपलब्धाऽऽत्मकत्वादनूपलब्धेः उपलब्धाभावमात्र-
त्वादनूपलब्धेः ; यदस्ति, तदुपलब्धेर्विषयः, उपलब्ध्या तदस्तीति
प्रतिज्ञायते ; यन्नास्ति, तदनूपलब्धेर्विषयः, अनुपलब्धमानं
नास्तीति प्रतिज्ञायते ; सोऽयमावरणाऽऽद्यनुपलब्धेरनुपलब्धा-
भावोऽनुपलब्धौ स्वविषये प्रवर्तमानो न स्वविषयं प्रतिषेधाति ।
अप्रतिषिद्धा चाऽऽवरणाद्यनुपलब्धिर्हेतुत्वाय कल्पते, आवरणा-

सिध्यति, तदा आवरणाद्यनुपलब्धेरनुपलब्धादावरणाद्यनुपलब्धेरव्यभावः सिध्येत् ; तथा
चाऽऽवरणाद्यनुपलब्धिप्रत्यासक्त आवरणाभावो न स्यात्, अपि त्वावरणोपपत्तिरेव स्यात्,
इति शब्दनित्यन्तं गीतं बाधकं युक्तम् । न्वनुपलब्धेरनुपलब्ध्यावरणवैयर्थ्यात्
कथमेवम् ? इति चेत्, इत्थम् अनुपलब्धेरनुपलब्ध्यावरणवैयर्थ्ये स्वमेव
स्वस्ति अनुपलब्धिरूपेति वाच्यम् ; तथा च, तथैवानुपलब्ध्याऽनुपलब्धत्वसम्भवात्
तदभावसिद्धेः साऽऽत्मन्यनुपलब्धिरूपत्वाभावेऽनुपलब्धित्वमेव न स्यात् ; अनुप-
लब्धेरनुपलब्ध्यान्तरापेक्षेऽनवस्था न्यटेव । इत्यपेक्षरूपेण प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसम
इत्यर्थः । प्रतिकूलतर्कदेशनाभावात् चेष्टम् ॥ २९ ॥

अस्योत्तरमाह ।—अनुपलब्धिः आत्मन्यनुपलब्धिरिति ; कोऽर्थः ?—स्वमनुपलब्धि-
रूपेति चेत्, भवत्येव ; स्वविषयिण्यनुपलब्धिरिति चेत्, नेदं प्रसक्तम्, अनुपलब्धेरनुप-
लब्धाऽऽत्मकत्वात् उपलब्धाभावोऽऽत्मकत्वात्, अभावस्य च निर्विषयकत्वात् ।

ऽऽदौनि तु विद्यमानत्वादुपलब्धिविषयाः, तेषामुपलब्ध्या
भावेतव्यम् ; यत्तानि नोपलभ्यन्ते, तदुपलब्धेः स्वविषयप्रति-
पादिकाया अभावादनुपलब्धादनुपलब्धिविषयो मस्यते ; न
सन्त्वावरणाऽऽदौनि शब्दस्याग्रहणकारणानीति अनुपलब्धा-
दनुपलब्धेः सिध्यति, विषयः स तस्येति ॥ ३० ॥

ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाभावसंवेदना-

दध्यात्मम् ॥ ३१ ॥

अहेतुरिति अनुवर्तते । शरीरे शरीरेणां ज्ञानविकल्पानां
भावाभावो संवेदनोयौ,—अस्ति मे संशयज्ञानं, नास्ति मे संशय-
ज्ञानमिति ; एवं प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमस्मृतिज्ञानेषु सेयमावरणा-
ऽऽद्यनुपलब्धिरुपलब्धभावः त्वसंवेद्यः, नास्ति मे शब्दस्याऽऽव-
रणाऽऽद्यनुपलब्धिः, इति नोपलभ्यन्ते शब्दस्याग्रहणकारणा-
न्त्वावरणाऽऽदौनाति । तत्र यदुक्तं,—तदनुपलब्धेरनुपलब्धाद-
भावासाद्विरिति, एतन्नोपपद्यते ॥ ३१ ॥

त्वाऽऽत्मन्नुपलब्धित्वाभावेऽनुपलब्धित्वमेव कथमस्याः ? इति चेत्, कतमो विरोधः ?
न हि घटः स्वविषयो न भवतीति, नायं घटः आवरणाभावः ; कथमनुपलब्धिविषयः ?
इति चेत्, क एवमाह ? किन्नुपलब्धिरुपलब्धेरेन्द्रियसत्त्वात्तदनुपलब्धिराह
इत्युपच्यते, अतः “तदनुपलब्धेरनुपलब्धात्” इत्यादिकमहेतुः ; अन्यथा तत्त्वाधनमपि
दोषानुपलब्धेरनुपलब्धात् सदोषमेव स्यादिति ॥ ३० ॥

नन्नुपलब्धेः स्वस्मिन्ननुपलब्धित्वाभावेऽनुपलब्धिरपि केन सिध्येत् ? अत आह ।—
अध्यात्मम् आत्मव्यधि, ज्ञानविकल्पानां ज्ञानविशेषाणां, भावाभावयोर्मनसा संवेदनात् ;
‘घटं साक्षात्करोमि, वज्रमनुमिमीमि, नानुमिमीमि’ इत्येवं ज्ञानविशेष-तदभावानां
जन्यैव सुखदुःखादिति भावः ॥ ३१ ॥

इति अनुपलब्धिसप्तप्रकरणम् ।

साधर्म्यात् तुल्यधर्मीपपत्तेः सर्वानित्यत्व-
प्रसङ्गादनित्यसमः ॥ ३२ ॥

अनित्येन घटेन साधर्म्यादनित्यः शब्द इति ब्रुवतः, अस्ति
घटेनानित्येन सर्वभावानं साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यत्वम-
निष्टं सम्पद्यते ; साध्यमनित्यत्वेन प्रत्यवस्थानादनित्यसम
इति ॥ ३२ ॥

अस्योत्तरम्,—

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्य-
साधर्म्याच्च ॥ ३३ ॥

प्रतिज्ञाऽऽद्यवयवयुक्तं वाक्यं पक्षनिवर्तकं प्रतिपक्षलक्षणं
प्रतिषेधः, तस्य पक्षेण प्रतिषेध्येन साधर्म्यं प्रतिज्ञाऽऽदयोगः,

अनित्यसमं लक्षयति ।—यदि दृष्टान्तघटसाधर्म्यात् कृतकत्वात् तेन सह तुल्य-
धर्मतोपपद्यते, इत्यतः शब्दऽनित्यत्वं साध्यतः, तदा सर्वस्यैवानित्यत्वं स्यात्, सत्त्वाऽऽदि-
रूपसाधर्म्यसम्भवात् ; न चेदमर्थान्तरयत्नमिति वाच्यं, सर्वस्यानित्यत्वे व्यातिरेका-
यद्वादनुमानदूषणे तात्पर्यात्, परस्यान्यव्यतिरेकिण एवानुमानत्वादित्याशयः ; तथा
च, व्याप्तिमपूरकस्य यत्किञ्चिद्दृष्टान्तसाधर्म्येण सर्वस्य साध्यवत्त्वाऽऽपादनमनित्यसमा ;
साध्यपदादविशेषसमातो व्यवच्छेदः, तत्र सर्वाविशेष एवाऽऽपाद्यते, न तु सर्वस्य साध्य-
वत्त्वम् । यत्तु अनित्यत्वेन समाऽनित्यसमेति भावप्रधानो निर्देशः, तथा च अन्वर्थलक्षणेन
लक्षणमिति, तत्र ; वज्रिमान् धूमादित्यादौ महानससाधर्म्यात् सत्त्वात्सर्वस्य वज्रिमत्त्वं
स्यात्, इत्यस्य नान्यन्तरत्वाऽऽपत्तेः । आचार्यास्तु,—“साधर्म्यं वैधर्म्यस्याप्युपलक्षकम् ;
यथाऽऽकाशवैधर्म्यात् कृतकत्वाच्छब्दाऽनित्यः, तथाऽऽकाशवैधर्म्यादाकाशभिन्नत्वाऽऽदितः
सर्वमेवानित्यं स्यात् ; इत्यस्य लक्षणे यत्किञ्चिद्धर्मणेत्येव वाच्यम्” इत्याहुः । अत्र च
वैधर्म्यस्य विपक्षावृत्तित्वात् सर्वस्य साध्यवत्त्वाऽऽपादनं, किन्वात्माऽऽदौनाम अनित्यत्वं
स्यादिति ; तत्र चार्थान्तरमित्यवधेयम् । प्रतिकूलतर्कदंशनाभासा चेदम् ॥ ३२ ॥

अत्रोत्तरमाह ।—यदि यत्किञ्चित्साधर्म्यात् सर्वस्य साध्यवत्त्वमापादयतस्तत्र
साधर्म्यस्यासाधकत्वमभिनतं, तदा तत्कृतप्रतिषेधस्याप्यसिद्धिः, तस्यापि प्रतिषेध्यः

तत् यद्यनित्यसाधर्म्यादनित्यत्वस्यासिद्धिः, साधर्म्यादसिद्धोः
प्रतिषेधस्याप्यसिद्धिः, प्रतिषेधेन साधर्म्यादिति ॥ ३३ ॥

दृष्टान्तं च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य
धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः ॥ ३४ ॥

दृष्टान्ते यः सत्तु धर्मः साध्यसाधनभावेन प्रज्ञायते, स
हेतुत्वेनाभिधीयते ; स चोभयथा भवति,—केनचित् समानः,
कुतश्चिद्विशिष्टः, सामान्यात् साधर्म्यं, विशेषाच्च वैधर्म्यम् ;
एवं साधर्म्यविशेषो हेतुः, नाविशेषेण साधर्म्यमात्रं वैधर्म्य-
मात्रं वा ; साधर्म्यमात्रं वैधर्म्यमात्रं चाऽऽश्रित्य भवानाह,—
“साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः” इति ;
एतदयुक्तमिति ; अविशेषसमप्रतिषेधे च यदुक्तं, तदपि
वेदितव्यम् ॥ ३४ ॥

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्य-
समः ॥ ३५ ॥

अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञायते, तदनित्यत्वं किं शब्दे

साधर्म्येकं प्रकृतत्वात् ; तत्रा ख्येन साध्यते, कृतकत्वं न साधकं, दृष्टान्तसाधर्म्यरूपत्वात्
सत्त्वऽऽदिवत् ; अत्र च तदीयहेतुस्त्वमतिषेधेन नदीयहेतुना कृतकत्वेन सत्त्वेन च सह
साधर्म्यरूपः, तथा चायमपि न साधकः स्यात् ॥ ३६ ॥

अदि च साधर्म्यमात्रं न साधकम्, अपि तु व्याप्तिरहितनित्यभिमतं, तदा कृतकत्वे
नदिति, न तु सत्त्व इति विशेष इत्याह ।—साध्यसाधनभावेन व्याप्यव्यापकभावेन,
दृष्टान्ते प्रज्ञातस्य प्रमितस्य, धर्मस्य कृतकत्वस्य, हेतुत्वात् साधकत्वात्, तस्य हेतुत्वस्य,
समवयवा चान्येन व्यतिरेकेण च, भावात् नदीयहेतौ सत्त्वात्, सत्त्वऽऽदिनाऽविशेष
इति यदुक्तं, तन्न भवति ॥ ३७ ॥

इत्यनित्यसमप्रकरणम् ।

नित्यसमं चक्षवति ।—अनित्यस्य भावः अनित्यत्वं, तस्य नित्यं सर्वकालं, स्वीकारे

नित्यम् ? अथानित्यम् ? यदि तावत् सदा भवति, धर्मस्य सदाभावाद्धर्मस्योऽपि सदाभाव इति नित्यः शब्द इति ; अथ न सर्वदा भवति, अनित्यत्वस्याभावान्नित्यः शब्दः । एवं नित्यत्वेन प्रत्यवस्थानान्नित्यसमः ॥ ३५ ॥

अस्योत्तरम्,—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्य-
त्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥

प्रतिषेध्ये शब्दे नित्य(त्व)मनित्यत्वस्य भावादित्युच्यमाने-
ऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वम्, अनित्यत्वोपपत्तेश्च नानित्यः शब्द-
इति प्रतिषेधो नोपपद्यते ; अथ नाभ्युपगम्यते नित्य(त्व)मनित्य-
त्वस्य भावादिति हेतुर्न भवतीति हेत्वभावात् प्रतिषेधानुप-
पत्तिरिति । उत्पन्नस्य निरोधादभावः शब्दस्यानित्यत्वम् ;
तत्र परिप्रश्नानुपपत्तिः ; सोऽयं प्रश्नः,—तदा नित्यत्वं किं शब्दे
सर्वदा भवति ? अथ न ? इत्यनुपपन्नः ; कस्मात् ?—उत्पन्नस्य

अनित्ये शब्दे, नित्यत्वं स्यादित्यापादनं नित्यसमा ; अयमाशयः,—अनित्यत्वस्य नित्यत्वम-
स्वीकारेऽनित्यत्वाभावदशायां तस्यानित्यत्वम् ; न तस्यापि नित्यत्वाऽऽपत्तिः । न हि दण्डा-
भावदशायां दण्डोलुप्तेन, अतोऽनित्यत्वस्य नित्यत्वमेव स्वीकार इत्यभ्युपगन्तव्यम् ; तथा
च शब्दस्यापि नित्यत्वाऽऽपत्तिः, तेन बाधः सत्प्रतिपक्षी वा, तद्देशनाभावा चेयम् ;
एवमनित्यत्वं यदि नित्यं, कथं शब्दस्यानित्यतां कुर्यात् ? न हि रक्तं महारजनं
परस्य नीलतां सन्नादयति ; अथानित्यं, तदा तदभावदशायां अनित्यत्वं न स्यादि-
त्यादिकमूढम् ; एतदनुसारेण लक्षणमपि कार्यमित्याचार्याः । वयन्तु,—अनित्यस्य
भावो धर्मः, तस्य नित्यमभ्युपगमेऽनित्यत्वेनाभ्युपगतस्य नित्यत्वं स्यात् ; यथा चितिः
सकर्तृका, इत्यत्र अनित्यचित्तेर्धर्मः सकर्तृकत्वं त्वया चितौ नित्यमुपेयते न वा ? न
चेत्, तदा साध्याभावादञ्जतो बाधः ; अथ चितौ नित्यमेव सकर्तृकत्वं, तदा विरुद्धम् ;
तद्देशनाभावा चेयमिति ब्रूमः ॥ ३५ ॥

अधोत्तरमाह ।—प्रतिषेध्ये नित्यशब्दे, सर्वदा अनित्यभावात् अनित्यत्वात्, अनित्ये

यो निरोधादभावः, शब्दस्य तदनित्यत्वम् ; एवञ्च सत्यधिकरणा-
ऽऽधेयविभागो व्याघातात्नास्तीति, नित्यानित्यविरोधाच्च नित्यत्वम्-
नित्यत्वं चैकस्य धर्मिणो धर्मो विरुध्येत, न सम्भवतः, तत्र यदुक्तं,—
नित्यमनित्यत्वस्य भावान्नित्य एव, तदवर्त्तमानार्थमुक्तमिति ॥ ३६ ॥

प्रयत्नकार्यानि कत्वात्कार्यसमः ॥ ३७ ॥

प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यः शब्द इति ; यस्य प्रयत्नानन्त-
रमात्मलाभः, तत् खल्वभूत्वा भवति ; यथा घटाऽऽदिकार्यम् ;
अनित्यमिति च भूत्वा न भवतीत्येतद्विज्ञायते ; एवमवस्थिते
प्रयत्नकार्यानि कत्वादिति प्रतिषेध उच्यते, प्रयत्नानन्तरमात्म-
लाभश्च दृष्टो घटाऽऽदीनां, व्यवधानापोहाच्चाभिव्यक्तिर्व्यवहितानां,
तत् किं प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्य ?—आहोऽभिव्यक्तिः ?
इति विशेषो नास्ति । कार्यविशेषेण प्रत्यवस्थानं कार्यसमः ॥ ३७ ॥

शब्दे, अनित्यत्वमुपपद्यते ; न हि सम्भवति अनित्यत्वं नित्यमिति, यद्यपि तन्नित्यमिति
व्याघातात् ; न च नित्यमिति सर्वकालमित्यर्थः, तथा च शब्दस्यानित्यत्वे कथं सर्वकाल-
मनित्यत्वसम्बन्धः ? इति वाच्यं, सर्वकालमित्यस्य व्यावहारिकनित्यत्वात् ; अतः तत्कृतः
प्रतिषेधो न सम्भवति । मतान्तरे तु,—अनित्यत्वेऽनित्यत्वोपपत्तेरुक्तोक्त्या चः प्रतिषेधः
कृतः, स न सम्भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

इति नित्यसमप्रकरणम् ।

कार्यसमं लक्षयति ।—प्रयत्नकार्यस्य प्रयत्नसम्पादनौघस्य, अनेकत्वात् अनेक-
विषयत्वात् ; अयमर्थः,—शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते, प्रयत्नानन्तरीयकत्वं
प्रयत्नकार्ये घटाऽऽदी प्रयत्नानन्तरोपलभ्यमाने कौलकादावपि दृष्टम् ; तत्र द्वितीयं न
तत्त्वान्वयसाधकम्, आद्यन्तु अविज्ञम् ; तथा च, सामान्यत उक्तहेतोरनभिमतविशेष-
निराकरणेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमम् । अखिद्वेदशनाभासा चेन्नम् । अथवा,—प्रयत्न-
कार्याणां प्रयत्नकर्त्तव्यानां, कर्त्तव्यप्रयत्नानामिति यावत्, तादृशानाम् अनेकविधत्वादुक्ता-
व्यस्य व्याघातकमुत्तरं कार्यसमा ; तथा चास्या आकृतिगणत्वात् सूत्रानुदर्शितानामपि
परिग्रहः, यथा तत्पक्षे किञ्चिद्वृषणं भविष्यतीति श्रुता पिशाचीसमा कार्यकारण-
भावस्योपकारनिश्चयत्वेऽनवस्थेयमुपकारसमा इत्यादि ॥ ३७ ॥

अस्योत्तरम्,—

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोप-
पत्तेः ॥ ३८ ॥

सति कार्यान्यत्वे अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः प्रयत्नस्याहेतुत्व-
शब्दस्याभिव्यक्त्यै, यत्र प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिः, तत्रानुपलब्धि-
कारणं व्यवधानमुपपद्यते, व्यवधानापोहाच्च प्रयत्नानन्तर-
भाविनोऽर्थस्योपलब्धिलक्षणाभिव्यक्तिर्भवतीति ; न तु शब्दस्या-
नुपलब्धिकारणं किञ्चिदुपपद्यते, यस्य प्रयत्नानन्तरमपोहा-
च्छब्दस्योपलब्धिलक्षणाभिव्यक्तिर्भवतीति ; तस्मादुत्पद्यते शब्दः,
नाभिव्यज्यत इति ॥ ३८ ॥

हेतोश्चेदनैकान्तिकत्वमुपपद्यते, अनेकान्तिकत्वादसाधकः
स्यात् इति ; यदि चानैकान्तिकत्वादसाधकत्वम्,—

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥

प्रतिषेधोऽप्यनैकान्तिकः ; किञ्चित् प्रतिषेधति, किञ्चिन्नेति
अनेकान्तिकत्वादसाधक इति । अथवा शब्दस्यानित्यत्वपक्षे
प्रयत्नानन्तरमुत्पादः, नाभिव्यक्तिरिति विशेषहेत्वभावः ;

अस्योत्तरम् ।—शब्दस्य कार्यान्यत्वेऽकार्यात्वे, प्रयत्नस्य कर्तृप्रयत्नस्य, अहेतुत्वम्
कारणत्वम्, इदञ्च तदा स्यात्, यद्यनुपलब्धिकारणमावरणाऽऽदिकमुपपद्यते, न च
तच्छब्देऽकार्यत्वः ; आक्षेपितगणपक्षे तु,—कार्याणां जातौनास्, अतएव नानाविधत्वे,
इदमुत्तरम् ;—प्रयत्नस्य त्वदौघदूषणप्रयत्नस्य, अहेतुत्वम् असाधकतासाधकत्वाभावः,
उपलब्धेः कारणस्य प्रमाणस्य निर्दोषवाक्यस्य, या उपपत्तिः निर्दोषवाक्याधीनांपादयन्,
तदभावात् तदवाक्यस्य स्वपक्षव्याप्तातकत्वादित्यर्थः ॥ ३९ ॥

इति कार्यसमप्रकरणम् ।

एवं तावज्जातिवादिनं प्रति सर्वत्र सदुत्तरैरेवोद्धारः कार्य इत्याभिहितं, तत्र
निर्णयविजयफलकत्वं कथायां सम्पद्यते ; असदुत्तरोद्भावे तु बन्धुः संप्रयोगवशाभि-
सूत्रफलादिद्विरिति श्रुत्यादितुं कथाभासरूपां वदपक्षौ शिष्यशिक्षार्थे प्रदृश्यति ।—

नित्यत्वपक्षेऽपि प्रयत्नावन्तरमभिव्यक्तिः नोत्पाद इति विशेष-
हेत्वभावः ; सोऽयमुभयपक्षसम्प्रो विशेषहेत्वभाव इत्युभयमप्य-
नैकान्तिकत्वमिति ॥ ३९ ॥

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥

सर्वेषु साधस्यप्रभृतिषु प्रतिषेधहेतुषु यत्र विशेषो दृश्यते,
तत्रोभयोः पक्षयोः समः प्रमज्यत इति ॥ ४० ॥

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥

योऽयं प्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वमापाद्यते,
सोऽयं प्रतिषेधस्य प्रतिषेधेऽपि समानः ; तत्रानित्यः शब्दः
प्रयत्नावन्तरौयकत्वादिति साधनवादिनः स्थापना प्रथमः
पक्षः ; “प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः” इति दूषणवादिनः
प्रतिषेधहेतुना द्वितीयः पक्षः, स च प्रतिषेध इत्युच्यते ;

प्रयत्नावन्तरौयकत्वं न शब्दो नित्यत्वं साधयति, अनैकान्तिकत्वादिति यो दोषः, स
तत्पक्षेऽपि तुल्यः, प्रयत्नाभिव्यक्तत्वस्याप्यसाधकत्वात् ; अथवा, — अनैकान्तिकत्वाद-
साधक इति त्वया प्रतिषेधः कृतः, तत्राप्ययं दोषः समानः, न ह्यनैकान्तिकत्वं
सर्वत्रैवासाधकत्वं साधयति, सर्वत्रैवासाधकत्वासाधनत्वात् ॥ ३९ ॥

सर्वे मतावुक्ता किं कार्यसमायानेव ? चेत्वाह । — एवंविधमसदुक्तं सर्वत्रैव
जातो सम्भवतीत्यर्थः ; यथा शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यत्र नित्याऽऽकाशसाधस्याद-
मूर्त्तत्वाङ्गित्वः स्यात्, इति साधकसमाधानं आकाशसाधस्याङ्गित्वे आकाशवच्छब्दे
परममङ्गलं सादित्युक्तं समा ; एवमन्वताधुना । यद्यप्यवमतिदेशः षट्पक्ष्यनन्तरमेव
कर्तुमुचितः, तथाऽपि विप्रच्यादिकमपि सूचयितुमवैवाक्यः ; उभयानुज्ञत्वबोधफला हि
षट्पक्षी, विप्रच्यादावपि तरङ्गकत्वं तुल्यनिवि भावः ; तर्हि विप्रच्यामेव
मध्यस्थेन पञ्चतुयीज्योपिचक्ष्योद्भावे कषासमानौ कृतः षट्पक्षी ? इति चेत्, पुंसां
स्फुरणवैचित्र्यं तत्सम्भवात् ॥ ४० ॥

तुल्यत्वविरोधी विप्रतिषेधः ; तथा च प्रतिषेधस्य यो विप्रतिषेधः तत्र, प्रतिषेध-
दोषवद्दोष इत्यर्थः ; तथा हि, शब्दोऽनित्यः प्रयत्नावन्तरौयकत्वादिति स्थापनाः

तस्यास्य "प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः" इति द्वितीयः पक्षो विप्रति-
षेधः उच्यते ; तस्मिन् प्रतिषेधविप्रतिषेधेऽपि समानो दोषो-
ऽनैकान्तिकत्वं चतुर्थः पक्षः ॥ ४१ ॥

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे
समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ ४२ ॥

प्रतिषेधं द्वितीयं पक्षं सदोषमभ्युपेत्य तदुद्धारमनुज्ञा-
ऽनुज्ञाय प्रतिषेधविप्रतिषेधे द्वितीये पक्षे समानमनैकान्ति-
कत्वमिति समानं दूषणं प्रसज्यतो दूषणवादिनो मतानुज्ञा
प्रसज्यत इति पञ्चमः पक्षः ॥ ४२ ॥

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे
परपक्षदोषाभ्युपगमात् समानो दोष इति ॥ ४३ ॥

स्थापनापक्षे प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति दोषः स्थापना-
हेतुवादिनः स्वपक्षलक्षणो भवति ; कस्मात् ?—स्वपक्षसमुत्प-
त्वात् ; तस्यैव स्वपक्षलक्षणं दोषमपेक्षमाणोऽनुद्धानुज्ञाव
प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इत्युपपद्यमानं दोषं परपक्ष उप-
संहरति ; इत्थं वाऽनैकान्तिकः प्रतिषेध इति हेतुं निर्दिशति ;
तत्र स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपद्यमानदोषोपसंहारे हेतुनिर्देशे च
मत्त्यनेन परपक्षोऽभ्युपगतो भवति ; कथं ज्ञत्वा ?—यः परेण,—

वादिनः प्रथमः पक्षः । "प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः" इति प्रतिवादिनो द्वितीयः
पक्षः । प्रतिषेधेऽप्यनैकान्तिकत्वं तुल्यमिति वादिनस्तृतीयः पक्षः । योऽर्थः विप्रति-
षेधः, तत्रापि तपैवानैकान्तिकत्वं तत्समानदोषोद्धारनं वा चतुर्थः पक्षः ॥ ४१ ॥

पक्षसं पक्षमाह ।—प्रतिषेधं द्वितीयं पक्षं सदोषमभ्युपेत्य तत्र मदुक्तं दोष-
मनुद्ध्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे सदोषपक्षे द्वितीये समानं दोषं प्रसज्यतस्त्वव मतानुज्ञा-
ज्ञासकं निगृह्यमानमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

प्रथमं पक्षमाह ।—अपक्षः स्थापनारूपः प्रथमः पक्षः, तं लक्ष्यित्य प्रवृत्ती

“प्रयत्नकार्यानेकत्वात्” इत्यादिनाऽनैकान्तिकदोष उक्तः, तम-
 नुवृत्त्य “प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः” इत्याह; एवं स्थापनां
 सदोषामभ्युपेत्य प्रतिषेधेऽपि समानं दोषं प्रसज्यतः परपक्षा-
 भ्युपगमात् समानो दोषो भवति ; यथा परस्य प्रतिषेधं सदाश-
 मभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधेऽपि समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा
 प्रसज्यते, तथाऽस्यापि स्थापनां सदोषामभ्युपेत्य प्रतिषेधेऽपि
 समानं दोषं प्रसज्यतो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति ; स खल्वयं
 षष्ठः पक्षः । तत्र खलु स्थापनाहेतुवादिनः प्रथमद्वितीयपञ्चम-
 पक्षाः, प्रतिषेधहेतुवादिनो द्वितीयचतुर्थषष्ठपक्षाः, तेषां
 साध्यसाधुतायां मीमांस्यमानायां चतुर्थषष्ठयोरविशेषात् पुन-
 रक्तदोषप्रसङ्गः । चतुर्थपक्षे समानदोषत्वं परस्योच्यते प्रतिषेध-
 विप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोष इति । षष्ठेऽपि परपक्षाभ्युपगमात्
 समानो दोष इति समानदोषत्वमेवोच्यते, नार्थविशेषः कश्चि-
 दस्ति ; समानस्तृतीयपञ्चमयोः पुनरक्तदोषप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे-
 ऽपि प्रतिषेधेऽपि समाना दोष इति समानत्वमभ्युपगम्यते ।
 पञ्चमपक्षेऽपि प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गाभ्युपगम्यते,
 नार्थविशेषः कश्चिदुच्यत इति ; तत्र पञ्चमषष्ठपक्षयोरर्थविशेषात्
 पुनरक्तदोषः, द्वितीयचतुर्थयोर्मतानुज्ञा, प्रथमद्वितीययोर्विशेष-
 हेत्वभाव इति ; षट्पक्ष्यामुभयोरसिद्धिः । कदा षट्पक्षो ?—
 यदा प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इत्येवं प्रवर्तते, तदोभयोः
 पक्षयोरसिद्धिः ; यदा तु,—“कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुप-
 लब्धिकारणोपपत्तेः” इत्यनेन द्वितीयपक्षो युज्यते, तदा विशेष-

द्वितीयपक्षः स्वपक्षलक्ष्यः, तस्यापेक्षा समाहरः, तत्र दोषानुज्ञावन्नमिति फलितार्थः ;
 तथा च मदीयपक्षे दोषमनुज्ञायां स्वपक्षोपपादनं कर्तुं यस्त्वया हेतुनिर्दिष्टः ;
 “प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः” इति वदतः तत्रापि मतानुज्ञा वृत्तेवेत्यर्थः ; तदेवं षट्-

हेतुवचनात् प्रयत्नान्तरमात्मलाभः शब्दस्य, नाभिव्यक्तिरिति सिद्धः (हे) प्रथमपक्षः (छ) न षट्पक्षो प्रवर्तत इति ॥ ४३ ॥
इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमाध्यायस्याऽऽद्यमाह्निकम् ।

पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।

“विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पाच्चिदहस्यानबहुत्वम्” इति सङ्क्षेपेणोक्तं, तदिदानीं विभजनोपपत्तिः । निग्रहस्थानानि खलु पराजयवस्तून्पराधाधिकरणानि प्रायेण प्रतिज्ञाऽऽद्यवयवाऽऽश्रयाणि तत्त्ववादिनमतत्त्ववादिनश्चाभिसंग्रवन्ते, तेषां विभागः ।—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञाऽन्तरं प्रतिज्ञाविरोधः
प्रातज्ञासंश्रयो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकम-
विज्ञातार्थमपार्थक्यमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्त-
मननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा
पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगाऽपसिद्धान्तो
हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥ १ ॥

तानीमानि द्वाविंशतिधा विभज्य लक्ष्यन्ते ॥ १ ॥

पक्षानुभोगव्युत्पत्तिवादिलादर्थसिद्धिः, यदि तु स्थापनाविरोधो जातिवादिनं सदुत्तरैरेव दूषयति, तदा षट्पक्षो न प्रवर्तत इति ॥ ४१ ॥

इति कथाभाषप्रकरणम् ।

इति श्रीविश्वनाथभट्टाचार्यकृतायां न्यायसूत्रवृत्तौ पञ्चमाध्यायस्याऽऽद्यमाह्निकम् ॥ २ ॥

अपेक्षानीं निग्रहस्थानविशेषलक्षणविधानं, तदेव चाऽऽह्निकार्थः, सम चेह प्रकरणानि, तच्च चाऽऽद्यं प्रतिज्ञाहेत्वन्तराऽऽश्रयत निग्रहस्थानपक्षविशेषलक्षण-
प्रकरणम्, अन्यानि च यथास्थानं वक्ष्यन्ते । तत्र विशेषलक्षणार्थमादौ विभज्यते ।—

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा खट्वन्तो प्रतिज्ञा- हानिः ॥ २ ॥

साध्यधर्मप्रत्ययनौकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मं
खट्वन्तोऽभ्यनुज्ञानम् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः ;
निदर्शनम्,—ऐन्द्रियकत्वादित्यः शब्दो घटवदिति कृते, अपर
आह,—दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्यं नित्यं, कस्माच्च तथा
शब्दे ? इति प्रत्यवस्थिते, इदमाह,—यद्यैन्द्रियकं सामान्यं
नित्यं, कामं घटो नित्योऽस्त्विति, स खल्वयं साधकस्य
दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसक्तयज्जिगत्सनास्तमेव पक्षं जहाति,
पक्षं जहत् प्रतिज्ञां जहातांस्तुच्यते, प्रतिज्ञाऽऽप्यवस्थात्
वक्ष्येति ॥ २ ॥

अथ चत्सर्वे, तेन एतानि तु निषेधस्यानानि, न पुनरपकाराऽऽदिनाऽननुभाषणादिकं,
न वा कर्तृति संवरणेन तिरीहितं च पाणीत्यर्थो लभ्यत इति प्राचः ; नन्यस्तु
पकारोऽनुक्तसमुच्चये, तेन दृष्टान्ते साधनवैकल्याऽऽदीनां परिषदः ॥ २ ॥

तत्र क्रमेण प्रतिज्ञाहान्यादीनां लक्षणेषु वक्तव्येषु प्रथमोऽदृष्टां प्रतिज्ञाहानिं
लक्षयति ।—प्रतिकूलो दृष्टान्तो यत्र स प्रतिदृष्टान्तः परपक्षः ; स्वः स्वीयः दृष्टान्तो
यत्र स खट्वन्तः स्वपक्षः ; तत्र च स्वपक्षे परपक्षधर्माभ्यनुज्ञा प्रतिज्ञाहानिः,
स्वयं विप्रियाभिहितपरित्याग इति फलितार्थः । सिद्धांस्तु स्वयं विप्रिया नाभि-
धीयत इति आपदिज्ञानसाध्यम् । सेवं पक्षहेतुदृष्टान्तसमन्वितद्वयहानिमेदात्
पक्षधा भवति ; यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्युक्ते, प्रत्यभिज्ञया कश्चितविषयोऽयं
नित्यतरिते, अस्तु तर्हि घट एव पक्ष इति ; एवं तमेव ऐन्द्रियकत्वादिति हेतो-
रनेकान्तिकत्वमिति प्रत्युक्ते, अस्तु कृतकत्वादिति हेतुरिति ; एवं पूर्वतोऽपक्रियाम्
धृमात् अयोगोक्तवदित्युक्ते, दृष्टान्तः साधनविकल्प इति प्रत्युक्ते, अस्तु तर्हि महानस-
वदिति ; एवम् अन्येन सिद्धसाधने च प्रत्युक्ते, अस्तु तर्हि इत्यनवधानिति । चत्सर्वानिस्तु
विशेषणहान्यादिः ; यथा तमेव नौलधृमादित्युक्ते, असमवेतिप्रसङ्गेन प्रत्युक्ते, अस्तु
तर्हि धृमादिति हेतुरित्यादि ॥ २ ॥

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थ-
निर्देशः प्रतिज्ञाऽन्तरम् ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञातार्थोऽनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वात् घटवदित्युक्तः।
थोऽस्य प्रतिषेधः प्रतिदृष्टान्तेन हेतुव्यभिचारः सामान्यमैन्द्रियक
नित्यमिति, तस्मिंश्च प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पादिति,
दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयोः साधस्ययोगे धर्मभेदात् सामान्यमैन्द्रियक
सर्वगतम्, ऐन्द्रियकस्त्वसर्वगतो घट इति धर्मविकल्पात् ; तदर्थं
निर्देश इति साध्यसिद्ध्यर्थम् ; कथम् ?—यथा घटाऽसर्वगतः,
एवं शब्दोऽप्यसर्वगतो घटवदेवानित्य इति ; तत्रानित्यः शब्द
इति पूर्वा प्रतिज्ञा, असर्वगत इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा-
ऽन्तरं, तत् कथं निग्रहस्थानमिति ? न प्रतिज्ञायाः
साधनं प्रतिज्ञाऽन्तरं, किन्तु हेतुदृष्टान्तौ साधनं प्रति-
ज्ञायाः, तदेतदसाधनोपादानमनर्थकमिति आनर्थक्यान्निग्रह-
स्थानमिति ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञाऽन्तरं लक्षयति ।—प्रतिज्ञातस्यार्थस्य प्रतिषेधे कृते तद्वृषणीद्विधीर्बन्धा
धर्मस्य धर्मान्तरस्य, विशिष्टः कस्यो विकल्पः, तस्याद्विशेषणान्तरविशिष्टतया प्रतिज्ञा-
तार्थस्य कथनमिति फलितार्थः ; प्रतिषेध इत्यनेन भट्टिति संवरणे विलम्बेनाप-
स्य दूषण विभाष्य विशेषणे न दोष इत्युक्तम् ; प्रतिज्ञातार्थस्येत्युपलक्षणं हेतुति-
रिक्तार्थस्येति तत्त्वम् ; तेन उदाहरणान्तरमुपमयान्तरञ्च प्रतिज्ञाऽन्तरत्वेन सङ्गृहीतं
भवति । इदञ्च पक्षसाध्यविशेषणभेदात् प्रत्येकं द्विविधम् ; यथा शब्दो नित्य इत्युक्ते, ध्वनौ
बाधेन परेण प्रत्युक्ते, वर्णाऽऽत्मकः शब्दः पक्ष इति प्रतिज्ञाऽन्तरम् ; न चेदमर्थान्तरं,
प्रकृतोपयोगात् ; न चेत् प्रतिज्ञाहानिः, पूर्वोक्तस्यापरित्यागात् ; एवं पर्वतो वज्रिमान्
गुरभिमलिनधूमवत्त्वादित्युक्ते, अममशंविशेषणत्वेन च परेण प्रत्युक्ते, कृष्णं सुदप्रभं-
वज्रिमानित्यत्र ; एवं तादृशवज्रौ साध्ये यः सुरभिमलिनधूमवान्, स वज्रिमा-
नित्युदाहरणे, न्यूनत्वेन प्रत्युक्ते, स तादृशवज्रिमानित्यत्र ; एवमन्यदप्युक्तम् ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥

गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा, रूपाऽऽदितोऽर्थान्तर-
स्यानुपलब्धिरिति हेतुः ; सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः कथम् ?
यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं, रूपाऽऽदिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिर्नोप-
पद्यते ; अथ रूपाऽऽदिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, गुणव्यतिरिक्तं
द्रव्यमिति नोपपद्यते, गुणव्यतिरिक्तञ्च द्रव्यं रूपाऽऽदभ्यश्चार्था-
न्तरस्यानुपलब्धिरिति विरुध्यते व्याहन्यते न सम्भवतीति ॥ ४ ॥

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासञ्चासः ॥ ५ ॥

अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते, परो ब्रूयात्,—सामान्य-
मैन्द्रियकं, न च अनित्यम्, एवं शब्दोऽप्येन्द्रियकः, न चानित्य
इति ; एवं प्रतिषेधे पक्षे यदि ब्रूयात्,—कः पुनराह अनित्यः
शब्द इति, सोऽयं प्रतिज्ञातार्थनिष्ठवः प्रतिज्ञासञ्चास इति ॥ ५ ॥

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषेधे विशेषमिच्छतो

हेत्वन्तरम् ॥ ६ ॥

निदर्शनम्.—एकप्रकृतौदं व्यक्तमिति प्रतिज्ञा ; कस्मा-

प्रतिज्ञाविरोधं लक्षयति ।—अथ च प्रतिज्ञाहेतुपदे कथाजालीनवाक्यपरि ;
तथा च कथायां स्ववचनार्थविरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ; यद्यपि काञ्चनमवः पर्वतो
वर्जितान्, पर्वतः काञ्चनमयवर्जितान्, ऋदो वर्जितान्, ऋदत्वात् ; पर्वतो वर्जितान्,
काञ्चनमयधूमादित्यादौ हेत्वाभासान्तरसाङ्ग्यम् ; तथाऽप्युपधेयसङ्करेऽपि उपाधिर-
साङ्ग्यान् दीप्तः, न चासङ्कोर्णस्यलाभावः ; पर्वतो वर्जितान् धूमात्, यो यो धूमवान्,
स निरग्निरित्युदाहरणे, निरग्निरित्यनित्यपनये च तत्सत्त्वात् ; एवं निगमनेऽपि
बोध्यम् ॥ ४ ॥

प्रतिज्ञासञ्चासं लक्षयति ।—पक्षस्य स्वाभिहितस्य, परेण प्रतिषेधे कृते सति
तत्परिनिहोषया प्रतिज्ञातार्थस्यापनयनमपत्ताप इत्यर्थः ; यथा शब्दोऽनित्य ऐन्द्रियकत्वा-
दित्युक्ते, सामान्ये व्यभिचारिण परेण प्रत्युक्ते, क एवमाह शब्दोऽनित्य इति ॥ ५ ॥

हेत्वन्तरं लक्षयति ।—अथ च हेत्वावित्यनेन हेत्ववयवाभा न विवक्षितः, अपि

हेतोः ?—एकप्रकृतौनां विकाराणां परिमाणात् ; सृत्पूर्वकाणां शरावाऽऽदौनां दृष्टं परिमाणम् ; यावान् प्रकृतव्यूहो भवति, तावान् विकार इति, दृष्टञ्च प्रतिविकारं परिमाणम्, अस्ति चेदं परिमाणं प्रतिव्यक्तं, तदेकप्रकृतौनां विकाराणां परिमाणात् पश्यामो व्यक्तमिदमेकप्रकृतौति । अस्य व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानं, नानाप्रकृतौनामेकप्रकृतौनाञ्च विकाराणां दृष्टं परिमाणमिति ; एवं प्रत्यवस्थित आह,—एकप्रकृतिसमन्वये सति शरावाऽऽदिविकाराणां परिमाणदर्शनात् ; सुखदुःखमोहसमन्वितं ह्येदं व्यक्तं परिमितं गृह्यते, तत्र प्रकृत्यन्तररूपसमन्वयाभावे सत्येकप्रकृतित्वमिति, तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं भवति, सति च हेत्वन्तरभावे पूर्वस्य हेतोरसाधकत्वान्निग्रहस्थानम् ; हेत्वन्तरवचने सति यदि हेत्वर्थनिदर्शनो दृष्टान्त उपादीयते, नेदं व्यक्तमेकप्रकृतिकं भवति, प्रकृत्यन्तरोपादानात् ; अथ नोपादीयते, दृष्टान्ते हेत्वर्थस्यानिदर्शितस्य साधकभावानुपपत्तेरानर्थक्याहेतोरनिवृत्तं निग्रहस्थानमिति ॥ ६ ॥

नु साधकांशः ; स च हेत्ववयवस्य उदाहरणादिस्थो वा, अविशेषोक्त इति पूर्वोक्त इत्यर्थः, विशेषमिच्छत इति साभिप्रायम् ; तेन परोक्तदूषणोद्दिष्टोपेया तत्रैव हेतौ विशेषणान्तरपक्षेपोऽन्यहेतुकरणं वा हयमपि हेत्वन्तरम् ; तत्र, च परोक्तदूषणोद्दिष्टोपेया पूर्वोक्तहेतुताऽवच्छेदकातिरिक्तहेतुताऽवच्छेदकांशविशेषवचनं हेत्वन्तरम् ; हेतौ विशेषणदान एव हेत्वन्तरमिति प्राञ्चः ; पूर्वोक्तं हेत्ववयवे उदाहरणाऽऽदौ वा, यथा शब्दाऽनित्यः वास्तुन्द्रियप्रत्यक्षत्वादित्युक्ते, सामान्येऽनैकान्तिकत्वेन च प्रत्युक्ते, सामान्यवत्त्वे सतीति विशेषणम् ; एव विशिष्टहेतुमुक्ता यत् वास्तुन्द्रियप्रत्यक्षं, तदनित्यमित्युदाहरणे, न्यूनत्वेन प्रत्युक्ते विशिष्टोक्तौ ; एवमुपनयविशेषणोऽपि ॥ ६ ॥

समाप्तं प्रतिज्ञाहेत्वन्तराऽऽश्रितनिग्रहपक्षकावशेषलक्षणप्रकरणम् ।

प्रकृतादर्यादप्रतिसम्बद्धार्यमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥

यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयात्, नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति हेतुः, हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनिप्रत्यये कदन्तपदम्; पदञ्च नामाऽऽख्यातोपसर्गनिपाताः, अभिधेयस्य क्रियाऽन्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम, क्रियाकारकसमुदायः, कारकसङ्ख्याविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधाय्याख्यातम्; धात्वर्थमात्रञ्च कालाभिधानविशिष्टम्; योगेष्वर्यादभिद्यमानरूपा निपाताः, उपसृज्यमानाः क्रियाऽवद्योतका उपसर्गा इत्येवमादि, तदर्थान्तरं वेदितव्यमिति ॥ ७ ॥

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥

यथा नित्यः शब्दः कचटतपाः जवगडदशत्वात् भ्रमञ् घटधर्षवादिति, एवं प्रकारं निरर्थकम्, अभिधानाभिधेयभावानुपपत्तौ अर्थगतरभावात् वर्णा एव क्रमेण निर्दिश्यन्त इति ॥ ८ ॥

अर्थान्तरं लक्षयति ।—प्रकृतात् प्रकृतोपयुक्तात्, ल्यङ्लोपे पञ्चमी । तेन प्रकृतोपयुक्तमर्थमुपेत्यासम्बद्धानांभिधानम् अर्थान्तरं प्रकृतानांकाङ्क्षिनाभिधानमिति फलितार्थः; यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्युक्ता, शब्दो गुणः, स चाऽऽकाशस्थेत्यादि ॥ ७ ॥

निरर्थकं लक्षयति ।—वर्णानां क्रमेण निर्देशो जवगडेत्यादिप्रयोगः, तत्तुल्यो निर्देशो निरर्थकं निषङ्गस्थानम्, अवाचकपदप्रयोगः इति फलितार्थः; वाचकत्वं शक्त्वा निरुद्धलक्षणया शास्त्रपरिभाषया वा बोध्यम्; समयवन्व्यतिरेकेणेति विशेषणीयम्; तेन यत्रापभङ्गेन विचारः कर्त्तव्य इति समयवन्वः, तत्रापभङ्गे न दोषः, भट्टिति संबन्धे तु न दोष इत्युक्तप्रादम्; अस्य सम्भवः प्रसादादित्यवधेयम् ॥ ८ ॥

परिषत्प्रतिवादिभ्यां विरभिहितमप्यविज्ञात- मविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥

यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च (भ) विरभिहितमपि न विज्ञायते, श्लिष्टशब्दमप्रतोतप्रयोगमतिद्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन, तदविज्ञातमविज्ञातार्थमसामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानम् ॥ ९ ॥

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बन्धार्थमपार्थक्यम् ॥ १० ॥

यत्तानेकस्य पदस्य वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्तीत्यसम्बन्धार्थकत्वं गृह्यते, तत्समुदायोऽर्थस्याध्यायादपार्थ-

कविज्ञातार्थं लक्षयति ।—विरभिहितं, वादिनेति शेषः ; विरभिधानं चान्व-
धानाऽऽदिनाऽबोधनिरासाय ; परिषत्प्रतिवाद्यन्यतरेण विज्ञाते तु नाविज्ञातार्थमिति भावः ; तथा च अबहिताविकल्पव्युत्पन्नपरिषत्प्रतिवादिबोधानुकूलोपस्थित्यजनकवाचक-
वाक्यप्रयोगोऽविज्ञातार्थमिति ; वाचकेत्यनेन निरर्थकापार्थक्यमुदासः । अथ च परा-
ज्ञानाऽऽपादनेन समं जयो भविष्यतीति अनादुक्तिसम्भवः । न च यथाकर्षाच्चत्परो जेतव्य-
व्युत्पन्नानाऽऽपादनं न्यायमेवेति वाच्यम् ; तथा सति भङ्गकाले परमदूर्वोपयत्किञ्चिदभि-
धानेनैव सर्वं जयसम्भवात्, एतस्य वेधा सम्भवः, —असाधारणतन्त्रमावप्रसिद्धम् ; यथा
पञ्चस्कन्धाऽऽदयो बौद्धानाम् ; तत्र रूपाऽऽदयः पञ्चेन्द्रियाणि च रूपस्कन्धः, सविकल्पकं
संज्ञास्कन्धः, रागद्वेषाभिनिवेशाः संस्कारस्कन्धः, सुखदुःखे वेदनास्कन्धः, निर्विकल्पकं
ज्ञानस्कन्धः । द्वितीयम् —अतिप्रसक्तयोममनपेक्षितरुद्धिकम् ; यथा कश्चपतन्यधृतिहेतु-
रयं विनयनसमाननामधेयवान् तत्केतुमत्त्वादित्यादि । तृतीयं—श्लिष्टम् ; यथा श्वेती
धावतीत्यादि । एवम् अतिद्रुतोच्चारिताऽऽदिकमपैति भाष्यम् । अथ नाऽऽयस्य सम्भवः
उभयतन्त्राभिज्ञमध्यस्थे सति, उभयतन्त्राभिज्ञयोरेक विचारसम्भवादिति चेत् ? सत्यम् ;
तथाऽपि यव नैयायिकमीमांसकयोर्विचारोऽन्यतरो बौद्धतन्त्राऽऽदिपरिभाषया वदति,
तत्र निग्रह इत्याशयः ; तवापि चेत् यथा कदाचित् परिभाषयोक्तमिति परः प्रीत्या
वदति, न तत्राऽऽयस्योपादानमिति ; उत्तरयोस्तु सर्वथेवेति ॥ ९ ॥

अपार्थक्यं लक्षयति ।—पौर्वापर्यं काव्यकारणभावः, तथायोगादसम्भवात्,

(भ) वादिनेति शेषः ।

कम् ; यथा दश दाडिमानि षड्पूपाः कुण्डमजाजिनं पलल-
पिण्डः, अथ रौक्कमेतत् कुमार्याः पाथ्यं तस्याः पिता अप्रति-
शेन इति ॥ १० ॥

अवयवविपर्य्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञाऽऽदौनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः,
तत्रावयवविपर्य्यासेन वचनमप्राप्तकालमसम्बन्धार्थकालं निग्रह-
स्थानमिति ॥ ११ ॥

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ॥

प्रतिज्ञाऽऽदौनामवयवानामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं
निग्रहस्थानं, साधनाभावे साध्यासिद्धिरिति ॥ १२ ॥

शब्दबोधजनकाऽऽकाङ्क्षाज्ञानाऽऽश्रयादिति फलितायः, अप्रतिसम्बन्धाऽसम्बन्धः, अथ
प्रयोजनं शब्दवाधरूपं यत् ; यद्यपि दशदाडिमानि, षड्पूपाः, कुण्डमजाजिनमित्या-
दाववान्तरवाक्यादर्थबोधसत्त्वादव्याप्तिरतिव्याप्तिश्च निरर्थकं, तथाऽप्यभिमतवाक्या-
धीधानकृताऽऽकाङ्क्षाऽऽदिशून्बोधजनकपदत्वं तत्, अविज्ञातार्थं तु स्वस्य बोधो
भवत्येवेति नातिव्याप्तिः ; उदाहरणन्तु अयोग्यानासन्नानाकाङ्क्षावाक्यम् ॥ १० ॥

समाप्तमभिमतवाक्याप्रतिपादकनिग्रहस्थानचतुष्टयप्रकरणम् ।

अप्राप्तकालं लक्षयति ।—अवयवस्य कथैकदेशस्य, विपर्य्यासी वेपरौल्यम् ; तथा
च, समयवन्धविषयीभूतकथाक्रमविपर्य्यासक्रमेणाभिधानं पथ्यवसन्नम् ; तत्रायं क्रमः,—
वादिना साधनमुक्ता सामान्यतो हेत्वाभासा उद्धरणौघा इत्येकः पादः, प्रतिवादिनश्च
तत्रोपासन्धो द्वितीयः पादः, प्रतिवादिनः स्वपक्षसाधनं तत्र हेत्वाभासीद्धरणश्चेति
तृतीयः पादः, जयपराजयव्यवस्था चतुर्थः पादः ; एवं प्रतिज्ञाहेत्वादीनां क्रमः,—तत्र
समाप्तीभ्यामीहाऽऽदिना व्यत्यस्ताभिधानमप्राप्तकालमिति ॥ ११ ॥

न्यूनं लक्षयति ।—अवयवेन स्वशास्त्रसिद्धेन, तेन सीगतस्य द्वावयवाभिधानेऽपि न
न्यूनत्वम् । नन्ववयवहीनत्वम् अवयवत्वावच्छिन्नाभावः ; तथा चाकथनमेव स्यात्, अत
आह, अन्यतमेनापीति ।—तथा च यत्किञ्चिदवयवशून्यावयवाभिधानं फलितम् । न
चायमपसिद्धान्तः, सिद्धान्तविरुद्धानभ्युपगमात्, अपि तु समाप्तीभाऽऽदिनाऽनभि-
धानात् ॥ १२ ॥

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥ १३ ॥

एकेन कृतत्वादन्यतरस्याऽऽनर्थक्यमिति ; तदेतन्नियमाभ्युप-
गमे वेदितव्यमिति ॥ १३ ॥

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यवानुवादात् ॥ १४ ॥

अन्यवानुवादात् शब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तं वा ; नित्यः शब्दो
नित्यः शब्द इति शब्दपुनरुक्तम्, अर्थपुनरुक्तम्,—अनित्यः शब्दो
निराधर्मको ध्यान इति ॥ १४ ॥

अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोप-
पत्तेः ॥ १५ ॥

यथा हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति ॥ १५ ॥

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १६ ॥

पुनरुक्तमिति प्रकृतम् । निदर्शनम्,—उत्पत्तिधर्मकत्वाद-

र्थाधिकं लक्षयति ।—हेतूदाहरणेत्यपलक्षणं दूषणाद्यधिकमपि बाध्यम् ; तथा च
कृतकत्वं व्यापुनरुक्ताभिधानमिति फलितम् ; अनुवादस्तु न कृतकत्वं, साभिप्राय-
त्वात्, प्रतिज्ञाऽऽधिक्यञ्च पुनरुक्तम् ; धृमादालोकात् महानसवच्चत्वरवदित्यादिकन्तु
विना समयवन्धं दाव्याऽऽदिभमादुक्ततधिकम् ; यथा महानसं महानसवदिति तु
ताधिकं, किन्तु पुनरुक्तम् ॥ १३ ॥

समानं स्वमिहानुवादात्प्रयोगाऽऽभासनिग्रहस्थानतिकप्रकरणम् ।

पुनरुक्तं लक्षयति ।—पुनर्वचनं पुनरुक्तं, तस्य विभागाद्यं शब्दाशयोरिति तेन
शब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तञ्च लक्ष्यते । अनुवादेऽतिव्याप्तिवारणायानुवादादिति
अनुवादान्त्यले सतीत्यर्थः । निष्प्रयोजनं पुनरभिधानं हि पुनरुक्तम्, अनुवादस्तु व्याख्या-
रूपः सप्रयोजनक एवेति भावः ; तथा च समानार्थक-पूर्वाऽऽनुपूर्वीक शब्दप्रयोगः
शब्दपुनरुक्तः समानार्थकभिन्नाऽऽनुपूर्वीक-शब्दस्य निष्प्रयोजनं पुनरभिधानमर्थपुनरुक्तम् ;
आयं यथा,—घटो घट इति ; द्वितीयं यथा,—घटः कजस इति, एतस्य प्रमादा-
ऽऽदिना सम्भवः ॥ १४ ॥

पुनरुक्तप्रभेदान्तरमाह ।—पुनरुक्तमित्यनुवर्त्तते । यन्निवृत्ते यस्यायंस्वीत्यर्गिकौ

नित्यमित्युक्ता अर्थादापन्नस्य योऽभिधायकः शब्दः, तेन स्वशब्देन
ब्रूयादनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमिति ; तच्च पुनरुक्तं वेदितव्यम् ।
अर्थसम्प्रत्ययार्थे शब्दप्रयोगे प्रतीतः सोऽर्थोऽर्थापत्त्येति ॥ १६ ॥

**विज्ञातस्य परिषदा त्विरभिहितस्याप्यनुच्चारण-
मननुभाषणम् ॥ १७ ॥**

विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्विरभि-
हितस्य यदप्रत्युच्चारणं, तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति ;
अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात् ? ॥ १७ ॥

अविज्ञातश्चाज्ञानम् ॥ १८ ॥

विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्विरभिहितस्य यद-

प्रतिपत्तिर्भवति, तस्य तेन रूपेण पुनरभिधानं पुनरुक्तम् ; इदमेव च अर्थपुनरुक्तमिति
मीयते ; यथा वज्रिरूप इति पूर्वपदाऽऽक्षिप्तोक्तिरियम्, उत्थो वज्रिरिति उत्तरपदा-
ऽऽक्षिप्तोक्तिः ; एवं वहिरस्ति गेहे नास्तीति विध्याक्षिप्तोक्तिः, जीवन् गेहे नास्ति
वहिरस्तीति निषेधाऽऽक्षिप्तोक्तिः, पुनरुक्तवैविध्यक्षेदं भाष्याऽऽदिसम्यक्तम् । अन्ये तु,—
“शब्दपुनरुक्तं द्विविधं, तस्यैव शब्दस्य पुनरभिधानं पर्यायेणाभिधानम्, अन्यत् पुनरर्थ-
पुनरुक्तम्” इत्याहुः ॥ १६ ॥

अननुभाषणं लक्षयति ।—परिषदा विज्ञातस्य विशिष्य बुद्ध्यर्थस्य, वादिना
त्विरभिहितस्य ; तथा च, प्रथमवचनेऽननुभाषणे वादिना त्वारच्यं वाक्यमिति
दर्शितम् ; तथा च त्विरभिधानेऽपि यवानुभाषणवितोषी व्यापारः, तत्राननुभाषणं
निग्रहस्थानमित्यर्थः । अज्ञान-साङ्ख्यनिरासायाज्ञानमनाविष्णुवन्तेति, विस्मयसाङ्ख्य-
निरासाय कशामविच्छिन्द्येति च विशेषणीयमित्याचार्याः । न चाप्रतिभासाङ्ख्यम्,
उत्तरप्रतिपत्तावपि सभाषीभाऽऽदिनाऽननुभाषणसम्भवात् ; तदिदं चतुर्धा,—
एकदेशानुवादादिपरीतानुवादात् केवलदूषणोक्ता लक्ष्मण चेति । सर्वतामपदेनानु-
वादात् पञ्चममित्याचार्याः । कश्चिदज्ञानाप्रतिभाऽननुभाषणसाङ्ख्यं यद्विधेत्तुं शक्यते,
तदेवोक्तव्यम् ॥ १७ ॥

अज्ञानं लक्षयति ।—भावे ज्ञः । अकारश्च परिषदा विज्ञातस्येत्याद्यनुवर्णपार्थः ;

विज्ञानं, तदज्ञानं निग्रहस्यानमिति । अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति ? ॥ १८ ॥

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १९ ॥

परपक्षप्रतिषेधः उत्तरं, तत् यदा न प्रतिपद्यते, तदा निगृहीतो भवति ॥ १९ ॥

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ २० ॥

यत्र कर्तव्यं व्यासज्य कथां व्यवच्छिनत्ति,—इदं मे करणीयं विद्यते, तस्मिन्नवसिते कथयिष्यामि, इति विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम् । एकनिग्रहावसानायां कथायां स्वयमेव कथाऽन्तरं प्रतिपद्यत इति ॥ २० ॥

तथा च परिषदा विज्ञातस्य वादिना त्रिरभिहितस्याप्यविज्ञानमित्यर्थः । इदञ्च किं वदसि, बुध्यत एव, नेत्यर्थाऽऽविष्कारणेन ज्ञातुं शक्यत इति ॥ १८ ॥

अप्रतिभां लक्षयति ।—उत्तरार्हेण परोक्तं बुद्धाऽपि यदीत्तरसमये उत्तरं न प्रतिपाद्यते, तत्राप्रतिभा निग्रहस्थानम् ; न चानाननुभाषणस्याऽऽवश्यकत्वात् तदेव दूषणमस्त्विति वाच्यं, परोक्ताननुवादे हि तत् ; यत्र परोक्तमनूयापि नोत्तरं प्रतिपद्यते, तत्रासाङ्ग्यात् ; स्वसूचनश्लोकपाठाद्युन्नेया चेयम् ॥ १९ ॥

विक्षेपं लक्षयति ।—कार्यव्यासङ्गात्कार्यव्यासङ्गमुद्भाव्येत्यर्थः । लघ्वक्षोपे पञ्चमी । कार्यव्यासङ्गश्चासम्भवत्कालान्तरकत्वेनाऽऽरोपितः ; तेन तादृशकथाविच्छेदो विक्षेपः ; तेन राजपुरुषाऽऽदिभिराकारणे गृहजनाऽऽदिभिर्वाऽऽवश्यककार्यान्माकारणे स्वगृहदाहाऽऽदिकं पश्यती गमने वा शिरोरोगाऽऽदिना प्रतिबन्धे वा न विक्षेपः । ननु कार्यव्यासङ्गोद्भावनं कुतः ?—सभाक्षोभाऽऽदिना चेत्, अननुभाषणमेव ; उत्तराप्रतिपत्त्या चेत्, अप्रतिभैवेति चेत्, न ; उत्तरावसराभावात् । वस्तुतस्तत्तरस्फूर्तावपि तद्दूषणसम्भावनया विक्षेपसम्भवात् ; यथा,—“चित्तिः सकर्तृको कार्यत्वात्” इत्युक्तम् ; अत्रादुरे व्यभिचारत्वावन्मया उद्भाव्यः, तत्र चेत्यं पक्षसमत्वं ब्रूयात्, तदा मे किमुत्तरम् ? अतोऽव महार्णवलिखितं मया च विचारितं किञ्चित् कार्यमुद्भाव्य गृहे तत्तो दृश्यत इत्येवं विक्षेपसम्भवात् ॥ २० ॥

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो
मतानुज्ञा ॥ २१ ॥

यः परेण चोदितं दोषं स्वपक्षेऽभ्युपगमस्यानुवृत्त्यं वदति,—
भवत्यक्षे समान दोष इति ; स स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात्परपक्षे
दोषं प्रसज्यन् पर-मतमनुजानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रह-
स्थानमापद्यत इति ॥ २१ ॥

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥ २२ ॥

पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनोयः, तस्योपेक्षणं
निग्रहस्थानं प्राप्तोऽसीत्यननुयोगः ; एतच्च कस्य पराजयः ?
इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयम् ; न खलु निग्रहं प्राप्तः
स्वकौपीनं विवृणुयादिति ॥ २२ ॥

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनु-
योज्यानुयोगः ॥ २३ ॥

निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्याऽध्यवसायादनिग्रहस्थाने निग्रह-

मतानुज्ञां लक्षयति ।—दोषाभ्युपगमात् दोषमनुवृत्त्येत्यर्थः, यथा शब्दो नित्यः
आवृणुतादित्युक्ते, ध्वनावनेकालिकत्वेन हेत्वाभासोऽयमित्युक्तौ, शब्दोऽनित्यः कृतकत्वा-
दिति साधिते, ध्वनेरपि पक्षसमत्वान्न दोष इत्युक्तौ, असिद्धत्वात् तत्रापि हेत्वाभासो-
ऽयमित्युक्तौ, सोऽयं मतानुज्ञया निरुद्धः स्यात्, अप्रतिषिद्धमनुमतं भवतीति
स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् ॥ २१ ॥

पर्यनुयोज्योपेक्षणं लक्षयति ।—निग्रहस्थानं प्राप्तवतीऽनिग्रहः निग्रहस्थानानुज्ञावन-
मित्यर्थः । यत्र त्वनेकनिग्रहस्थानप्राप्ते एकतरोद्भावनं, तत्र न पर्यनुयोज्योपेक्षणावसरः,
निग्रहस्थानोद्भावनत्वावच्छिन्नाभावस्यैव तत्वात् । ननु वादिना कथमिदमुद्भाव्यं,
स्वकौपीनविवरणस्यायुक्तत्वादिति चेत् ?—सत्यम् ; मध्यस्थेनैवेदमुद्भाव्यं, वादं च
स्वयमुद्भावनेऽप्यदोषः ॥ २२ ॥

निरनुयोज्यानुयोगं लक्षयति ।—अवसरे यथाशक्तिनिग्रहस्थानोद्भावनातिरिक्तं
यत्, निग्रहस्थानोद्भावनं तदित्यर्थः ; एतेनानवसरे निग्रहस्थानोद्भावने एकनिग्रहस्थाने

हीतोऽसीति परं ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगान्निष्ठहीतो वेदि-
तव्य इति ॥ २३ ॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽप-
सिद्धान्तः ॥ २४ ॥

कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्यया-
दनियमात् कथां प्रसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः ; यथा न
सदात्मानं जहाति, न सतो विनाशः, नासदात्मानं लभते,
नासदुत्पद्यत इति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति,
एकप्रकृतौदं व्यक्तं, विकाराणामन्वयदर्शनात्, मृदन्वितानां
शरावाऽऽदीनां दृष्टमेकप्रकृतिकत्वम् ; तथा चायं व्यक्तभेदः सुख-
दुःखमोहान्वितो दृश्यते, तस्मात् समन्वयदर्शनात् सुखाऽऽदिभि-
रेकप्रकृतौदं शरीरमिति ; एवमुक्तवाननुयुज्यते,—अथ प्रकृति-
विकार इति कथं लक्षितव्यमिति ? यस्यावस्थितस्य धर्मान्तर-
निवृत्तौ धर्मान्तरं प्रवर्तते, सा प्रकृतिः ; यच्च धर्मान्तरं प्रवर्तते,
स विकार इति ; सोऽयं प्रतिज्ञातार्थविपर्ययादनियमात्

नियहस्यानात्यरीहावने च नातिव्याप्तिः । सोऽयं षतुर्धा,—कृत्वा जातिराभासोऽनवसर-
ग्रहणश्च ; आभासो व्यभिचारादावसिद्धाद्युद्भावनम्, अनवसरग्रहणश्चाकाले
एवोद्भावनम् ; यथा त्यक्त्यसि चेत् प्रतिज्ञाहानिः, विशेष्यसि चेत् हेत्वन्तरम् ;
एवमवसरमतीत्य कथनमपि ; यथा उच्यमानयाज्ञस्यापशब्दाऽऽदेः परिसमाप्तौ ;
एवमनुक्तयाज्ञाज्ञानाद्यमनुभाषणावसरेऽनुद्भाव्य बीधाऽऽविकरणानुभाषणप्रवृत्ते वादिनि
तदुद्भावनमित्यादिकमूल्याम् ॥ २५ ॥

अपसिद्धान्तं लक्षयति ।—सिद्धान्तं स्वशास्त्रकाराभ्युपगतमर्थं, स्वीकृत्य अनियमात्
तन्निग्रयमप्रच्यवार्त्तं, कथाप्रसङ्ग इति ; तथा च, कथायां स्वीकृतसिद्धान्तप्रच्यवोऽप-
सिद्धान्तः ; तथा च, साङ्ख्यमतेनाहं वदिष्यामीत्यभ्युपेत्याऽऽरब्धायां कथायाम्
आविर्भावस्याऽऽविर्भावभ्युपगमेऽनवस्थेति दूषणाद्वारायाऽऽविर्भावस्यासत्तः उत्पत्तिं
यद्यभ्युपेति, तदाऽपसिद्धान्तः ; यस्त्वेकदेशमतेन कथामारभते, तस्य शास्त्रकाराभ्युप-

कथां प्रसञ्जयति, प्रतिज्ञातं खल्वनेन नासदाविर्भवति, न सत्
तिरोभवतीति, सदसतोश्च तिरोभावाऽऽविर्भावमन्तरेण न कस्यचित्
प्रवृत्तिः प्रवृत्त्युपरमश्च भवति, नृदि खल्ववस्थितायां भविष्यति
शरावाऽऽदिलक्षणं धर्मान्तरमिति प्रवृत्तिर्भवति, अभूदिति च
प्रवृत्त्युपरमः, तदेतन्मृद्धर्माणामपि न स्यात्; एवं प्रत्यवस्थितो यदि
सतश्चाऽऽत्मज्ञानमसतश्चाऽऽत्मलाभमभ्युपैति, तदस्यापसिद्धान्तो
नियहस्थानं भवति, अथ नाभ्युपैति, पक्षोऽस्य न सिध्यति ॥ २४ ॥

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २५ ॥

हेत्वाभासाश्च नियहस्थानानि ; किं पुनर्लक्षणान्तरयोगात्
हेत्वाभासाः नियहस्थानत्वमापन्नाः ; यथा प्रमाणानि प्रमेयत्वम् ?
इत्यत आह, यथोक्ता इति ।—हेत्वाभासलक्षणेनेव नियह-
स्थानभाव इति । त इमे प्रमाणाऽऽदयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिताः
परीक्षिताश्चेति ॥ २५ ॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयाऽऽङ्गिकम् ।

समाप्तश्चायं पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

गमविरोधे नापसिद्धान्त इति विमोक्षयितुमभ्युपेक्षेत्युक्तम् ; सौगतास्त्वपसिद्धान्तं दृष्ट्वा न
सन्त्यन्त इत्यन्यदेतत् ॥ २४ ॥

तन्मप्र सहेत्वाभासलक्षणे वक्तव्ये तदकथनबीजमाह ।—च पुनरर्थे, हेत्वाभासा-
पुनर्वशा येन रूपेण, पूर्वमुक्ताः, तेनैव रूपेण तेषां नियहस्थानत्वमिति, न लक्षणान्तर
मपेक्षितमिति । अथ चकारस्य दृष्टान्ते साधनवैकल्याऽऽदिसमुच्चायकत्वमिति केचित्त
तत्र ; यथोक्ता इत्यस्यानन्वयाऽऽपत्तिरिति ॥ २५ ॥

समाप्तं नियहस्थानविशेषलक्षणम् ।

समाप्तं पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयाऽऽङ्गिकम् ।

एषा मुनिप्रवरगातममूववृत्तिः श्रीविश्वनाथकृतिना सुगमाऽऽख्यवर्णा ।

श्रीकृष्णचन्द्रचरणास्तु जचक्षुरी कशीमच्छिरोमणिवचःप्रसूयैरकारि ।

इति श्रीमहामहोपाध्यायश्रीविद्यानिवासभट्टाचार्याऽऽत्मजश्रीविश्वनाथ-

भट्टाचार्यकृतायां न्यायसूत्रहत्तौ पञ्चमोऽध्यायः ।

समाप्तश्चेदं शास्त्रम् ।

